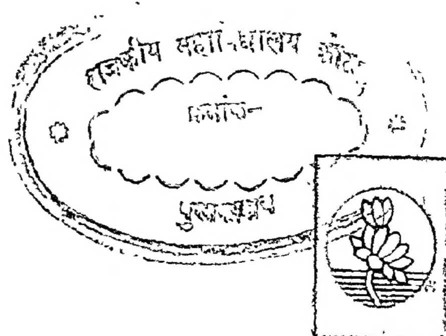
पुनश्च

[सातवें दशक की नयी हिन्दी कविता के संदर्भ में]

डॉ० हरिचरण शर्मा
एम. ए. पीएच. डी.
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर



अनुपम प्रकाशन
जयपुर

प्रकाशक : अनुपम प्रकाशन, जयपुर-३
मुद्रक : अजन्ता प्रिन्टर्स, जयपुर-३
मूल्य : पैंतालीस रुपये
© संस्करण : १९७५

U. G. C. TEXT BOOKS



उसको जो
मेरे अनुकूल है
और जिसके लिए
मैं अनिवार्य हूँ।

तलाश की प्रक्रिया :

एक झटके से अधूरेपन का अहसास झरझरा कर मेरे मन पर उतर आया है और मै हूँ कि पूरेपन की तलाश के बिन्दु की ओर अपनी दृष्टि जमाये हुए हूँ। यों दृष्टि भी एक जगह कहाँ बँध पाती है ? उसका एक जगह न बँधना ही इस बात का सबूत है कि कही कुछ और है--कहीं कोई ऐसा 'गैप' है जो 'भराव' की तलाश मे है । और यह तलाश ही तो जो जिलाये हुए है--मुझे मेरेपन से जोडे हुए है और मैं हूँ कि जुड़कर भी नहीं जुड़ पारहा हूँ क्योंकि मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि कहीं कुछ और है या कहूँ कि कुछ आगे बढ़ा है । अस्तु

'नयी कविता नये धरातल' लिखी गई तब जो था, वह कह दिया गया था और उसके ही समानान्तर 'नयी कविता का मूल्यांकन' छपा तो उसमे 'स्किन' को भी परखा गया, किन्तु उसके तुरन्त बाद महसूस हुआ कि एक पूरी की पूरी पीढी पुरजोर कोशिश कर, अपनी समकालीनता के साथ आगे आने को कसमसा रही हे । चौबीस घण्टों में तारीख बदल जाती है तो एक दशक मे तो कितनी ही तारीखों के साथ तवारीख भी बदल गई होगी । ध्यान से देखने पर लगा कि नयी कविता का बाहरी खाका ही नहीं बदला है, भीतरी परतें और उसके तेवर भी बदल गये हैं । आखिर बदलते क्यो नही ? जिस पीढ़ी ने बहुत सी स्थितियों को अधूरा-पूरा जिया हो, जो वर्तमान व्यवस्था में घुट रही हो; जो भीड़ में रहकर भी अकेली हो जिसकी जिन्दगी भरी-पूरी होकर भी खाली हो । जिसकी जिन्दगी में कत्थई अँधेरा हो; जिसके पास मीलों लम्बा इन्तजार हो, अकेलापन हो और इसके साथ ही इस सबको भोगने का खुला निमन्त्रण हो; वह क्या करे ? ऐसी पीढी के इतिहास और भूगोल दोनों ही जिन कविताओं में है, उनकी स्थिति-परिस्थिति का आलेख ही 'पुनश्च' में है । यही वजह है कि 'पुनश्च' लिखी गई, फिर जैसा मैंने कहा हे तलाश कहाँ खत्म होती है ? न आदमी की और न आदमीनुमा उस कवि की । अतः जो अनुभवा वही इन पृष्ठों पर उतर आया है ।

हाँ 'पुनश्च' मे पहले कहे गये की आवृत्ति नही है, बल्कि कविता की शैली मे लिखी जाती रही पिछले दस वर्षो की कहानी है--जिन्दगी का अहसास है-तीखा और तल्ख/जिन्दगी के उस चरमराते ढांचे और बंटे उसमें

आदमी की सही गलत स्थितियों का वह खाका है जो समकालीन कविता में आकार पाता रहा है। सच पूछो तो जिन्दगी एक 'वही' है जिसमें हर आदमी जाने-अनजाने कोई न कोई वरख जोड़ता रहता है—अपनी उपस्थिति मिलाता रहता है। 'वही' पुरानी भले पड़ जाये; किन्तु वह रहतो 'वही' ही है ठीक वैसे ही जैसे कविता हमेशा कविता ही रहती है। यह बात जुदा है कि उस ,वही' में कब कौनसा 'वरख' आकर जुड़े और किस पर कैसे 'मूड' को आकार देने वाले हस्ताक्षर हों।

पिछले वर्षों में जिन्दगी की इस 'वही' में अपनी उपस्थिति बताता हुआ भी आदमी यहाँ से कितना गैर हाजिर रहा है, कितना टूट-टूट कर बिखरा है और कितना बेबस और लाचार होकर जीता रहा है; कितने ऐसे शीर्षक हैं जिनमें बँटता हुआ वह यहाँ-वहाँ भटका है। यह सब एक सचेतन कवि की भीतरी पर्तों को हिलाता रहा है और वह है कि इन सभी अनुभव खण्डों को अपने शिल्प में बाँधता रहा है। उसने यह कैसे बाँधा है? कैसे कहाँ है? कितना सही; कितना गलत? कितना साफ और कितना बेपर्द; उसी का लेखा-जोखा 'पुनश्च' की जिल्द में है।

कोशिश तो यह रही है कि खास कुछ छूटे नहीं; फिर भी छूट गया हो तो मेरे मौन में ही उसका उत्तर भी है और प्रत्युत्तर भी।

एक बात और कहने से जो बच रहता है वही सबसे बड़ा सच होता है। अस्तु जिसके लिए कुछ नहीं कहा तो इसका मतलब यह नहीं कि कुछ कहना नहीं है, वरन् यही कि उसे कहने की कोशिश की तो शब्द ओछे महसूस हुए। अतः इसका समर्पण भी उसी के नाम!

इसी सच की प्रक्रिया मे भाई मोहनलाल जैन की याद आ रही है; उनकी मुस्काराहट पलकों पर तैर गयी है। उनके विषय में कुछ भी कहना आत्मीयता को कम करना है फिर मजबूरी है कि आत्मीयता को शब्द कैसे दूँ?

बस! अब ओट होता हूँ आपके लिए राह छोड़कर।

हरिचरण शर्मा

अनुक्रम

पुनश्च

अब यह मानी हुई बात है कि नयी कविता अनेक विरोधों और आक्रामक तर्कों के बावजूद अपना जीवन सुरक्षित रख सकी है। अतः आज नयी कविता के पाठक हैं, रसज्ञ आलोचक है और उसको दबे स्वर से स्वीकारने वाले लोग हैं तो कुछ विरोधी भी हैं; पर अब यह एक वास्तविकता बन चुकी है जिससे किनारा करना या तो हठधर्मी है या उसे न समझ पाने की वंचनामय पीड़ा। रही उसके अब तक के विरोध की बात तो उसके सम्बन्ध में यही कहना काफी होगा कि विरोध उसी का होता है जो शक्तिशाली होता है या जिसके बढ़ने से दूसरों को यह अंदेशा बढ़ जाता है कि यदि वह बढ़ गया तो हम कहाँ रहेंगे ? हमारा क्या होगा ? जिसका बढ़ना न बढ़ना बराबर है उसके लिए विरोध करके कोई अपना सर क्यों खपाये ? नयी कविता एक शक्ति, एक वास्तविक धरातल लेकर जन्मी है। उसने एक साथ ही बहुत कुछ नकार दिया है और जिसे नकारा नहीं है उसे सकारने से पहले माँज लिया है। यही कारण है कि उसे विरोधों को सहना पड़ा है।

किन्तु उसका बराबर होता हुआ विकास उसके जीवट को रेखांकित करता है। जो उसे बैठे ठालों का धंधा बतलाते हैं या बतला चुके हैं वे वही लोग हैं, जो उसे समझने-समझाने में बुद्धि का पसीना बहाने के लिए तैयार नहीं हैं या जिनकी संवेदनाओं की आर्द्रता सूख गई है। नयी कविता का अपना कथ्य है; उसका अपना जीवनदर्शन है, जो प्रवादों की भीड़ में खोता हुआ भी अलग पहचान लिये हुए है। उसकी यही पहचान उसे जीवन की अनिवार्यता से

जोड पा रही है और अनिवार्यता हमेशा जिन्दा रहती है। रूढिवादी आलोचकों की सीमा भी वर्तमान सरकार की सी हो गई है, तभी तो वे किसी अनिवार्यता को तब तक नही स्वीकारते जब तक कि वह उन्हे दबोच न ले, उन पर हावी न हो जाय।

आज का मानव कितना सहमा हुआ और उससे जुडा हुआ यथार्थ कितना तीखा और निर्मम है, यह साठ के पहले और बाद की कविताओ मे देखा जा सकता है। नयी कविता उक्त मानव की हर धड़कन को, हर इच्छा को, हर द्वन्द्व को बेपर्द शैली मे कहती रही है। एक प्रकार से सारा मानवीय परिवेश, उसका सत्रास, उसकी अनिश्चितता, उसकी विवशता और परोपजीवी मुद्रा ईमानी शैली मे आकार पाती रही है। कविता कहाँ से कहाँ आ गई है और उसने इस यात्रा मे कौन-कौन से पडाव लिये है। यह बताने की जरूरत नही, स्वय जानने की है। यहाँ जो कहना है वह इन पडावो को बताये बिना भी कहा जा सकता है और शायद तभी पिछले दशक की मूल्यवान उपलब्धियो को समझा जा सकता है।

हिन्दी कविता का पिछला दशक जिसके लिये कितने ही कवि-पडितो ने नामकरण करने की पेशकश की, किन्तु बेकार रही और हो भी क्या सकता था? अब यही बात समझ मे आती है कि कविता के लिए किसी 'लेबिल' की माँग बेमानी है क्योकि उसके लगने से न तो उसका मूल्य बढता है और न उसके सारे माल का अन्दाजा ही लगाया जा सकता है। खैर पिछले दशक मे कविता और उससे जुडे समाज की स्थिति क्या रही? यह जानना जरूरी है। एक ओर तो हम बाहरी सीमाओ पर लडे और दूसरी ओर अपने आपसे लडे। लडना जरूरी होता है : युद्ध को टाला नही जा सकता और उसे जितना टाला जाता है उतनी ही कशमकश बढती है। यह ठीक है कि युद्ध विध्वसक होता है, किन्तु यह भी ठीक है कि जब हम, हमारी मानवता, हमारे मूल्य, हमारी नियति और आदर्श आक्रान्ताओ द्वारा घेर लिये गये हो तब जागरूक, स्वाभिमानी मनुष्यत्व का सही रास्ता युद्ध के अलावा दूसरा नही हो सकता। अतः हमने ६५ और ७१ के बीच दो बार युद्ध किया। इसके परिणाम समाज से जुडे है, कवि-कलाकार से जुडे है और कवियो के मानस मे जन्मती अनेक प्रतिक्रियाएँ हमारे सामने है। इसी बीच हमने सघर्ष-अन्तः सघर्ष विघटन, टूटन अराजकता, बेईमानी, भ्रष्टाचार, आत्महत्या लाचारी, विवशता, क्लीवता और

भयावहता को भी देखा है। राजनीति के पैंतरे भी देखे हैं, नेताओं की नीति भी देखी है और सबके साथ हमने अपने आपको देखा है।

किन्तु सवाल है कि क्या इस सबको कवियों ने भी देखा है ? क्या ये बातें उन्हें भी कहीं छू सकी है ? इसका उत्तर है 'हाँ' और 'ना' ! 'हाँ' इसलिये कि हमने आधुनिक संकट का देखा है और 'ना' इसलिए कि देखा तो है, पर उसे नहीं जो हमारे एकदम समीप है। वह संकट और वह स्थिति जो हमारी बगल में है, उसे ही हम नहीं देख पाये। देखा तो क्या—काफी हाउसों का शोर, कमरे की घुटन, परिवेश का दबाव-तनाव, रेस्ट्राँ और उससे जुड़ी अनेक बातें। एक सचेत कवि के नाते, बौद्धिक कलाकार की हैसियत से हमने कितनी ऐसी कविताएँ लिखी है जिन्हें जनता की अदालत में परिवेश की साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह तो ठीक है कि पिछले दशक मे हमने भाषा का सही माध्यम तलाश लिया है, जो तीखा, बेबाक, साहसिक, बेपर्द और सीधा है, किन्तु इस माध्यम से प्रस्तुत किया जाने वाला कथ्य कितना कमजोर और करुण है यह भी देखने की चीज है। हमने जो युद्ध देखे, झेले और उनसे उत्पन्न जिन परिस्थितियो मे हम रहे या रह रहे है वे और आन्तरिक बिखराव सबको हमने चौंकाने की मुद्रा मे कविता को सौंपा है। आज हमारे सबसे समीप जो संकट है, वह युद्धोत्तर स्थितियों का है, राष्ट्रीय खतरों का है, समाज की उन समस्याओ का है जिन्हे हम रोजाना सहते और झेलते आ रहे हैं।

इस गत दशक मे जिन काव्य-कृतियो मे आधुनिक भाव बोध, नवलेखन की जिम्मेदारी और उस संकट क्षण को प्रस्तुत किया गया है जो मानव का समीपी और करीबी है; उनका आगे विवेचन किया जा रहा है :

000

मुक्तिबोध

अधूरी जिन्दगी के 'कैमरे' से ली गई
पूरे जीवन की तस्वीर[1]

'मुक्तिबोध' की काव्य-प्रतिभा का परिचय तथा उनकी आत्मा में बिखरे कितने ही तथ्यों का हवाला हमें 'तारसप्तक' की रचनाओं से ही मिल जाता है। फिर भी 'तारसप्तकीय मुक्तिबोध' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' के 'मुक्तिबोध' में अन्तर है, लेकिन यह अन्तर एक वृत्त से अनेक वृत्तों के रूप में विस्तार पाता गया है। लगता है कवि धीरे-धीरे जीवन की सच्चाई की ओर बढ़ता गया है। यही कारण है कि जीवन की सच्चाई के विविध स्तर उसके 'मानस' में कठोर सत्यों के रूप में भरते गये हैं और उभरते रहे हैं कविताओं की शैली में। यह सच है कि 'मुक्तिबोध' जीवन-तथ्यों के कवि थे। उनके ये तथ्य ऊपरी कम भीतरी अधिक थे। जीवन भर विषैले घूँट पीकर भी उफ़ तक न करने वाले 'मुक्तिबोध' कविताओं में भी उसी सच्चाई को जीते नजर आते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं को जटिल कहकर उपेक्षित करना या फिर उनका ऊपरी मूल्यांकन सही नतीजे की ओर नहीं ले जा सकता है। 'मुक्तिबोध' ने अपनी विषाद भरी अधूरी जिन्दगी को जिस धैर्य और साहस के साथ जिया, उसी धैर्य और साहस के साथ पढ़े जाने की माँग उनकी कविताएँ भी करती है। वे रुक-रुक कर सोच-सोचकर पढ़ी जानी चाहिये। जल्दबाजी या तो भाव के ऊपर से बहा ले जायेगी या फिर उनके 'बिम्ब' और 'प्रतीक' पल्ले ही नहीं पड़ेंगे। फिर सही मूल्यांकन का

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है

प्रश्न हल ही कैसे होगा ? उनकी गहरी और विशाल जीवन दृष्टि ने कितनी ही आभ्यंतर स्थितियो के विराट विम्ब प्रस्तुत किये है। इनके प्रस्तुतीकरण मे पारम्परिक प्रतीकों से लेकर आधुनिक जीवन के विप्लव-विद्रोह, वैषम्य और अन्दरूनी घावो तक की तस्वीर उतारने वाले प्रतीक और विम्न मौजूद है।

'चाँद का मुँह टेढा है' संकलन मे २८ कविताएँ सकलित है—अधिकाश लम्बी और कथा-तत्व से परिपूर्ण। ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध की छोटी से छोटी कविता मे भी एक 'पोयटिक थीम' (काव्य-वृत्त) है। ये काव्य-वृत्त वर्तमान जीवन के भयावह, घिनौने, कारुणिक और सवेदनापूर्ण चित्रो के 'एलवम' प्रतीत होते है। कवि ने लम्बी कविताओ मे वडे नाटकीय ढंग से वाहरी और भीतरी दुनियां के चित्र पूरी कलात्मकता के साथ उतार दिये है। ये तसवीरे अपनी कहानी अपनी ही जवान मे कहती है। एक ही लम्बी कविता मे चित्र भले ही अलग-अलग ढग के हो, पर परस्पर एक क्रम वतलाते हुए एक ही 'थीम' को पूरा करते जान पडते है। कई वार ऐसा भी हुआ है कि एक कविता का एक 'थीम' दूसरी कविता मे जाकर पूरा हुआ है। 'मुक्तिवोध' की विशेषता यह है कि वे सामने दीखने वाली दुनियाँ की वाहरी रूपाकृति के समान ही वे भीतरी दुनियाँ का परिचय भी देते है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि ने जो 'पैटर्न' अपनाया है वह उनके जीवन-वोध और आधुनिक दवाव को ही व्यंजित करता है। यही कारण है कि हमारे भीतर की दुनियाँ पूरी विचित्रताओ के साथ खडी दिखाई देती है। आदमी जो दीखता है उसके भीतर एक और आदमी है और वह ठीक वही नही है जो सामने है। अतः मुक्तिबोध ने इस भीतर के 'व्यक्ति' को उसकी समस्त शंका, कुशंका और विचित्रताओ के साथ प्रस्तुत किया है। यह 'व्यक्ति' हमारे समीप है या हमसे जुडा हुआ है, तभी भी हम इसे देखकर चौकते है। कारण जो भीतर है वह वाहर से कही अधिक डरावना और घिनौना है। मुक्तिवोध की विवशता यह है कि वे उसे जानते है और पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करते है :

"भीतर जो शून्य है,
उसका एक जवडा है।
जवडे मे माँस काट खाने के दाँत है।
उनको खा जायेंगे
तुमको खा जायेंगे"

मुक्तिबोध ने इस सबकी सृष्टि जिन अनुभवों पर की है वे हमारी समग्र पीढ़ी के अनुभव हैं। कवि के निजी अनुभव कविता के सहारे सार्वजनीन हो गये हैं। वह तो प्रतिनिधि भर है। यों ये विषम और दमघोंट अनुभव संक्रामक बीमारी की तरह सारे समाज की हड्डियों में घर कर गये हैं। हम जिस 'ट्रेजडी' को देख और भोग रहे हैं, वह अधिक भयानकता की ओर बढ़ती जा रही है और हम हैं कि इसे भोगने के लिए विवश हैं। यह विवशता इसलिए और बढ़ी हुई है कि इन भयंकर और विषमतर परिस्थितियों के संक्रमण के लिए हम ही जिम्मेदार हैं। संकलन की कई कविताओं में कितने ही ऐसे संदर्भ हैं जिनमे इनकी ओर अर्थगर्भित संकेत किये गये है। आज दुनियाँ जिस 'अँधेरे में' दौड़ लगा रही है और जिन ऊबड़-खाबड़ घाटियों में चक्कर लगा रही है वे आदमी की ही बनाई हुई घाटियाँ है—दूरियाँ है और हैं दरारें।

इस संकलन की कविताओ में वर्तमान परिवेश में व्याप्त अभाव, तनाव, घुटन, षडयंत्र, स्वार्थ, उच्छृंखल वृत्तियाँ, हिंसात्मक स्थितियाँ, अचानक सिर पड़ी परेशानियाँ और कितनी ही मृत्युमुखी मानसिक स्थितियों का स्पष्ट अंकन है। उनमे जीवन का वैविध्य भी है और विरोध जनित स्वर भी। उनमें यंत्रणा, त्रास, भूख, पीड़ा और अनगिनत सामाजिक उलझनें भी हैं तो अँधेरी व अभिशापित जिन्दगी और संत्रस्त स्थितियों से उबर कर प्रकाश की ओर बढने वाली उमग और आस्था भी। जहाँ विरोध है वहाँ कोई लाग-लपेट नहीं है—कोई बाहरी पालिश नही। कविता-सृजन के क्षणों में कवि वातावरण के प्रति प्रायः सजग रहा है और विचित्रता यह है कि यह वातावरण व परिवेश डरावना और घिनौना अधिक है। इसे पढ़कर मन को शांति कम पैरों को काटती, तपाती आग ज्यादा महसूस होती है। लगता है जिन्दगी की जड़ों में जो काई लग गई है, जो जड़ता भर गई है उसे तपा-तचाकर ही आदमी अपनी असलियत के प्रति सचेत हो सकता है। इन कविताओं में कहीं आतंक की छाया है तो कहीं कठोर और कड़वे स्वप्न हैं। कहीं सपाट धरती है तो कहीं चक्करदार चम्बल की सी घाटियाँ हैं तो कहीं तिलस्मी खोहें हैं, कुहरिल पहाड़ हैं, प्रेत हैं, पागल हैं, जादूगर हैं और दुष्ट लोग हैं। इतना ही नहीं कहीं मरे चूहे, मरे पक्षी, मरे बच्चे व मृत सुन्दरियाँ हैं। वे नदियाँ हैं जिनके किनारे जल रहे हैं, अग्नि-सरोवर हैं, अंधे कुएँ हैं, ज्वालामुखी पर्वत हैं। पैरों के नीचे आग है, तनुओं में नुकीली कीलें चुभी हैं, शरीर को बर्रें काट रही हैं,

स्थान-स्थान पर खूनी तालाव हैं, गंदे नाले हैं, कूडे के ढेर है, धूलि के ववन्डर हैं और कितने ही भयंकर संदर्भ है।

यह सारा परिवेश अभिघात्मक कम और प्रतीकात्मक ज्यादा है। इससे कवि ने जीवन व्यापी भयंकरताओं का परिचय दिया है। मनुष्य को उसकी असलियत में पेश किया है। वातावरण के प्रति इतनी सचेतन सजगता और उसका इतना सही व्यौरा नये कवियों मे सवके यहाँ नहीं मिलता है। आज हमारी सभ्यता जिस संकट से गुजर रही है उससे मनुष्य मात्र का : मानवता का, विनाश अवश्यम्भावी है। शायद इसी विचार से पीड़ित हो मुक्तिवोध के मन में ये अनुभूतियाँ जगी हों कि आदमी भी इन्हें जान ले तो मुमकिन है कोई वचने का रास्ता निकल आये।

इस परिवेश को देखकर ऊपर से तो यह लगता है कि कवि जटिल है, आतंकित कर रहा है, भटका रहा है तिलस्मी वातावरण मे, पर भीतर से देखें तो मुक्तिवोध के ये संदर्भ और तत्सम्वन्वित प्रतीक अपना अर्थ खोलने लगते हैं। प्रतीकों की कुंजी हाथ लगते ही सब कुछ जाना-पहचाना लगता है। वस्तुतः कवि इन विभीपिकाओं मे मानवात्मा को मुक्त करना चाहता है जो उसे या तो छल रही है या भीतर ही भीतर काट रही हैं। इसके लिए वह पहले तो आदमी को सजग करता है, परिचित कराता है उस परिवेश से जिसमें वह घिरा हुआ है फिर कहता है :

समस्या एक—
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर शोषण मुक्त
कव होंगे ?

यह प्रगतिशील चेतना कवि में इतनी वढ़ी हुई है कि वह मानवात्मा में प्रेम का आलोक भरने के लिए ईश्वर को भी कड़ी फटकार सुनाता हुआ अपनी स्वतंत्र सत्ता और शक्तिसत्ता की घोषणा करता है :

अंधा हूँ,
खुदा के वंदों का वंदा हूँ वावला,
मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धव्वे है,
दाग हैं,
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है,
अग्नि विवेक की।

नहीं, नहीं वह-वह तो ज्वलंत सरसिज !
जिन्दगी के दलदल-कीचड़ में धँस कर,
वक्ष तक पानी में फँस कर
में वह कमल तोड़ लाया हूँ—
भीतर से इसीलिये गीला हूँ—
पंक से आवृत्त
स्वयं मे घनीभूत
मुझे तेरी बिल्कुल जरूरत नहीं है ।

पीड़ा की घनता, चिन्ता और शंका जनित अन्तर्विरोध मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया में मिलते हैं । उन्होंने जाना था जिन्दगी एक दलदल है और इसमे धँसे बिना तीव्र क्षणों की अनुभूति संभव नहीं है । भले ही उनका शरीर पूरा इसमें फँसा रहा, परन्तु इसे पार करके कमल तोड़ लाने की आलोकमयी आस्था व आकांक्षा उनके मन मे विद्यमान थी । "यह कमल भीतर के आन्तरिक मनोमथन के बाद, प्राप्त रचनाकार के आत्म-साक्षात्कारी क्षोभ की फैंटेजी है ।"

संकलन की कविताओं को देखने से लगता है कि कवि आत्मान्वेषक की स्थिति में जिया है । आत्मान्वेषण या आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया ने ही 'मुक्तिबोध' से कितनी कटु, किन्तु यथार्थ बातें कहलाई है । 'आत्मान्वेषक' से तात्पर्य आत्म-समीक्षक से है—तटस्थ समीक्षक से जो 'मुक्तिबोध' के ही शब्दों मे 'आत्मा का सहचर' है । इस प्रकार मुक्तिबोध की कविताएँ आत्मसाक्षात्कार की कविताएँ हैं । उनकी अनुभूतियाँ मध्यवर्गीय अनुभव की नींव पर खड़ी हुई हैं । उममें उन्होंने दृश्य को कम अदृश्य को अधिक देखा है । उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने उसे देखा है जो 'दृश्य' या 'प्रत्यक्ष प्रस्तुत' की पृष्ठभूमि में है । कितनी ही कविताओं मे यह भाव मिलता है कि अपने भीतरी व्यक्तित्व को पहचानो । यह पहचान आज की सामाजिक व्यवस्था में तो और भी जरूरी लगती है । यही 'आत्मान्वेषक' की स्थिति है । 'मेरे सहचर मित्र', 'चकमक की चिनगारियाँ', 'अँधेरे में' और 'चम्बल की घाटी में' आदि कविताओं में कवि का 'आत्मान्वेषक' रूप सजग हो उठा है । कविताओं को पढ़ने से लगता है कि कवि का यह 'सहचर' सतत अन्वेषक रहा है और यह अन्वेषण रात के घने अँधेरे में घाटियों में, लूट-पाट के दृश्यों में, जिन्दगी की बेबसी में व रात के सन्नाटे में सीटी की आवाज सुनकर भी निरन्तर चलता रहा है । कवि भले ही चुप रहा

हो, पर उसका यह 'अन्वेषक' सदैव सजग रहा है—भले ही पैरों में कील घुस गई हो, तलवे आग की गर्मी से तप रहे हों, कंधे बोझ से दब गये हों, रीढ़ की हड्डी में दर्द हो, पसलियाँ चटक रही हों; लेकिन मन इसे नकारता हुआ अपने 'सहचर' के साथ जागरूक है। आज जीवन में जो संघर्ष विस्तार पाता जा रहा है उसके *भीतर की जिन्दगी भी हृदय के विक्षोभों के खूनी फव्वारों मे* नहाती रहती है। कवि की व्यथा इस संघर्षक्रान्त मानव की ही व्यथा है। वह घुमक्कड़ अन्वेषक की तरह सोचता है :

....................क्यों मानव के
इस तुलसी वन में आग लगी
क्यों मारी मारी फिरती है
मन की यह गहरी सज्जनता
दुख के कीड़ों ने खायीं क्यों ?
ये जुही पत्तियाँ जीवन की,
....

'आकाक्षाओं के तरु
यों ठूँठ हुए वृन्दावन के
मानव आदर्शों के गुम्बद मे आज यहाँ
उलटे लटके चिमगादड़ भावों के !"

या फिर—

छाती में मधुमक्खी का छत्ता फैला है
जो अकुलाया
औ दंशतत्परा मधुमक्खी के दल-दल
रस मर्मज्ञाओं की सेना स्नेहान्वेषी,
पर डंक सतत तैयार
बुद्धि का नित संबल।

आत्मसाक्षात्कार के क्षणों में ही कवि अपनी (औरों की भी) बेवस जिन्दगी को देखता है कि 'धूल के गरम फैलाव पर 'बेथाह सपनों की लहरती चादरें फैली हैं तथा—

"जहाँ पर पत्थरों के सिर
गरीबी के उपेक्षित श्याम चेहरों की
दिलाते याद।

टूटी गाड़ियों के साँवले चक्के
दिखें तो मूर्त होते आज के धक्के
भयानक बदनसीबी के।
जहाँ सूखे बबूलों की कँटीली पाँत
भरती है हृदय में धुन्ध डूबा दुख,
भूखे बालकों के श्याम चेहरों के साथ
मैं भी घूमता हूँ शुष्क..........."

साथ ही 'अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर' चलते हुए मुक्तिबोध ने प्रायः पैरों के तलवों को काटती आग को, कंधों को दबोचती बोझिल स्थितियों को और मानसिक यातना भोगती जिन्दगी को जिया है। यह भयानकता, यह नश्तर चुभाती परिस्थितियाँ उनके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है और वे एक दूसरे ही अनुभव से गुजरते दिखाई देते हैं। यह वह अनुभव है जिसके साक्षात्कार के बिना तथाकथित भयानकता अधूरी है और उससे बचने का भी कोई तरीका नहीं है :

"व्रणाहत पैर को लेकर
भयानक नाचता हूँ शून्य
मन के टीन-छत पर गर्म।
हर पल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ।"

'मुक्तिबोध' को 'फैन्टेसी' प्रिय रही है। वे जब भी कभी वर्णन करते हैं तो उनकी फैन्टेसी प्रवृत्ति सामने आकर उन्हें घूरने लगती है। 'दूर जंगल के गुमनाम खड्डे में या किसी वीरान टावर की अँधेरी भीतरी गोलाइयों के बीच या पुराने रोशनी-घर की भीतरी मीनार में प्रवेश करने के पीछे फैन्टेसी का ही आकर्षण है।' इस अँधेरी मीनार में मुक्तिबोध की 'आत्मान्वेषी' वृत्ति जो नक्शा उतार कर लाती है उसमें 'धूल खाते प्रेत हैं, हड्डियों के हाथों में पीले दबे कागज हैं, राइफल गोलियों के कारतूसी ढेर हैं, युद्ध के नक्शे है समुद्री पक्षियों की उग्र जंगली आँखें हैं, घोर आवाजें है, विलक्षण सीटियाँ है और हैं तहखाने जिनमें ढेर से एटम बम भरे पड़े हैं।[1] मुक्तिबोध की 'फैन्टेसी' जिन्दगी के अर्थ से अलग नहीं है। वह एक परिदृश्य में बदलती रही है और इस 'बदलाव' का मूल्य है—बहुत बड़ा मूल्य है। यही कारण है कि उनकी कविता मानव समस्याओं से पूरी तरह से जुड़ी हुई है—'तुम्हारे कारणों से

१. चांद का मुंह टेढ़ा है : चकमक की चिनगारियां पृ० १५७–५८

जगमगाती है'। 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता का प्रारम्भ 'फैन्टेसी' से भले ही हो, किन्तु उसमे सामाजिक परिवेश मे फैले राग, द्वेष, ईर्ष्या और मत्सर को बिल्ली और बाघों की आँखों की तरह चमकते देखा जा सकता है : ईर्ष्या रूपी औरत के मूँछ निकल आई/इस द्वेष पुरुष के दो हाथो के चार और पजे निकले/मत्सर को ठस्सेदार/तेज दो बौद्धिक सीग निकल आये/इसी प्रकार बीमार समाज के प्रश्न हल से पहले ही हलाक हो गये है :

उनके प्रेतो के आँसू/दार्शनिक दुखो की गिद्द-सम आँखो मे काले/भगे बैठी गुमसुम/'मुक्तिबोध' ने जो सघर्ष झेला उसकी प्रतीत उन्हे अपने जैसे पूरे वर्ग मे हुई थी। यही वजह है कि वे 'आत्मोन्मुखता' से 'आत्मविस्तार' की ओर बढते रहे है। इसे आत्मविस्तार के लिए की गई रचनाकार की विवेक-यात्रा कहा जा सकता है। इस यात्रा मे कवि का 'मै' साथ रहा है, (यही उनका सहचर है) पर इसे मुक्तिबोध का आत्मचरित समझने की भूल करना ठीक नही है। जो विराटता कविता मे आई है "वह आत्मपरक भावधारा की स्वच्छंद उडान नही है। यह तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया के कवि की फैन्टेसी है। वह आज के व्यक्ति की तरह हृदय मे तनाव का अनुभव कर रहा है और इस तनाव की अनुभूति से आज का कवि और व्यक्ति दोनो आत्मविस्तार चाहते है।"[1]

मुक्तिबोध ने कितनी ही लडाइयाँ लडी—समाज से, इतिहास से और सबसे ज्यादा अपने आप से। अपने से या अन्दर से की गई लडाई को 'अँधेरे में' कविता में देखा जा सकता है। इसमे अवसाद, घुटन, निराशा और शून्यता के कितने ही सन्दर्भ है। इन सभी मे वे निरतर अपने आपमे लडते या कुछ तलाश करते नजर आते है। वे आतक, पीडा व त्रास के बीच रहकर भी अपना पार्थक्य घोषित करते है। भिन्न प्रेरणाओ वाले इस व्यक्ति के लिए विष अन्न के दाने बन गया है। एक प्रसग मे वे ही लिखते है—

मैं उनके नियमों को खोजता
नियमों में ढूँढता हूँ अपवाद
परन्तु अकस्मात
उपलब्ध होते हैं नियम अपवाद के।

'मुक्तिबोध' ने जिन्दगी के वैविध्य, सभ्यता की नकाब ओढे समाज, डरावने जीवन, जीवन व्यापी शून्यता और संत्रस्त जिन्दगी को ऐसे कोण से देखा था जिससे उसका सारा नक्शा उनके मन मे था। यही नक्शा विविध

---

१ विष्णुचंद शर्मा का लेख : आलोचना जून १९६५ पृ० २०१

सदर्भो मे विविध प्रतीक और विम्वो मे कविताओं मे बोलता नजर आता है। एक लुटती हुई और पिटती हुई जिन्दगी का मानचित्र मुक्तिबोध की कविताओ मे है और सही वात यह है कि यह भारत के एक हिस्से का; बड़े हिस्से का असली मानचित्र है। प्रश्न है मुक्तिवोध द्वारा खीचे गये इस नक्शे के पीछे उनकी कौनसी भावना काम कर रही है ? मै समझता हूँ वह लोकहितवादी चेतना ही है। यह चेतना उनकी आत्मा के आयतन में कही गहरे समाई हुई है। वे सार्वजनिक वेदना व साधारण की पीड़ाओ को नजरन्दाज कर ही नही सकते थे। इसीलिए नित्य सूखे डठल, सूखी डाले, टहनियाँ खोजती हुई और सभ्यता के जगल मे अग्नि के काष्ठ खोजने वाली आत्मा माँ–जीवत कवि की आस्था हे–लोकहितवादी चेतना की ही अभिव्यक्ति है। यही किसी लोकोत्तर सत्य को टोह रही है। "द्वन्द्वात्मक सघर्षमयी स्थिति मे पिरोयी हुई प्रगतिमान प्रक्रिया के सश्लिप्ट रूप की अभिव्यक्ति ही, वह माँ है यह मुक्ति वोध की आस्था है।" उनकी यह आस्था गुट से अलग, सम्प्रदाय से कटी हुई एक जीवन आस्था है। लोकहितवादी चेतना की अच्छी अभिव्यक्ति 'मुझे याद आते हे,' 'चकमक की चिनगारियाँ,' 'डूबता चाँद कव डूबेगा' और एक अन्तर्कथा आदि कविताओ मे हुई है। लकडी वीनती, गर्भ-भार से झुकी होकर भी गृहस्थी चलाने के लिये कपडे धोती, मजदूरी करती, 'मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों मे रहने वाले, लट्ठधारी वूडे पटेल वावा, किसानदादा, दाढी-धारी देहाती मुसलमान चाचा और वोझा उठाये आती-जाती माएँ, वहनें वेटियों और झरने के किनारे पर सद्यजात शिशु को छोड़कर जाने वाली स्त्रियो की जो प्रतिमाएँ इस सकलन मे मिलती है, उनके पीछे कवि की कल्याण कामना का ही प्रसार दिखाई देता है। एक कविता का यह अश देखिये और उस अनुमान को सचाई मे वदल डालिये कि आधुनिक सभ्यता सकट की प्रतीक रेखा है :

> नीचे उतरो, खुरदरा अँधेरा सभी ओर
> वह वडा तना, मोटी डाले,
> अधजले फिके कण्डे व राख
> नीचे तल मे।
> वह पागल युवती सोयी है
> मैली दरिद्र स्त्री अस्त व्यस्त—
> उसके विखरे है वाल व स्तन लटका-सा
> अनगिनत वासना–ग्रस्तो का मन अटका था !

उनमें जो उच्छृंखल था, विश्रृंखल भी था,
उसने काले पल में इस स्त्री को गर्भ दिया !
शोषिता व व्यभिचरिता आत्मा का पुत्र हुआ
स्तन मुँह में डाल, मरा बालक ! उसकी झाँईं,
अब तक लेटी है पास उसी परछाईं !!
....
उसको मैंने सपनों मे कई बार देखा !!
जीने के पहले मरे समस्याओं के हल !!
ओ नागराज ! चुपचाप यहाँ से चल !!

'मुझे याद आते है' कविता में कितनी ही ऐसी स्थितियों का अंकन है जिसमें आधुनिक सभ्यता का 'पर्दाफाश' किया गया है। 'पर्दाफाश' करने वाला और कोई नही वही 'अन्वेषक सहचर' है। वह देखता है कि सभ्यता के चेहरे पर पुते पाउडर की पर्तों के भीतर नग्न, वर्बर देह और रोगीला पंजर है और शोषण की सभ्यता के नियमानुसार बनी संस्कृति के तिलस्मी सियाह चक्रव्यूहों में फँसे मानव के प्राण छटपटा रहे हैं। इतना ही नही उन्हें तो सुबह से शाम तक भयंकर दुःस्वप्न के रूप मे मनुष्य का यह रूप भी दिखाई देता है जो निजी कारणों से कम आत्मघाती प्रवृत्तियों से ज्यादा सम्वद्ध है। मानवीय संकट को वे परिस्थितियों का दवाव मानकर चले और संकट के वोध को परिवेश का दवाव स्वीकारा—ऐसा दवाव जिसने वर्तमान को खा लिया है:

आज के अभाव के व कल के उपवास के
व परसों की मृत्यु के........
दैन्य के, महाअपमान के व क्षोभपूर्ण
भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का
दीखता पहाड़....
स्याह !

मुक्तिवोध की कविताएँ संक्रान्ति युग की स्थितियों का अंकन करती हैं। वे लम्वी हैं, उनमें आये रूपक, मानवीकरण पूरे का पूरा परिवेश समेटे हुए हैं। पहली साँस में पढ़ने पर ये कविताएँ उवाने वाली, अजनवी-सी, रुखी, अस्पष्ट और अतिरिक्त वर्णनात्मक लगती हैं, पर जैसे-जैसे हम इन्हें सोच-सोच

कर, रुक-रुक कर पढ़ते हैं, इनका मर्म समझ में आने लगता है। ये चौंकाने के लिए नहीं लिखी गई हैं। ये बड़ी भले ही हों, किन्तु इनका 'कन्टेन्ट' तीखा और नश्तर चुभाने वाला है। इन्हें पढ़ने से अपनी, दूसरों की, समाज की, देश की, विदेश की, सभ्यता-संस्कृति की और अपने चारों ओर फन फैलाये परिवेश की सच्चाई का अनुमान लगाया जा सकता है। यह वर्णन हमें परिष्कार की बात सोचने के लिए बाध्य करता है। मुक्तिबोध ने आदमी का और उसके परिवेश का भीतरी खाका खींचा ही उस गरज से है कि हर आदमी अपने को पहिचान ले और उससे काँपकर कुछ नये ढंग से जीने की बात सोचे या सोचने को विवश हो। यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविता विचित्र संकेतों और जिज्ञासाओं का समीकृत संदर्भ प्रस्तुत करती हुई—कभी स्पष्टत: और कभी प्रतीकों से हमें अपनेपन का अपने असली चेहरे का बोध कराती है। नकाब उतार कर कहती है—लो देखो तुमने अपना ही चेहरा, जिस पर हर रोज पाउडर की पर्तें जमाते हो, कितने अर्से से नहीं देखा है। हैरान मत हो, यह तुम्हारा ही चेहरा है। ये तुम्हारे ही होंठ हैं जिन पर जमी लिपिस्टिक की गहरी ललाई अब तुलसी-दल की खुशबू को भीतर नहीं जाने देती है।

सामान्यत: लम्बी कविताएँ लिखने वाले मुक्तिबोध की कुछेक कविताएँ तो खासी लम्बी हो गई हैं—'अँधेरे में', 'चम्बल की घाटियाँ,' 'चाँद का मुँह टेढ़ा है,' 'चकमक की चिनगारियाँ,' इस चौड़े ऊँचे टीले पर 'और' एक स्वप्न कथा। इन लम्बी कविताओं को पारम्परिक खण्ड काव्यों से अलग करके देखना चाहिये। वस्तुत: ये कविताएँ एक विशाल 'कैनवास' लेकर लिखी गई है। इनमें एक 'थीम' है जो कई संदर्भों में परत दर परत अपने अपने आप खुलता गया है। ये बड़ी भले ही हों उबाने वाली नही है। इनमें अपनायी गयी नाटकीय शैली सारे मन्तव्य को स्पष्ट करती चलती है। कल्पना के योग से जो चित्र खड़े किये गये हैं, वे अद्भुत और बेजोड़ हैं। कहीं प्रतीकों से कही बिम्बों से, कहीं एकलाप, कहीं वार्तालाप और कहीं कवि-कथनों से लम्बी कविताओं का कथ्य प्रेषणीय होता रहता है। इन कविताओं में एक तारतम्य बना रहा है। कोई भी अंश छोड़कर पढ़ने से पाठक को जो खतरा उठाना पड़ता है वह दुबारा पूरा पढ़कर ही भरा जा सकता है : चाहे 'ब्रह्म राक्षस हों,' चाहे 'चम्बल की घाटियाँ' अथवा 'अँधेरे में'। अँधेरे में 'कविता' देश की स्थिति का; स्वतन्त्रता पूर्व और बाद की, पूरा खाका खींच देती है। आर्थिक सामरस्य के लिये जो आजादी की लड़ाई लड़ी गई थी; वह इस 'अँधेरे में आकर मिल गयी। जिन

आदमियों ने अपनी जान पर खेलकर आजादी दिलाई वे ही स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में पंगु, नपुंसक और अँधेरे की स्याही में डूब गये। 'मृतक दल' की शोभा यात्रा का जो संदर्भ इस कविता मे है; वह हमारी संस्कृति की ही पुनर्परख है। सच है गांधी के सिद्धान्त उनके तुरन्त बाद उपेक्षित हो गये और कवि की अनुभूति ने उसे यों कहा—

वह मुख-अरे! वह मुख वे गांधीजी !!
इस तरह पंगु
आश्चर्य !!........

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' भारतीय राजनीति की विद्रूपता का गांधी व तिलक के पुतलों पर बैठे घुग्घुओं की बातचीत के रूप में जो अंकन है, वह आजादी के बाद के पूरे परिवेश और उसमे पनपी मानव विरोधी स्थितियों का बिम्बांकन प्रस्तुत करता है। नारों, गलत वायदों और थोथे आदर्शों की चीख-पुकार में मानव कहीं खो गया, उसका जीवन दर गुजर कर दिया गया और इससे विवशता, भूख, पराजय, कुंठा और परोपजीवी वृत्ति पनपी जिससे मुक्तिबोध की कविताओं का ढाँचा तैयार हुआ है।

वस्तुत: मुक्तिबोध की कविताओं में गहन मृतात्माएँ हर रात जुलूस में चलती है। सड़क पर शोर के बीच 'टालस्टायनुमा' आकृति उभरती है। 'अँधेरे में' कवि बिना बाती के ही टोह-टोहकर सही रास्ते पर खरी-खरी बातें कहता है और बढ़ता दिखाई देता है। 'अँधेरे में' कविता एक खोज को व्यक्त करती है और यह एक प्रकार से ऐसे व्यक्ति की खोज है जो आज के परिवेश में अपनी हर परिस्थिति के साथ, हर आकृति और गतिविधि में सामने आता है। यह उस 'आइडेंटिटी' को संकेतित करती है जो आज की लुटती-पिटती परिस्थितियों में खोती जा रही है। कविता में यह 'खोज' नाटकीय शैली में अभिव्यक्त हुई है। ऊपर से रहस्यमय-सी दिखने वाली इस कविता का परिवेश यथार्थ है जो इसे नाटकीय सन्दर्भ तो देता ही है, इसमें वर्णित प्रसंगों के प्रति आत्मीय सम्बन्ध भी स्थापित कराता है। कविता में कवि दो स्तरों पर खड़ा है: एक तो 'मैं' जो सभी कुछ चुपचाप देखता है और दूसरा 'वह' जो उसी 'मैं' का प्रतिरूप है।

'अँधेरे में' संकलन की सबसे दमदार कविता है। वर्णन पद्धति की घनता और वास्तविकता ने इसे और भी प्रभावशाली बना दिया है। कवि का 'मैं' एक 'एंगिल' से कितनी ही तस्वीरें उतार लेता है। इनमें ये तीन चित्र तो

बेजोड़ है : मृतक-दल की शोभा-यात्रा, सैनिक शासन और जनक्रांति का चित्र। इनके प्रस्तुतीकरण में नाटकीयता, और 'सस्पैंस' तो है ही, कथ्य की गहरी रंगत भी है। कथन-शैली कहीं सपाट कहीं नाटकीय और अधिकाशतः कलात्मक है, किन्तु इसमें सहजता सर्वत्र व्याप्त हैं। फैन्टेसी' के कवि 'मुक्तिबोध' की इस कविता में शब्दों का अनावश्यक और अनपेक्षित जमघट नहीं है। यही कारण है कि अनावश्यक वर्णन-प्रसंग कविता में नहीं आने पाये हैं। लाघव, सघनता और बिम्ब गुण से युक्त यह कविता लम्बी कविताओं की शृंखला में महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में याद की जायेगी। कविता की कुछ विशेषताओं को संकेतिक किया जा सकता है : एक तो यह कि कवि ने 'स्वप्न-कथा' पद्धति को अपनाया है। यही कारण है कि कितने ही दूर के संदर्भ आकर कथ्य को वजनी और सम्प्रेष्य बना गये हैं। 'तिलक' 'गांधी' और 'टालस्टाय' के संदर्भ इसी विशेषता का परिणाम है। लगता है कवि का रचनात्मक मस्तिष्क दूर के कितने ही प्रसंगो को कथ्य में प्रभाव भरने के लिए सहज ही कविता-पंक्तियों में बिठा देता है। कई बार तो असंभव-सी दीखने वाली घटनायें भी कवि इस सफाई से ले आया है कि वे संभव और वास्तविक-सी लगती हैं। वर्णनों की चमत्कारिकता का रहस्य भी यही है। ये संदर्भ अस्वाभाविक और अनावश्यक नही है क्योंकि ये उस मनःस्थिति से जुड़े हुए हैं जो सामयिक के दबाव, त्रास और दमघोंट परिस्थितियों की उपज है। ये थका देने वाली स्थितियाँ हर क्षण किसी न किसी आशंका और भय से आक्रान्त रहती हैं। हर क्षण यह आशंका मन को किसी छाया की तरह घेरे रहती है कि जैसे समाज में जो भी अयाचित और अनहोना घटा है उस सबकी जिम्मेदारी मेरी है।

"मानो मेरे कारण ही लग गया मार्शल ला वह
मानो मेरे निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया।
मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना"

यह स्थिति अनजान और अवास्तविक नहीं है। 'मशाल-जूलूस' आदि के वर्णन में कितनी सचाई हैं, जब पत्रकार, कवि, आलोचक मंत्री, और उद्योग-पति सबके सब रात के अँधेरे में डाकुओं, हत्यारों और बदमाशों से मिलकर षडयंत्र करते हैं और दिन के उजाले में अपनी-अपनी कुर्सियों से चिपके अपनी ईमानदारी का सबूत देते हैं। इसी प्रकार के अंकन कई संदर्भों में आये हैं। मुक्तिबोध जैसे अँधेरे की दुनियाँ का परिचय देने को कृत संकल्प हैं, किन्तु यह

कहना न्यायसंगत नहीं होगा कि यह केवल 'अँधेरे' की कविता है। यह एक स्तर पर अँधेरे की छवियों को उजागर करती है तो दूसरे स्तर पर यह अँधेरे से लड़ती हुई प्रकाश की ओर भी ले जाती है। इसलिए यह कविता भटकाती नहीं है, (सताती भले ही हो) एक आस्था के साये मे निरन्तर ले जाने की चाह व्यक्त करती है। रात के सन्नाटे मे गोली की आवाज, भयानक आकृति और मृतक-दल आदि के संदर्भो के बीच मानव करुणा, पीडा और आस्था की लौ से मार्ग दिखाने वाली यह कविता एक महक बनकर पाठक की चेतना में समा जाती है :

रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित
............महान् अस्तित्व
महकता है लगातार
अँधेरे में पता नही चलता
मात्र सुगन्ध है सब ओर
पर उस महक, लहर में
कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त-चिन्ता
छटपटा रही है, छटपटा रही है।

अंधकार से निकलकर नयी संकल्प-शक्ति से सम्पन्न कवि का 'मैं' अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाकर सभी पुराने मठों और गढ़ों को तोड़ने को तत्पर है क्योंकि वह जानता है कि दुर्गम पहाड़ों के उस पार पहुँचने के लिए यह करना ही पड़ेगा तभी तो 'अरुण कमल' दिखाई देगा। यह भावना आस्था-वादी है जो कितने ही जोखिम उठाकर उपलब्ध हुई है। कविता में वातावरण और परिवेश चित्रण जिस ईमानदारी से सहज शैली में अभिव्यक्त हुआ है वह अनुभव की चीज है। अँधेरे' का कितना जीवन्त वर्णन इस कविता में है। परस्पर शोषण और पीड़न की नीव पर खड़ी संस्कार हीनता का विशदांकन इस कविता का यथार्थ परिप्रेक्ष्य है।

कविता में आकर कितने ही विरोधी-से लगने वाले संदर्भ एकाकार हो गये हैं। असम्बद्ध संदर्भो का सम्बन्ध प्रदर्शन और विरोधी प्रसंगों का आत्मीय प्रस्तुतीकरण मुक्तिबोध की विशेषता है। इसमें कवि की शैली ने विशेष सहयोग दिया है। कहीं घोर अभिधात्मक कथन हैं तो कहीं नाटकीय भंगिमाएँ है तो कहीं बिम्बों की दूर तक चलने वाली शृंखला है तो कहीं बिना लपेट के कही गई बातें हैं तो कहीं सामान्य से दीखने वाले कथनों में भरा अर्थ चमत्कृत

कर देता है। साधारण के सहारे असाधारण अर्थ-व्यंजना, शब्दों का सही चुनाव और पाठक को अपने जादूयी तार से अन्त तक बाँधे रखने वाली शैली पर मुक्तिबोध का एकाधिपत्य है। 'भागना मैं दम छोड़, घूम गया कई मोड़' में निहित तीव्रता और व्यथा, चटपट आवाज चाँटों-सी पड़ती" की ध्वन्यात्मकता, "मेरा दिल ढिबरी-सा टिमटिमा रहा" की विवशता और उदासी तथा "क्या करूँ किससे कहूँ-कहाँ जाऊँ दिल्ली या उज्जैन 'जैसी साधारण पंक्तियों का संदर्भ जनित गहन अर्थ आदि सभी कुछ लुभाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कविता की भाषा-शैली में नाटकीयता व 'सस्पैन्स का समावेश बड़ा कारगार सिद्ध हुआ है । शैली में एक ऐसी नाटकीय त्वरा है कि पाठक अभिभूत हो जाता है। अतः 'अँधेरे' में कविता मुक्तिबोध की सबसे लम्बी और महत्वपूर्ण कविता है। जब भी कभी नयी कविता में लिखी गई लम्बी कविताओं का इतिहास लिखा जायेगा और जब भी वे मूल्यांकन के दौर से गुजरेंगी तब इसका महत्व सर्वोपरि सिद्ध होगा।

'मुक्तिबोध' की सभी लम्बी कविताओं में यह विशेषता मिलती है कि वे वर्णन के दौरान कितनी ही बातें कह जाते हैं—जीवन की, समाज की, देश की, विदेश की। उदाहरणार्थ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में कवि की दृष्टि में तिरछा चाँद तो है ही; नगर का वह भाग ज्यादा है जिस पर पड़ती हुई रोशनी में वहाँ का निम्नवर्गीय जीवन भी उजागर हो उठा है। कहने की आवश्यकता नही कि ये लम्बी कविताएँ कवि के मानसिक तनाव को, सामाजिक उत्पीड़न और संत्रस्त जिन्दगी को बड़े ही नाटकीय अन्दाज में व्यक्त करती हैं। इस कोण से तो ये कविताएँ किसी भी महाकाव्य से कहीं ज्यादा प्रभावित करती है क्योंकि इनमें आज की सप्रश्न और द्वन्द्वमयी स्थितियों का प्रतीकात्मक अंकन है।

संघर्ष की जिन्दगी में साँस लेते हुए भी उनकी बौद्धिक चेतना मरी नहीं, उसे लकवा नहीं मार गया। यही वजह है कि घनी मानवीय पीड़ा और संवेदना का रूप, मानवीय स्थिति या नियति का जान लेवा तनाव उनकी कविताओं में उभरता गया । आजादी के बाद का मानस, असंतुलित जीवन-व्यवस्था, समूचे दमघोंट भँवरजाल, तामसिक छल-छद्म, क्रूरता, घृणा, अमानवीय व्यवहार और घिनौनी स्थितियों को जीते-भोगते हुए भी मुक्तिबोध हारे नहीं, विजयी होने का विश्वास लिये जिये। यही उनकी कविता की मूल आवाज भी है। उक्त स्थितियों का अंकन इतना सपाट, किन्तु यथावत् रूप में

उभरा है कि वह एक बार तो पाठक की चेतना को पूरी तरह झिंझोड़ ही देता है।

सारे 'मुक्तिबोध' को पढ़ने पर लगता है कि वह अपनी पीढ़ी से काफी आगे सोचता है, उसकी अनुभूतियों का कैमरा विघटित समाज की उन भावी तस्वीरों के 'स्नेप्स' भी ले आया है जो उनके बाद समाज में और फिर कविता में उभरे है। इसीलिए कवि मूल्यहीनता, अमर्यादा, असंयम और मानवीय आदर्श के विरोधी तत्वों और रूपों से उत्पन्न उस संत्रास और मरी हुई आवाजों को भी सुन सका है जो आजादी के बाद के वर्षों में उभरी है। उन्होंने महसूस किया कि जड़ीभूत दबावों का भार मनुष्य की छाती बर्दाश्त नहीं कर सकती हैं क्योंकि वे इतने वज़नी, दमघोंट और भयावह हैं कि :

"चीख निकालना भी मुश्किल है,
असंभव हिलना भी !
भयानक है बड़े बड़े ढेरों की
पहाड़ियों नीचे दबे रहना और
महसूस करते जाना
पसली की टूटी हुई हड्डी !
भयंकर है
अपना स्पंदन
अनुभूत करते जाना।"[१]

ये मनुष्य और समाज विरोधी शक्तियाँ अपने दबाव से इन्सानियत की रीढ़ को ही तोड़ दे रही हैं और यही वजह है कि संभावनाओं की इमारत ढ़हती जा रही है। यह इमारत आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उन सांस्कृतिक लाभों, आदर्शों और विश्वासों की इमारत है जो कभी मनुष्य को पनाह देती थी या दे सकती है, पर आज आदमी इस इमारत के गिर जाने से मलबे का ढ़ेर बन गया है फिर भी कवि कहता है :

कोशिश करो
कोशिश करो
जीने की
जमीन में गड़कर भी[२]

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ ५८
२. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ ६४

जिन्दगी की ग्रापाधापी की जैसी रुवरु तस्वीरे मुक्तिबोध ने दी है वैसी नयी कविता के समूचे इतिहास मे दुर्लभ हे। भाव-त्रोव ग्रौर जीवन के सही रूप की जैसी महाकाव्योचित व्याख्या मुक्तिबोध ने की वह ग्रपवाद है— ग्राम बात नही। पूरा सग्रह ग्राग की लपटो से जलते हुए समाज ग्रौर मानवीय स्थितियो का प्रामाणिक दस्तावेज हे : एक इतिहास है। उसमे हमारी वर्तमान जिन्दगी का भूगोल हे जहाँ हमारी सीमाग्रों को गहरे स्याह रग से दिखाया गया है। मानवीय प्रतिबद्धता का यह कवि ग्रनेक स्थलो पर रहस्यमय, विचित्र ग्रौर जादूयी वातावरण उपस्थित करके भी सही इन्सान नजर ग्राता है, उसमे कचाई नही है, एक सघर्षरत मनुष्य के ग्रनुभवो का पुज है जो उसकी गति-प्रगति को रेखाकित करता चलता है। कहने की जरूरत नही समझता कि यह रेखाकन प्रासगिक है, सदर्भ से च्युत नही।

'मुक्तिबोध' की कविताग्रो का शिल्प गजब का है उनमे जो प्रतीक, रूपक, मानवीकरण ग्रौर बिम्ब हे वे पारम्परिक भी है ग्रौर नये ग्रर्थो से सयुक्त भी। कुछ प्रतीक ग्रौर रूपक तो जाने पहचाने है; पर कुछेक नये या पुराने होकर भी नये ग्रर्थो से युक्त हे। 'इस ऊँचे टीले पर' कविता मे चित्रित 'मृत सुन्दरी' उस मानवात्मा का ग्रर्थ लिये हे जो मर गयी है। यद्यपि इसका वर्णन बडा 'तिलस्मियाना' हे बगले मे कमरे ग्रौर कमरो के भीतर कमरे— परदे के पीछे परदा ग्रौर बहुत ग्रन्दर, एक चौडे पलग पर मृत सुन्दरी लेटी हे। यह हमारी मृत ग्रात्मा हे। इसी सदर्भ मे 'चम्बल की घाटी' मे चट्टान पर बैठे डाकू के रोमहर्षक कार्यो का विवरण हमे चकित कर देता है। कवि ने बताया हे कि वह तो हमारा ही जडीभूत रूप हे। बुराई दर बुराई करते-करते हमारी ग्रात्मा पथरा गई है। हम ही ग्रपने सबसे बडे शत्रु हे। वस्तुत इन कविताग्रो का शिल्प 'फैन्टेसी' का शिल्प हे। इनमे ग्राये प्रतीक ग्रौर बिम्ब ग्रौर यहाँ तक कि शब्द भी ग्रभिधात्मक ग्रर्थ से ज्यादा व्यजनार्थ या प्रतीकार्थ रखते है। ये बिम्ब ग्रौर प्रतीक मुक्तिबोध की कविता के प्राण हे। इनके न रहने पर कविता का महल ही ढह पडेगा ग्रौर ग्रर्थ का चूना धीरे-धीरे झड जायेगा।

मुक्तिबोध की भाषा भी उतनी ही ताजी ग्रौर मौलिक है जितनी कि उनकी चिन्तना। यहा ग्रपनी ग्रौर दूसरी भाषा के भेद को मिटाकर ग्रभिव्यक्ति के लिए ग्रावश्यक हर भाषा ग्रँग्रेजी, सस्कृत, उर्दू, मराठी ग्रादि किसी भी भाषा के चालू शब्द को ग्रपना लिया गया है। लगता हे कवि का शब्द-विधान

वड़ा 'डेमोक्रेटिक' है। शब्दों के प्रयोग का मुक्तिवोध का अपना ढंग है। वे व्याकरण की परवाह नहीं करते; वल्कि व्याकरण को अपनी भाषा की परवाह करने के लिए न्यौता देते है। कितने ही शब्द-प्रयोग, कितने ही विशेषण और कितने ही मुहावरे ऐसे है जो मुक्तिवोध के यहाँ आकर अपना रूप वदल लेते है। इस वदलाव से कविता की सम्प्रेषणीयता वढ़ी है। 'रक्तिम' के लिए 'रक्ताल', अंगारमय' के लिए 'अंगारी,' 'अँधियारे' के लिए 'अँवियाले,' 'रुग्ण' के लिए 'रोगीला,' 'धूमिल' के लिए 'धुमेला' 'अचानक' के लिए 'अचक' आदि ऐसे ही प्रयोग है। विशेषणो के नये प्रयोग भी वरावर देखे जी सकते हैं: 'प्यारी रोशनी', 'सर्द अँधेरा' और 'चाहती साडियाँ' आदि ऐसे ही प्रयोग है। विशेषणों में रंग को व्यक्त करने वाले विशेषणों के प्रति कवि का अनुराग संकलन की कविताओं में काफी फैलाव लिये हुए है। कहीं-कहीं तो एक ही संज्ञा के लिए दो-दो तीन-तीन विशेषण एक साथ रख दिये गये है।

मुक्तिवोध की भाषा भागती सी लगती है। शब्द इतने तेज और तर्राट है कि पाठक भी कई वार भाव को पीछे छोड़कर शब्द के साथ ही भाग जाता है। उनमे गतिशीलता है। वे ध्वनिमूलक है और विम्व-सर्जन के लिए वडे कारगर सिद्ध होते है। 'चटपट आवाज चाँटों सी पड़ती, सटरपटर, 'धड़-धड़ाम' अरररा कर गिरना, 'खट खटाक खट' आदि। शांति, नीरवता और रहस्यमय स्थिति के लिए भाषा क्रमशः शीतलता व जिज्ञासा के कदमों से चलती हुई डरावनी स्थितियो के लिए सन्नाटा फैलाती हुई भय और आतंक का घेरा डालती चलती है:

"सामने है अँधियाला ताल और
स्याह उसी ताल पर सँवलाई चाँदनी
समय का घटाघर
निराकार घंटाघर
गगन मे चुपचाप अनाकार खड़ा है"

इसी प्रकार:

रात के दो है
दूर-दूर जंगलो में सियारों का हो-हो,
पास-पास आती हुई घहराती गूँजती
किसी रेलगाड़ी के पहियों की आवाज!!

किसी अनपेक्षित
असंभव घटना का भयानक संदेह
अचेतन प्रतीक्षा,
कहीं कोई रेल ऐक्सीडेण्ट न हो जाय
चिन्ता के गणित अंक
आसमानी-स्लेट पट्टी पर चमकते
खिड़की से दीखते ।

भाषा की बिम्ब क्षमता और गतिशीलता के लिए, एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें हर शब्द बिम्ब बना हुआ आगे बढ़ता गया है :

कगारों—कटानों पर सावधान सरककर
झखेरी झुरमुट के पास थक बैठता कि
देखता हूँ
झुरमुट में हलचल काँपती
कोई साँप पहाड़ी
निकल कर भागता है लहरीली गति से,
मानो मेरी कविता की कोई पाँत
मुझसे ही भयभीत
भाग जाना चाहती ।

और मुक्तिबोध कभी-कभी शब्दों के संग्रथन से ऐसा वातावरण तैयार कर देते हैं कि पाठक अनायास ही रहस्य, रोमांच और किसी अनजानी भूमिका पर पहुँच जाता है, अकस्मात् भौचक्का सा रह जाता है और कुछ समय के लिए अपने को भूल भी जाता है :

"तालाब के आस पास अँधेरे में वन वृक्ष
चमक-चमक उठते हैं हरे हरे अचानक
वृक्षों के शीश पर नाच-नाच उठती हैं बिजलियाँ
शाखाएँ, डालियाँ झूमकर झपटकर
चीख एक दूसरे पर पटकती हैं सिर, कि अकस्मात
वृक्षों के अँधेरे में छिपी हुई किसी एक
तिलस्मी खोह का शिला द्वार
खुलता है धड़ से
घुसती है लाल लाल मशाल

अंतराल विवर के तन में
लाल-लाल कुहरा
सामने कुहरे में रक्तलोक स्नात एक पुरुष
रहस्य साक्षात"

इन कविताओं की शैली सुनियोजित है जो कविता को आवश्यक व्यवस्था देती है। उसमें नाटकीयता एवं गतिशीलता पर्याप्त मात्रा में है। मुक्तिबोध की एक ही कविता में हर दस-पाँच पंक्तियों के बाद एक त्वरा दिखलाई देती है। हर विराम के बाद नया संदर्भ और उससे निकलते विभिन्न संदर्भ पाठक के हृदय को छूते चलते हैं। उनके यहाँ एक संदर्भ निकलता है और फिर दूसरा संदर्भ ठीक वैसे ही जैसे एक बड़े सन्दूक में दूसरा और दूसरे में तीसरा फिर चौथा। विलक्षणता इस बात की है कि कहीं भी ये संदर्भ आपस में टूटे नहीं हैं। वे तो एक ही 'थीम' को पूरा करने के उपकरण भर हैं। पौराणिक प्रतीक मुक्तिबोध के दिमाग में छाये हुए हैं—रावण, ब्रह्मराक्षस, औरांग–उटांव आदि। रावण जलाया हुआ काठ का मन है–जड़वत् है तो 'ब्रह्मराक्षस' हमारा अचेतन मन है और 'औरांग उटांव' हमारी अविकसित दुर्दमनीय पाशवी वृत्तियों का प्रतीक है। गांधी, तिलक, 'अर्जुन', 'शिवाजी,' 'अक्षयवट' आदि भी उनके यहाँ प्रतीक बनकर आये हैं और आधुनिक संदर्भों में अपनी अर्थवत्ता प्रमाणित करते हैं। इसके अलावा मुक्तिबोध के अभिव्यंजना शिल्प में लोक-जीवन की कहावतें, किंवदंतियाँ, मुहावरेदार भाषा और कितने ही बोलचाल के जाने माने संदर्भ आ गये हैं। संग्रह की कोई भी कविता पलटिये उसमें आये बिम्ब, प्रतीक सशक्त, संकेत और संदर्भ अर्थगर्भित व ध्वनि चित्र बड़े गहरे और प्रभावकारी मिलेंगे। कुछेक कविताओं में एक उतालवापन, आवेश और अतिरिक्त शक्ति दिखाई देती है जिससे कविता का मर्म ढक गया है, कथ्य सम्प्रेष्य नहीं बन पाया है। कुछेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें आये शब्द घोर अभिधात्मक होने से प्रभावहीन लगते हैं। कुछ वर्णन ऐसे हैं जो अतिरिक्त विस्तार पा जाने से बहकाते और भटकाते हैं।

संकलन की कविताएँ संक्रमण के दौर की कविताएँ हैं। अतः उनमें आधुनिक सभ्यता का संकट चित्रित हुआ है। मुक्तिबोध ने जान लिया था कि यह सभ्यता मरणोन्मुखी है। अतः वे उसका चित्रण एक सफल चित्रकार की तरह कर सके हैं। संघर्षक्रान्त मानव के जो चित्र उन्होंने दिये हैं

उनसे निराश होने की जरूरत नहीं है क्योंकि वे निरन्तर उस चेहरे की तलाश में रहे जो आधुनिक सभ्यता और संत्रस्त जिन्दगी की कड़ी परतों के नीचे दब गया है। उन्होंने यह समझा जरूर कि 'शून्य से घिरी पीड़ा' ही सत्य है, दुखों का क्रम ही सत्य है शेष सब अवास्तव है—मिथ्या है, किन्तु इस पीड़ा से इस दर्द से छटपटाते हुए भी वे अपनी आस्था को कायम रख सके और परेशानियों से दबकर भी वे यही कहते रहे :

कोशिश करो
कोशिश करो
कोशिश करो
जीने-की ज़मीन में गड़कर भी.........
....

मैं जीवन पर मुग्ध हो रहा !

सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध एक जनकवि थे। उनकी कविताएँ मानव सभ्यता का इतिहास भी प्रस्तुत करती हैं और भारतीय जीवन के उस पक्ष को भी जिसमें वे स्वयं पिसते रहे। उन्होंने अधूरी जिन्दगी बिताई पर कविता में उन्होंने 'पूरे जीवन' को दिखाया।

○○○

अज्ञेय

'आँगन के पार द्वार' .
'कितनी नावों में कितनी बार'
'सागर मुद्रा'
और
'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ'

अज्ञेय की काव्य-यात्रा नयी कविता की यात्रा है। इसमें बना पथ कितने ही कदमों से स्पर्शित और चुम्बित हो आगे बढ़ता गया है। कितने ही नये कवि इसकी सही पहचान कर सके और कितने ही उस पर चलकर अब झुँझला रहे हैं। कविता में कुछ पंक्तियाँ ऐसी होती है जो बार-बार मन को छूती रहती है और वे स्वत ही मन में दुहरती रहती है, वैसे ही अज्ञेय है। वे अपनी प्रतिभा के कारण मन में जमे रहते है और जाने-अनजाने मन में घूमते रहते है और भिन्न-भिन्न ढग से पाठक को अभिभूत किये रहते है।

यो अज्ञेय का सर्जन 'इत्यलम्,' से प्रारम्भ होता है, पर नयी कविता की स्वस्थ स्थितियो के रूप में वह तभी पहचाना गया जब उन्होने 'हरी घास पर क्षण भर' बैठकर 'बावरा अहेरी' के आलोक में स्नात हो 'रौंदे हुये इन्द्रधनुषों' को अनुभवा। यह एक दुनियाँ थी, इसमें आगे वे 'प्रभामय करुणा' में सिक्त हो 'आँगन के पार द्वार' जाकर भीतर के देवता को बार-बार पालागन करते हुये' कितनी नावों में कितनी बार' की ताजी आधुनिक बोध गठित दुनियाँ में आकर अपने अन्वेषित सत्य को प्रस्तुत कर सके। एक समय था जब

उन्होंने विरोध सहा, विरोध किया, परम्परा के वट-वृक्ष की वढ़ती कितनी ही शाखाओं को तराशा और नये वीजों का वपन किया। इस क्रिया में कुछ जोश-खरोश था, अपने को प्रतिष्ठित करने का आग्रह था। यह आग्रह सन् १९५० से संतुलित होता गया। उनके कृतित्व में जो रेत था—मिट्टी थी; वह नीचे वैठती गयी और साफ-सुथरा पेय जल ऊपर चमकने लगा। परिणामतः नयी कविता के आँगन में 'हरी घास' भी उगी और 'वावरे अहेरी' का प्रकाश भी फैला। साँझ हुई और उसके मनमोहक वातावरण में कवि ने 'घर-कुटीर के दिये' को सहमा सा चुपचाप रख दिया और उसके दिव्य आलोक में वह धीर, आश्वस्त, अक्लान्त अपने अनवूझे सत्य के प्रभामण्डल की ओर 'कितनी ही नावों में कितनी वार' हो आया।

अज्ञेय की यायवारीय प्रवृत्ति ने उन्हें पश्चिम की जूठन को भारत में 'व्यजन वनाकर खाने का अपराधी घोषित करवाया। उन्हें इसकी कभी भी परवाह नहीं रही है। यों भी नयी कविता पश्चिम से उधार लाई हुई चीज नहीं है। वैसी तो तव होती जवकि भारत में उसके लिए परिस्थितियों और प्रेरक तत्वों की कमी रही होती। वह तो भारत में जमी, उसकी ही मिट्टी में पली और उसके ही खाद-पानी से सिची एक ऐसी लता है जिस पर लगे पुष्पों का पराग देश की गन्ध से सुवासित है। हाँ, उसे जो वायु-स्पर्श प्राप्त हुआ और उससे जो रंग निखरा वह चारों दिशाओं में कहीं से भी आता रहा हो, यह वात अलग है। खुले आकाश के नीचे धरती के विस्तृत वक्ष पर फलने-फूलने वाली यह पुष्पलता खुली साँस लेती रही है। नया कवि भी अपने दिमाग की खिड़की खुली रखकर ऐसे साहित्यिक कक्ष में वैठा हुआ है जिसमें चारों दिशाओं से प्रकाश आता है, पर खिड़की पर लगी जाली उसे छनकर ही भीतर जाने देती है। 'अज्ञेय' के सम्वन्ध मे यह वात वार-वार कही जाती है कि वे वाहर से प्रभाव संकलित कर अपनी कविता की इमारत तैयार करते है। यह वात वेमानी है। पहली वात तो यह है कि प्रभाव ग्रहण करने में लज्जा की कोई वात नहीं है। लज्जा की वात तो तव होती है जव प्रभाव आँख वन्द करके ग्रहण किया जाता है और काव्य मे ठूँस दिया जाता है। दूसरे अज्ञेय ने प्रभावों को स्वयं स्वीकारा है; पर वे कवि के अन्तस्तल में पच-पचा कर ऐसे वन गये है कि वे मौलिक तो लगते ही है, उनका प्रभाव वड़ा गुणकारी सिद्ध हुआ है। यही कलात्मक ग्रहण है।

अज्ञेय की परवर्ती कविताओं को आध्यात्मिक या नव-रहस्यवादी कह

कर आलोचकों ने उनके काव्य को आधुनिकता विरोधी, अनिवृत्तात्मक, पुनरावृत्तिवादी, अबौद्धिक और अवैज्ञानिक कहा है। आश्चर्य तो होता ही है उनकी बुद्धि पर तरस भी आता है। अज्ञेय रहस्यवादी नहीं है। विसगति, भटकाव, मृत्युदंश की पीड़ा, 'फस्ट्रेशन' और अपने मे ही अजनबीपन ठीक है, फिर आगे क्या? क्या अपनी स्थिति का यह स्वीकार ही कविता है? सवालों से घिरी जिन्दगी और जिन्दगी को घेरते हुए सवाल आज के आदमी को 'पैरेलाइज' किये दे रहे हैं; किन्तु क्या इस 'पैरेलैसिम' को स्वीकार कर घुटने टेक देना ही हमारी नियति है। ऐसा कभी नही हुआ। आदमी हमेशा लड़ा है और किसी नयी आस्था-नयी शक्ति का विश्वास लेकर जिया है। इन पर्वताकार प्रश्न-चिन्हों की चट्टानो को तोड़ने (सामाजिक दायित्व निभाते हुये) के लिए सदैव मानव-आस्था की जरूरत पडी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय निरन्तर इसी यात्रा के पथिक रहे हैं—आस्था के साथ। मार्ग मे अनास्था, सशय, अकेलेपन और भयावहता के बटमारो से लुटते-पिटते हुए भी वे निरन्तर एक खोज मे सलग्न रहे हैं। इस खोज मे उन्होने कितने सत्यो को देखा है—नगे, अधनगे और कितनी ही अन्तहीन सच्चाइयो को देखा और सहा है। उन्होंने एक व्यक्तित्व की खोज की है अपने मे और अपने मे बाहर भी। यह क्रम अभी भी जारी है। यह 'कन्टीन्यूटी' ही कवि धर्म है और सकलन आँगन के पार द्वार और कितनी नावो मे कितनी बार इसी नैरन्तर्य के सम्बल बनकर आये हैं। सकलन की कविताओं को टटोलने पर लगता है कि कोई भी सत्य अन्तिम नहीं है उपलब्धि आखिरी नहीं। सब निरन्तर अन्वेषण की भूमिका है। अन्वेषण-कभी न खत्म होने वाली प्रक्रिया है। रुकना बाधा है, सत्य का बदला हुआ रूप है। इसी से कवि को 'आँगन के पार द्वार के आगे आँगन' फिर आँगन और द्वार दिखाई देते हैं। सभी आँगन ही आँगन-भवन ही भवन है। ये सब अनवरत अन्वेषण के आयाम हैं।

'अज्ञेय' के सदर्भ से आज एक प्रश्न बडी तीव्रता से उठाया जा रहा है कि वे आधुनिकता से कटे हुए है। वे समय से कटकर आध्यात्मिक दुनियाँ मे शरण खोज रहे हैं। कितना हास्यास्पद सवाल है यह जो आज उसे झुठला रहे हैं वे ही उन्हे आधुनिक बता चुके है और सही बता चुके है। अज्ञेय आज भी आधुनिक है और समय से कतई कटे हुए नही है। हाँ, वे ऐसे ऊपरी चमक-दमक वाले आधुनिक नही जैसे ये नयी पीढ़ी वाले। वैसे वे कभी रहे भी नही क्योंकि उनकी दृष्टि मे आधुनिकता न तो 'फैशन परस्ती' का पर्याय है और न

जीवन के गलित और कुत्सित अंश को यथार्थ के नाम पर फैलाने वाली दृष्टि की 'गलीजता' का। उन्होंने स्वतंत्रता के पश्चात् उठे हुये संघर्ष और द्वन्द्व को सही मानियों में अनुभवा है। किसी स्थिति-विशेष से प्रेरित-होकर उसके ही हो जाना; उन्हें कभी सह्य नहीं रहा है। उन्होंने पिछले पच्चीस वर्षों में होने वाले संघर्ष, मूल्य जगत में व्यापी अराजकता, व्यक्ति जीवन की द्वन्द्वात्मक स्थिति, मूल्यहीनता और उसी में होने वाली मूल्यों की तलाश को पहचाना है। इस पहचान मे बौद्धिक दायित्व सदैव उनके साथ रहा है। यही कारण है कि उनकी बौद्धिकता ने उन सभी तत्वों को एक बारगी परख और विश्लेपित किया है जो आदमी और समाज को जड़ बनाये दे रहे थे। जड़ता से सजगता की ओर बढती अज्ञेय की यह खोज आधुनिक है। यह एक ऐसा चेतन और सक्रिय प्रवाह है जो उन्हें सही अर्थ मे आधुनिक बोध का कवि ठहराता है।

'अज्ञेय' की आधुनिकता मे मानव आस्था की गूँज सदैव से रही है। वे यथार्थजीवन की विकृतियों, विसंगतियों, मूल्यों की टकराहट, जीवन व्यापी कटुता, भयावहता और भटकाव सभी कुछ का अनुभव करते हैं, पर यह भी सोचते है कि यही काफी नहीं। मानव को इससे भी आगे जाने की जरूरत है। आखिर विरोधों और नकारों की डोर मानव को कब तक साधे रख सकती है? संशय, शंका और 'टेन्शन' के नाम पर भोगे गये यथार्थ और उसकी अभिव्यंजना को लेकर हम कविता को कब तक जिला सकेंगे? गलित, विद्रूप और लिजलिजी जिन्दगी का स्वीकार हमें कहाँ ले जायेगा? आखिर कहीं न कहीं किसी न किसी कोण पर तो हमे इसे छोड़कर जिन्दगी की नये सिरे से शुरूआत करनी होगी—ऐसी शुरूआत जिसमें मानव-मानव होगा और उसके भीतर निहित शक्ति पर हमे आस्था होगी। अज्ञेय निरन्तर इसी कोण से ऐसी ही एक खोज में लगे रहे हैं। यह खोज 'हरी घास पर क्षण भर' से ही शुरू हो गई थी और विशेपकर उस विन्दु से जबकि 'बावरा अहेरी' मे कवि ने कहा था—

पर नकारों के सहारे कब चला जीवन?
स्मरण को पाथेय बनने दो
कभी तो अनुभूति उमड़ेगी
प्लवन का सान्द्र घन भी बन।

'बावरा अहेरी' मे कवि जीवन की कुन्ठा व आन्तरिक जीवन के दमित अंगों से संतुलन स्थापित कर सहजता की ओर अग्रसर हो रहा है।

'कहाँ गया वह ज्वार हमारा जीवन वह हिल्लोलित सागर कैसे कहा गया ? "लो मुट्ठी भर/रेत उठाओ उसे अँगुलियो ने मे/वह जाने दो/वस यो इस यो मे ही ह/सव जिज्ञासाओ के उत्तर/फिर भी जीवन का कौतूहल है अदम्य/जीवन की आशा नही छोड सकती अन्वपरा/जसी पक्तियो मे लगता है कि कवि जीवन के हिल्लोलित सागर से हटकर एक आस्थामूलक दिशा मे खोज के पथ पर वढ रहा ह । अनुभूति के क्षणो के प्रति अपने को दे देने वाला कलाकार जीवन को उसकी समग्रता मे देख रहा ह और यही कारण है कि वह सव कुछ सहते और अनुभव करते हुये भी आस्था और शाति की तलाश के लिए लालायित ह । यह वात कविताओ के स्वभाव की सरलता और धीर, विनम्र उदात्तता से भी जानी जा सकती ह । अत यह सही ह, कि यह चेतना आधुनिकता विरोधी नही ह । कारण आधुनिकता के चेतन प्रवाह मे वाहरी परिवेश है, भीतर का विश्वास ह और एक तलाश है नये मूल्यो के सस्थापन की । यही आस्था 'इन्द्र धनुरोदे हुये' से लेकर 'आगन के पार द्वार' व 'कितनी नावो मे कितनी वार' तक फैली हुई है । 'म वहा हूँ' कविता मे अज्ञेय ने अपने को व्यापकत्व से जोडा ह । वह एक सेतु ह जो ह और जो होगा दोनो को मिलाता ह । जो ह वह समसामयिक परिवेश ह और जो होगा वह वदलते हुए परिवेश के साथ जुडी हुई आस्था ह । यह आधुनिकता विरोधी कैसे है ? इसमे जन-जीवन का परिवेश ह और मानव-प्रयत्नो की शृ खला ह जिसमे आज की कठिनाई को कल की आस्था मे वदलने का साहस है । वे मिट्टी खोदने वाले से लेकर महल वनाने वाले की साधना और आस्था से, खानो मे काम करने वाले, रिक्शा खीचने वाले, वर्तन साफ करने वाले, कपडा फीचने वाले, मशक से सडक सीचने वाले और विमानो को आकाश मे उडाने वाले की व्यथा मे विभिन्न प्रकार के श्रम मे लगे पीडित और दुर्जेय श्रमिक, शिल्पी और स्रष्टा के साथ अपना तादात्म्य जोडते प्रतीत होते ह । यह कविता पहले की होकर भी आज भी उतनी ही सच्ची ह । इसीलिये आधुनिक ह । अपराजेय मनुष्य का अभिनदन करने वाली यह रचना कवि की मानव पर टिकी आस्था को ही अभिव्यक्त करती ह ।

अज्ञेय की वाद की रचनाओ मे भी आधुनिक दृष्टि का चेतन प्रवाह वरावर देखा जा सकता ह । 'कितनी नावो मे कितनी वार' की कविताएँ तो खासी ताजा है । वे आधुनिकता विरोधी उन्ही को लग सकती ह जो 'ध्वजभग' की स्थिति से गुजर रहे हो या रहस्यवादी कवियो की प्रेतात्माएँ जिन्हे ऐसा

कहने के लिए मजबूर कर रही हों। नयी पीढ़ी के आधुनिक वोध वेत्ताओं से एक सलाह है:—वे किनारे-किनारे टहलने के वजाय भीतर जाने का खतरा भी उठायें; तभी वे 'अज्ञेय' या उन जैसों की आधुनिक चेतना को पहचान सकेंगे। 'आँगन के पार द्वार' की काफी चर्चा हुई है, पर उसमें अज्ञेय को पहचानने की कोशिश कम की गई है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने एक लेख में इसे 'रागात्मक ऐश्वर्य की रहस्यवादी परिणति' कहकर न केवल अज्ञेय को झुँठलाने की कोशिश की है; वरन् गलत तथ्य भी सामने रखे हैं। कई वार पढ़ने पर भी वे रहस्यवादी चेतना से अलग करके इसे नहीं देख सके। इसके लिए क्या कहा जा सकता है? सिवाय इसके कि एक समकालीन कवि ही उसे न जान सका जो कहा गया है। शायद 'ताजी कविता कुछ जोड़ बाकी' के शगूफे ने उन्हें सही सोचने से वंचित रखा हो।

यह माना कि इस संकलन में शून्य, महाशून्य, अल्प, अप्रमेय, महामौन, अतीन्द्रिय, रूपातीत व आत्मा आदि शब्दों के प्रयोग हैं और ये पहली साँस में पाठक को भरमा सकते है, किन्तु यह मानना भूल होगी कि कवि आध्यात्मिक स्तर पर उतर आया है क्योंकि ये प्रयोग ठीक वही अर्थ नहीं देते जो संतों के यहाँ देते हैं। संकलन में जीवन का स्पंदन है, आस्था की लौ का प्रकाश है और है विकृतियों व पाखण्ड से उवरकर संशय और दंभ के सर्प-शिशुओं का दंश सहकर भी अपने आपको जिन्दा वनाये रखने का साहस। साहस और आस्था की यह खोज ही 'आँगन के पार द्वार' में है। कविताओं में स्पंदित आस्था, विश्वास और कभी न हार मानने वाला साहस ही आज की परिस्थितियों में हमें किनारे पर ला सकता है। यदि यह सम्वल भी हाथ से चला गया तो हम 'शव मात्र' से अधिक न होंगे। 'चक्रान्त शिला' और 'असाध्य वीणा' के अलावा और भी कविताएँ संकलन में हैं और उनमें भी यही भाव है। वास्तव में आँगन के पार जो द्वार है वह अध्यात्मजगत नहीं और न कोई रहस्यलोक ही है। वह तो इसी संसार के आँगन का वह द्वार है "जो भीतर की ओर जितना खुलता है उतना ही वाहर की ओर भी।" वाहर को देखते समय जो संक्रान्ति उसे दिखाई देती है; वही उसे जीवनी-शक्ति वटोर लेने के लिए भीतर की ओर मोड़ देती है। वाहरी और भीतरी जगत की एकाकारता का अंकन करने वाली 'असाध्य वीणा' भी इसी खोज व मोड़ का परिणाम है। मैं समझता हूँ यदि अज्ञेय रहस्यवादी हुये होते तो वे 'सरस्वती-पुत्र' न लिखते 'वना दे चितेरे' का निर्माण न होता और न शायद वे 'अँधेरे-अकेलेघर में'

और 'अन्तः सलिला' कविताओं की कल्पना ही कर पाते ? इन कविताओं का संकलन में मूल्य है और ये उनके मन्तव्य को सम्प्रेषित करती जान पड़ती है। 'वना दे चितेरे में' जो कथ्य है वह रहस्यवादियों की सीमा मे भी दूर है। उसमें जिजीविपा को जो उत्कटता है वह अध्यात्मवादियो मे कहाँ मिलती है ? फिर 'हर टूटने में अपार शोभा लिये' वाली जो आस्था है वह तो किसी भी रहस्यवादी के वश की वात नही है। यह तो वही लिख सकता है जो मानव पर आस्था रखे और उसे ही विशिप्ट मानता हो। 'सरस्वती-पुत्र' के दूसरे अश के चित्रण और उसमें भी 'घिग्घ वँधती जाती थी' की विवशता की अभिव्यक्ति कितनी आधुनिक है ? क्या यह 'सरस्वती-पुत्र' भी रहस्यवादी लगता है। नहीं—कदापि नहीं। 'अन्तः सलिला' का सदर्भ भी नया है। इस अर्थ में आज का संघर्षक्रान्तमानव जो रेत से अधिक नही है अपने भीतर 'अन्तः सलिला' का रस लिये हुये है। जिन्दगी के थपेड़ों से टूटता, शुष्क और रेतीले व्यक्तित्व वाला मानव भी कितना ही कमजोर हो पर जीने की आस्था और जीवनी शक्ति से वह भी विरहित नहीं है। "जव-जव जहाँ भी जिसने कुरेदा नमी पायी और खोदा हुआ रस-सचार·······जो भी क्लान्त आया रुका लेकर आस" लिखने वाला कवि वाहरी दवाव, तनाव और ऐंठन सहता हुआ वाहर से ही तो रेत है, उसके अन्तर में जो अन्तः सलिला प्रवाहित है, उसे अनदेखा करके कवि को रहस्यवाद से जोड़ना मनमानी थोपना भले ही हो, कविता का सही मूल्याकन नहीं। 'चक्रान्त शिला में 'टाइम एण्ड स्पेस' को ध्यान में रखकर वहुत कुछ लिखा गया है। दिशा और काल के आयामों के वीच में भूलता मनुष्य कितना छोटा, अजनवी और विवशता का प्रतीक वनकर रह गया है; यह भी इन कविताओं की आत्मा मे स्पंदित है।

'अन्तः सलिला' में कवि पूरा सजग और ईमानदार है उसमें आत्मान्वेपण की व्यग्रता है। इस प्रक्रिया में सभी हाथ लगे सत्य उसे अर्थहीनतर वनाते जाते हैं क्योंकि उसे कोई भी प्राप्ति व उपलव्धि अन्तिम सत्य नहीं लगती है। इसी से वह रिक्तता, अर्थहीनता और निरर्थकता के वोध से भर उठता है।[१] सतत अन्वेपक और जिज्ञासु कवि अभिव्यक्ति से वचता है क्योंकि व्यक्त होकर वह रिक्तता नहीं चाहता या कहें कि जव अभिव्यक्ति के लिए तलाशे गये माध्यमों की भीड़ की भीड़ सामने आ जाती है तो उसका अभिव्यक्तिगत आवेश निरर्थक हो जाता है। कभी-कभी अभिव्यक्ति के सही उपादान के अभाव में भी कवि अनभिव्यक्ति की पीड़ा और दंशना को भोगता है :

पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था :

---

१. दिया जलाया :
अर्थहीन आकारों की यह
अर्थहीनतर भीड़ : अंधकार में दीप. पृष्ठ १८

दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी[1]

और अनभिव्यक्ति का दंश :

यों न जाने कब यहाँ
वह साँझ ओझल हो गई
और मेरे लिये यह
सूने न रहने की
रीते न होने की
....बाँझ अनुकंपा समाज की
कितनी ओझल हो गयी।[2]

इस प्रकार अभिव्यक्ति का भय और अनभिव्यक्ति का संकटपरक दंश दोनों ही अन्वेषक कवि के मर्म को छीलते है। यह छीलन कवि की निजी होकर भी कितनी सबकी है। यह अनभिव्यक्त अभिव्यक्ति 'यूनिवर्स' की है, यह बोध की चीज है। अभिव्यक्ति के माध्यमों की भीड के अलावा सृष्टि व्यापी अजनबी लोगो की भीड जिसमे कोई आत्मीय चेहरा नही, कवि को पीडा देती है। वह अनुभव करता है कि वह भीड से घिरा रहकर, लोगो की आवाजे सुनकर और उनकी....उपस्थिति के बीच भी अकेला है निपट अकेला।[3] अत उसके भीतर एक प्रक्रिया चलती है, दाता जगता है और फिर वह विवेक की दीप-शिखा से ज्योतित होकर विराट की ओर बढता है। कहना गैर जरूरी है कि अन्त सलिला की कविताएँ निष्ठा, विश्वास और संकट को एक साथ व्यक्त करती चलती है। मानव-आस्था की खोज मे कवि बराबर पीडा और त्रास के किनारो को छूता हुआ आगे चलता गया है। इस प्रकार उसकी आधुनिकता के सम्बन्ध मे कोई प्रश्नचिन्ह नही लगाया जा सकता है।

'चक्रान्तशिला' की कविताओं मे भी अभिव्यक्ति का संकट है, माध्यमों की उपेक्षा है क्योंकि वे निरर्थकता की सीमा रेखा पर खडे है। अत वह 'मौन' की ओर बढता है। 'मौन' मे सारे माध्यम आकर सिमट जाते है, अपनी इयत्ता खो बैठते है। इसीमे कवि 'मौन' है। आत्मान्वेषण ही उसे महत्वपूर्ण दिखाई देता है। "मैं सुन लूँगा/तू नही कहेगा आस्था है नहीं कहूँगा तब मै सुन लूँगा/और 'एक चिकना मौन/जिसमे मुखर तपती वासनाएँ/दाहगोनी लीन होती है।" उसी मे स्वहीन तेरा गूँजता है/छंद स्तत विसृप्त होता है।" जैसी

---

१ सरस्वती पुत्र पृष्ठ ११ २ सूनी सी सांझ एक पृष्ठ २८
३ अन्तरग चेहरा, पृष्ठ २२

पंक्तियों में मौन का ही उदात्त स्वर है। यह उदात्तता और विराटता सृष्टि के प्रत्येक स्पन्दन में जुड़ी हुई है, 'यूनिवर्स' से कटी हुई नहीं है वरन् सृष्टि के सृजन-विसर्जन में बराबर साथ है—छूट नहीं गयी है :

"मैं सोते के साथ बहता हूँ।
पक्षी के साथ गाता हूँ
वृक्षों के कोंपलों के साथ थरथराता हूँ
और उसी अदृश्य क्रम में, भीतर ही भीतर
झरे पत्तों के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता"[1]

इस तरह चक्रान्त की कविताओं में कवि विराट की पहचान करता है। वह उसको अपने भीतर देखता है और मौन को वरता हुआ अपना सम्बन्ध इस 'यूनिवर्स' से—विराट से जोड़ता है।

'चक्रान्त शिला' की कविताएँ एक विशिष्ट मनःस्थिति की द्योतक हैं। लगता है अज्ञेय का कवि मन शक्ति संचित कर अपने समूचे व्यक्तित्व के सहारे सत्यान्वेषण के लिए प्रयत्नरत है। आदमी के भीतर जो विशिष्ट है वही सत्यान्वेषक हो सकता है और वही है जो तमाम अस्वीकारों, निषेधों और तनावों के बावजूद आदमी को जीने की हिम्मत देता है—ऐसी खोज के लिए प्रेरित करता है जो आस्था और उल्लास के साथ जिन्दगी बिताने की शक्ति दे। कारण मृत्यु का बोध और दबावों में पिसती स्थिति में ही रमे रहने से तो काम चलने वाला नहीं है। उसके लिए कुछ ऐसे मूल्य खोजने होंगे जो बराबर जीवनी-शक्ति देते रहें और ये तत्व मनुष्य का विराट रूप ही हो सकते हैं। इन कविताओं में जिस 'मौन' की चर्चा है वह बौद्ध ध्यानियों का वह मौन है जो सत्य का व्याख्याता है और मुखरता उसके लिए अनावश्यक है। मौन ही सबसे बड़ी वाणी है क्योंकि अन्तर्दृष्टि का मूल्य है, न कि वाणी का। यह मौन और मौन के सहारे आत्मान्वेषण और फिर आस्था के साये में अपनी जीवनी शक्ति की पहचान ही अनेक कविताओं का प्रतिपाद्य है। अपने माध्यम से विराट की पहचान और उसकी अपने ही भीतर अनुभूति और फिर उसका ही दान यदि किसी को रहस्यवादी लगता हो तो वह इसका खूब विज्ञापन करे, कौन रोकता है? हाँ, 'ध्यान-सम्प्रदाय' के प्रभाव की चर्चा जो डॉ० कृष्णकुमार शर्मा ने अपने निबन्ध में की है, वह सही लगती है। अज्ञेय का जापानी देशों

१. वन में एक झरना बहता है : पृष्ठ ४०

का भ्रमण और पहले से ही बौद्ध धर्म में आस्था आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो ध्यान सम्प्रदाय के आधार पर उनके काव्य की परीक्षा करने की प्रेरणा दे सकते हैं।[1] स्मरणीय यह है कि ध्यान साधना रहस्यवादी सीमा में नहीं आती है उसमें जो व्यावहारिकता है वह द्वैत, अद्वैत और रहस्यवाद के झगड़े से दूर है। संकलन में आये 'शून्य', 'आत्मा', 'विराट' आदि शब्द पारम्परिक अर्थ में व्यवहृत नहीं लगते है। यदि 'शून्य' रहस्यवादियों का होता तो कवि यह नहीं लिखता :

"शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को वरजता हूँ
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है।
मैं स्वयं उस ज्योति से
अभिषिक्त सजता हूँ।"

'चक्रान्त शिला' की १९ वीं कविता को ध्यान से देखा जाय तो पता चलता है कि 'बीहड़ काली शिला' अँधेरे समय का, काक काल का और धवल-शिला मानव के भीतरी वैशिष्ट्य से उल्लसित आस्था और जीवनी शक्ति का प्रतीकार्थ लिए हुए हैं। अंधकार में भागता हुआ समय और उसमें होने वाले अन्तहीन चक्रान्त—षडयन्त्र या दुरभिसंधियाँ मनुष्य को मृत्यु की ओर खीचे लिये जा रहे है। यदि जीना है तो आस्था और साहस का योग ही हमें सहारा दे सकेगा।' आलोकस्नात उजला ईश्वर योगी कोई दूसरा नहीं मानव का भीतरी वैशिष्ट्य है। यही वह है जो किसी भी संघर्ष से नहीं थकता है और तमाम जीवनी शक्ति—मनःशक्ति बटोर कर उस लिखित को मंद स्मित से मिटा रहा है जो जिन्दगी को शव-पूजा की ओर ले जा रही है। फिर कवि का यह कथन कि 'योगी वह स्मिति मेरे भीतर लिख दे" जिस मानव-आस्था की खोज का परिचायक है वह तो आँगन के पार द्वार का प्रतिपाद्य है, वही वह द्वार है जो भीतर-बाहर दोनों ओर खुलता है।

'असाध्य वीणा' एक विशिष्ट और अपवाद स्वरूप लिखी गई रचना है। यह अज्ञेय जैसे शिल्पी के रचना कौशल का ही परिणाम है कि वह चीनी कथा पर आवृत होकर भी भारतीय संदर्भ मे देखी और पढ़ी जा सकती है। यह एक लम्बी कविता है, किन्तु अभिप्रेत को व्यक्त करने मे कही भी शिथिल

१. विस्तार के लिए 'अध्ययन और अन्वेषण' में डा० शर्मा का लेख देखिये।

नही लगती है । इसमे ग्राये वर्णन चरित्राकन, भाव-राशि ग्रौर शिल्प के क्षेत्र मे प्रयुक्त सही शब्दो के द्वारा प्रस्तुत ध्वन्यात्मकता बेजोड है । नरेन्द्र शर्मा ने ग्रपने एक लेख मे वह कथा दी है जिससे 'ग्रसाध्य वीणा' प्रभावित है । उस कथा को पढने से लगता है कि लुगमिन खाल मे एक विशाल-कीरी वृक्ष था, जो वन का मुकुट जैसा दीखता था । उससे ही वीणा का निर्माण हुग्रा था । इसका बजाना सबके वश मे नही था । ग्रनेक वादक प्रयत्न कर हार गये, पर ग्रन्तत वीनकारो का राजकुमार पीवो ही उसे साध सका । पहली बार उसने ऐसी तान छेडी कि उसमे निसर्ग-शोभा, ऋतु चक्र ग्रौर जलधारा के प्रवाह का वर्णन था । गायन से पूर्व काल के विशाल कीरी वृक्ष की सचित स्मृतियाँ जाग उठी जैसे वृक्ष फिर से जी उठा । पीवो ने स्वर बदला ग्रौर प्रेम का गीत गाने लगे । फिर राग बदला ग्रौर युद्ध का गीत गाने लगा ।' पीवो ने वाणी साधने का रहस्य बतलाया कि मैं तो ग्रपने ग्रापको भूल गया था । मै स्वय भी न जान सका कि वाद्य यत्र पीवो है या पीवो वाद्य यत्र । यहाँ चीनी कथा का सकेत भर है ।

ग्रज्ञेय ने इस कथा का भारतीयकरण किया है । वे ग्रतीत की इस कथा को नयी सज्जा दे सके है ग्रौर इस सफलता का कारण ग्रज्ञेय की प्रतिभा है ग्रौर वह एकाकारता जो कविता से ध्वनित होती है । 'कीरी' को 'किरीटी' ग्रौर 'पीवो' को प्रियवद कहकर उन्होने इन नामो को भारतीय सदर्भ दे दिया है । यही वजह है कि कवि की कलात्मक कारीगरी से वह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि प्रान्तर से ग्रायी बतलाई गई है । इसका परिचयात्मक वर्णन, विवरण ग्रौर उसे शब्दो का जामा पहनाने वाली पद्धति भी एकदम भारतीय लगती है । शब्दावली क्लिष्ट है । प्रवाहमय वर्णनो से सजी ग्रतिशयोक्ति का रग पाकर भी स्वाभाविकता की रक्षा करने वाली यह कविता बेजोड है । इसमे निहित ध्वन्यात्मकता ग्रौर शब्दो की सही पकड ग्रज्ञेय की इतनी सधी हुई है कि कथ्य की एक दो ग्रसगतियो की ग्रोर तो हमारा ध्यान भी नही जाता है । नाम, घटना ग्रौर दृश्याकन इस चतुराई से किया गया है कि वह ग्रपनी जानी-पहचानी कथा लगती है ग्रौर चीनी कथा तो जैसे भारतीय सदर्भ के प्रवाह मे कही की कही बह गई है । ध्वन्यात्मकता के साथ-साथ एक विशेषता ग्रौर है कि ग्रानन्द की ग्रनुभूति पात्र की भावना के ग्रनुकूल होती है । यह निष्कर्ष ग्रसाध्य वीणा के सिद्ध हो जाने ग्रौर उससे निकली सगीत की ध्वनि का राजा, रानी ग्रौर प्रजाजनो द्वारा ग्रलग-ग्रलग सुने जाने से निकलता है । वस्तुत यह

कविता परिस्थिति विशेष की उपज है। यह विशेष मनःस्थिति और कुछ विशेष क्षणों में लिखी गई है तभी तो अतीत की साधना इस स्तर पर अभिव्यक्ति पा सकी है। प्रयोगशील कवि की लेखनी से लिखी जाने पर भी इसमें एक ओर अतीत की स्थिति है और दूसरी ओर 'युग पलट गया' की सांकेतिक व्यंजना से वर्तमान के परिवेश से जुड़े रहने की ललक। बीनकार प्रियंवद वीणा को साधने के बजाय स्वयं को शोधता है, अपने आस-पास के परिवेश को भूलकर उसी के प्रति समर्पित हो जाता है। यह स्थिति मौन रहकर अपनी अन्तःशक्ति की खोज है। बाहर से भीतर की ओर मुड़ने की यही प्रक्रिया है। कविता से जो निष्कर्ष निकलता है वह स्वयं को देकर ही सत्य की प्राप्ति का सूचक है। यह भी बौद्ध ध्यानियों की क्रिया के ही अनुरूप है—कोई अध्यात्मजगत नहीं।

वीणा को साधने का काम अपनी शोधना के अभाव में सम्भव नहीं है यह आत्मान्वेषण भी है और उसका शोधन भी। वात्स्यायन जी का शोधन तलाश का हल्का अर्थ भी दे रहा है, पर मुख्यतः यह परिशोधना ही है, अपने को संस्कारमुक्त करके अपने को उपलब्ध करने की प्रक्रिया है। इस शोध की उपलब्धि अपने अस्तित्व को उन्हीं बाह्य उत्पादनों और उनसे उत्पन्न आदिम अनुभूतियों को जिन्हें अपनी साधना में वज्रकीर्ति ने पाया था, व्यक्तिगत रूप में समर्पित कर देने ही से सम्भव हो सकती है।"[1]

मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा
नहीं स्वयं को शोध रहा था।

एक बात और है कि 'असाध्यवीणा' के निर्माण की प्रक्रिया रचना प्रक्रिया और प्रेषणीयता का प्रतीकत्व लिये हुए है। उसमें एक ओर रचना प्रक्रिया का संदर्भ है तो दूसरी ओर प्रेषण-प्रक्रिया की भूमिका भी है। अपने को शोधना आत्मविसर्जित होना है—अहं का विलयन है। यह विसर्जन और विलयन जहाँ सर्जना की अपरिहार्य शर्त है; वहीं सम्प्रेषणीयता के साथ अलग-अलग होने की प्रक्रिया भी है। यही वजह है कि संगीत की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न धरातलों पर होती है। हरेक को अपने निजीपन का अहसास होता है :

सबने अलग-अलग संगीत सुना
इसको वह कृपा वाक्य था प्रभुओं का

1. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ० २३१

उसको आतंकमुक्ति का आश्वासन
इसको वह भरी तिजोरी मे सोने की खनक
उसे बद्‌ली मे बहुत दिनो के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद
किसी एक को नई वधू की सहमी सी पायल ध्वनि····

इससे कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि कला विशिष्ट तो है, किन्तु उसकी यह वैशिष्ट्यपरक दृष्टि यदि अलग-अलग चरितार्थता नही पा लेती तो वह व्यर्थ ही है।

संकलन की शेष कविताओ मे जो उल्लेख्य है, वे है–'पहचान,' 'झील का किनारा,' 'पलको का कँपना', 'सूनी सी साँझ'। ये प्रेम और प्रियभाव विषयक रचनाएँ है। प्रेम का परिष्कृत रूप ही शुद्ध अनुभूति के धरातल पर व्यक्त हुआ है। 'पहचान' मे पुर्नमिलन के क्षण की अनुभूति है तो 'झील का किनारा' मे प्रथम पारस्परिक समर्पण के क्षण की अनुभूति है जो फिर दुहराई न जा सकी। 'पलको का कँपना' मे मधुर मादक सौन्दर्यांकन है। 'पास और दूर' मे जीवन का अनुभव संचित है। सबमे समीपस्थ ही दूर और क्रूर सिद्ध होता है, किन्तु जो दूर रहकर आघात देते रहते है वे अच्छे है क्योकि वे कम से कम कुछ सोचने और जीवन निर्माण का अवसर तो देते है.

सागर से सागर जोड गये
मिटा गये अस्तित्व
किन्तु वे
जीवन मुझको सौप गये।

'अंधकार मे दीप' विचार तत्व से ओत-प्रोत कविता है। जब तक अंधकार है तब तक वह एकाकार रहता है, किन्तु इस 'एकाकारता' को देखने के लिए दीप जलाने पर वह तो विलीन हो जाता है, केवल अर्थहीन आकारो की अर्थहीनतर भीड़–निरर्थकता व नकारो का निर्जल पारावार उमड़ता दिखाई देता है। 'सूनी सी साँझ एक' मे सूनापन और उदासी का वातावरण है। कवि की मान्यता है कि यदि सूनापन–अकेलापन और उदासी भी यदि सही और अच्छी हो तो क्या बुरा है ? उदासी का लावण्य भी किसी से घटकर नही है। कविता के अन्त मे यही सूनी सन्ध्या व्यंग्य का माध्यम बनती है। अनुभूति तो एकान्त और मौन होती है, पर समाज उसे भी अपने आघातों से सूनी कहाँ रहने देता है ? कुल मिलाकर 'आँगन के पार द्वार' का समग्र प्रभाव न तो आधुनिक बोध से कटा हुआ है और न अध्यात्मवादी ही। उसमे आई शब्दावली

वैसा आभास भर देती है और आभास में सत्यांश कम और आरोपण अधिक होता है। सचाई यह है कि इसमें शुद्ध अनुभूति रचनात्मक स्तर पर उद्घाटित होने से रहस्य सी लगती है, वैसी है नहीं।

'मुक्तिबोध' और 'अज्ञेय' दोनों ने दो लम्बी कविताएँ दी हैं : 'अँधेरे में' और 'असाध्यवीणा'। यह कहना जरूरी नहीं लगता कि दोनों कविताओं के शिल्प और गठन में काफी अन्तर है। दोनों का भावबोध अलग पहचाना जा सकता है। एक में आजादी से पहले और बाद के जन-जीवन का संदर्भ है, उसकी मुक्ति के लिए छटपटाहट, धरती की माँग और समाज की विरूपताओं का करीबी भाषा में आलेख है तो दूसरी में आन्तरिक और वाह्य अभिव्यक्ति का अन्वेषण है और वह भी सत्यान्वेषण की साधनात्मक रचना-प्रक्रिया द्वारा। 'मुक्तिबोध' ने जहाँ सारे त्रास, तनाव, आहत और दहला देने वाली कशमकश के दौर से गुजरते हुए तेज तर्राट भाषा में अपनी प्रक्रिया की तलाश की है, वहीं अज्ञेय ने एक सुथरी हुई, संयमित आवेश रहित और बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में अपनी प्रतिभा से उसे खोजा है। स्थितियों का तनाव, दंश और दिल हिला देने वाले संकट का बोध 'मुक्तिबोध' में कहीं ज्यादा है। वे इस भूमिका को भलीभाँति, या कहें कि अज्ञेय की तुलना में, कहीं कलात्मकता से निभा गये जबकि अज्ञेय में इस स्थिति की पूर्णता तो मिलेगी, किन्तु आवश्यक संतुलन और सामंजस्य के साथ। हाँ, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मुक्तिबोध में युग का सकट तीखा, तल्ख और ज्यादा स्पष्ट है।

किन्तु फिर भी दोनों कविताओं में आत्मान्वेषण की रचना-प्रक्रिया की तलाश का बिन्दु एक है। दोनों ही कवि आत्माभिव्यक्ति की स्थिति से गुजरते हैं। मुक्तिबोध उस आदमी की तलाश में है जो बाहरी दंश से पीड़ित होकर कहीं छूट गया है, भटक गया है तथा जिसकी स्थिति संकट के बोध के निकट है। अज्ञेय की तलाश बाहरी कम भीतरी अधिक है। अपने को शोधने की प्रक्रिया अज्ञेय में है। वीणा को साधना निष्ठा के सहारे सम्पन्न हुआ है और उसमें न तो तनाव है और न कोई भय ही। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए मुक्तिबोध बाहरी दुनियाँ में घूमते हैं और उसे अपने से जोड़ देते हैं जबकि अज्ञेय अपने को शोधते हुए अपने में ही समस्त सृष्टि को देखते है। तलाश दोनों ने की है, एक ने बाहरी दबावों से होकर और दूसरे ने साधनात्मक प्रक्रिया के द्वारा।

अज्ञेय की काव्य-यात्रा मे आया **'कितनी नावों में कितनी बार'** संकलन भी मानव-आस्था की खोज है। उसमें भी एक आधुनिक का

सत्यान्वेषण है, व्यक्तित्व की खोज है—निरन्तर खोज। ठहराव, ठंडापन और पलायन का भाव उनमें नहीं है, वरन् इनके विपरीत एक कवि की निरन्तर बढ़ती हुई जिज्ञासा और नये-नये संदर्भ खोजने वाली चेतना का सक्रिय प्रवाह है। संकलन की कुछ कविताओं में अस्तित्ववादी चेतना का प्रसार है तो दो तीन कविताएँ ऐसी हैं जिनमें अज्ञेय की राष्ट्रीयता और नागरिकता का उद्‌घोष है। युद्ध संदर्भ की कविताएँ अपने समसामयिक परिवेश और तत्सम्बन्धी चिन्तन का परिणाम हैं। अंधकार में जागने वाले और 'युद्ध विराम' इस संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। एक में आज के व्यक्ति का अकेलापन और मामूलीपन व्यक्त हुआ है। कवि की पकड़ आधुनिक है। आज के व्यक्ति का संकट और विवशता भी इनमें अभिव्यक्ति पा सकी है। यह अकेलापन और मामूलियत ही ज्यादा विश्वसनीय है क्योंकि यही है जिस पर उसे अधिकार है। साथ ही यही वह स्थिति है जिसके सहारे व्यक्ति दूसरों की जिन्दगी जीता है—कितने ही नामहीनों की जिन्दगी जीता हुआ भी वह अँधेरे में फिर अकेला और मामूली छूट जाता है। यही तो विवशता है, पर मानव आस्था का साया उसे फिर समूह में विलय कर देता है और :

> मेरी मामूलियत एक सामर्थ्य, एक गौरव,
> एक संकल्प में बदल जाती है।
> जिसमें मैं करोड़ों का साथी हूँ।

अकेलेपन की यह अनुभूति, यह संकल्पमयी स्थिति कितनी देर रह सकती है? क्योंकि विवशता यह है कि सबके नियत कर्म हैं, हम सब एक सीमा में बँधे हैं। अकेलेपन की अनुभूति में कवि कितने ही देश की आन पर मिटने वालों, बमसार विमान गिराने वालों, वीरों और उन सबकी जिन्दगी जीता है जो गिरे और प्रतीक्षा में रहकर उठाये भी नहीं गये। कवि की यही वह दृष्टि है जिसमें वह अपने माध्यम से भीड़ को, देश को और देशवासियों को जानने की कोशिश करता है। इसे वैयक्तिक परिवेशवादी दृष्टि कहकर उपेक्षित नहीं ठहराया जा सकता है। यह ठीक है कि हर व्यक्ति अपने नियत परिवेश में बँधा है पर :

> इस सबसे क्या
> उस सबसे क्या
> किसी सबसे क्या
> जबकि अकेलेपन में

एक व्याप्त मामूलीपन का स्पंदन है
और वह व्याप्त मामूलीपन एक डोर है
जिसमें हम सब
हर अकेली रात के अँधेरे में
एक सम्बन्ध और सामर्थ्य और गौरव की लड़ी में
बँधते हैं—
हम, हम, हम, हम भारतवासी ?

ये पंक्तियाँ बतलाती हैं कि हर आदमी अपने में अकेला है फिर भी 'हम सब' है और उसकी यह नियति है या विवशता है कि फिर अकेला छूट जाता है। वस्तुतः यह कविता संकलन की श्रेष्ठ कविताओं में से है। इसमें राष्ट्रीयता का एक नया संदर्भ उद्घाटित हुआ है। इसमें परिस्थिति-विशेष से उत्पन्न हल्की और आवेशमय तीव्र प्रतिक्रिया नहीं है, वरन् यथार्थता का सीधा अंकन है। 'युद्ध विराम' में पाकिस्तान से हुए युद्ध का संदर्भ है। समसामयिकता इसमें है और संघर्षक्रान्त परिवेश का तीखा और मार्मिक अंकन भी, पर यह उपर्युक्त कविता की अपेक्षा हल्की रचना है। इसके कुछ स्थल 'वक्तव्य भर' या ऐसे अवसरों पर दिये गये राजनैतिक भाषण भर लगते हैं। आक्रान्ताओं की पाशविकता पर घृणा और व्यंग्य के छींटे हैं तो भारत जैसे शांतिप्रिय देश का परिचय "बन्दूक के कुन्दे से हल के हत्थे की छुअन हमें अब भी अधिक चिकनी लगती है," कहकर दिया गया है। राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का यह नया ढंग है और आधुनिक ढंग है। फिर पता नहीं कैसे कह दिया जाता है कि अज्ञेय चुक गये हैं, समय से पीछे हैं।

'ओ निस्संग ममेतर', 'इतनी बड़ी अनजानी दुनिया', 'पक्षधर', 'उधार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'काँच के पीछे मछलियाँ, और 'गृहस्थ' आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनके सहारे अज्ञेय के मन्तव्य को समझा जा सकता है। 'ममेतर' ब्रह्म नहीं है। वह तो अपने से बाहर वाला व्यक्तित्व है, कवि से बाहर का संसार है। वे अपने माध्यम से 'ममेतर' को पहचानते हैं। यही अनदेखा और अरूप भी है क्योंकि इसमें रहकर भी वह इससे निस्संग है, उससे (यूनिवर्स से) कटा हुआ है। वह यह तो सोचता है कि 'मैं ही विश्व हूँ, विराट हूँ' पर उससे उसका सम्बन्ध घनिष्ठ जुड़ा हुआ नहीं है। 'ओ निस्संग ममेतर' में वह यही कहता, —"मैंने तुम्हें केवल मात्र जाना है, देखा नहीं मैंने कभी, सुना नहीं, छुआ नहीं, किया नहीं रसास्वाद ओ स्वत: प्रमाण मैंने तुम्हें जाना,

केवल मात्र जाना है।" यदि कमी भोगा भी तो अनुभूति के स्तर पर ही क्योंकि वह एक ऐसी चीज है जिससे कुछ भी बच नहीं पाता है—"जीवनानुभूति तो एक पंजा है," जिसकी पकड़ में सभी कुछ आ जाता है। 'यह इतनी बड़ी अनजानी दुनियाँ है' का संदर्भ भी अकेलेपन और अजनबियत का संदर्भ है। आदमी भीड़ में खो रहा है। उसकी अनपहचान व अजनबियत ही उसकी पहचान है। कारण वह महासागर में पड़ी एक बूँद भर है। उसका अस्तित्व दब सा गया है फिर भी उसके भीतर अविराम भीड़ उमड़ती आती है। यही कारण है कि वह अपने से अजनबियत महसूस करता हुआ भी उसे छोड़ने को तैयार नहीं है—जीने की लालसा बराबर बनी हुई है।

'कितनी नावों में कितनी बार' कविता में स्वाभाविकता और सहजता है। इसका संदर्भ और कथ्य आधुनिक दृष्टि का परिणाम है। उसमें एक ऐसी चेतना है जो कवि की पहचान में सहायक है। अखण्ड मानव आस्था का पक्षधर और सतत जिज्ञासु कवि यही कह सकता है : धीर आश्वस्त, अक्लान्त अपने अनबूझे सत्य के प्रभा-मंडल की ओर कितनी नावों में कितनी बार हो आया हूँ जहाँ............

एक नंगा तीखा निर्मम प्रकाश
जिसमें कोई प्रभामण्डल नहीं बनता
केवल चौंधियाते है तथ्य-तथ्य-तथ्य—
सत्य नहीं, अन्तहीन सच्चाइयाँ।
कितनी बार मुझे
खिन्न विकल संत्रस्त
कितनी बार !

अज्ञेय की आधुनिकता की परीक्षा के लिए और ताजगी की पहचान के लिए संकलन की 'पक्षधर' कविता भी अविस्मरणीय है। जन्म लेने का अर्थ पक्षधरता है, जीने की लालसा ही युद्ध की तैयारी है। आदमी अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक रहे, परिवेश को पहचाने और उसका पक्षधर बनकर भी कदम-कदम पर यह पहचाने कि 'अब से हरक्षण में, हर दुख दर्द, पराजय और क्षति में' भी अपने को नित्यप्रति जन्मते चलता है। हर साँस मुक्ति की साँस हो इस आशय के साथ कि हर पक्षधर को हमें वैसी ही मुक्ति और वैसा ही उल्लास देना है। यह दृष्टि अत्याधुनिक है। अस्तित्वाद से भी आगे की जीवनवादी दृष्टि है—आस्थावादी दृष्टि है। अस्तित्ववादी तो हमें केवल अपने

प्रति सतर्क भर रहने की दृष्टि देता है। उसकी सीमा है। वह सीमा में वरण का अधिकार है। कवि ने लिखा है।

अपनी पहली साँस और चीख के साथ
हम जिस जीवन के
पक्षधर बने अनजाने ही,
आज होकर सयाने
उसे हम वरते है।
उसके पक्षधर हैं हम—
इतने घने
कि उसी जीने और जिलाने के लिए
स्वेच्छा से मरते हैं।

कैसी विडम्बना है ? पक्षधरता सयाने होने पर भी वरण की जाती है और उसे बनाये रखने के लिए इन्सान स्वेच्छा से मरता रहता है। अज्ञेय का मन्तव्य यह है कि हर व्यक्ति को नित नये संदर्भों में उसी के अनुकूल बदलते रहना चाहिये। 'पक्षधरता' से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर संघर्ष करना जरूरी है—इसलिए कि हमें जीना है। अपने जीवन के लिए आमरण अविराम युद्ध करना जरूरी है। मृत्यु के ऊपर भी विजय पानी है। ऐसी जीवनी शक्ति और आस्था ही हमें सही अर्थों में जयी बना सकती है।

'गृहस्थ' कविता में कवि ने वही पहले वाला भाव दुहराया है—एक के माध्यम से अनेक को देखने समझने वाली अनुभूति। 'सूनी हैं साँसें' में मानव के भीतरी सहचर का परिणय है—मुक्तिबोध की तरह। वह सहचर ही मानव के भीतर का देवता है जो हरदम साथ रहता है, किन्तु कोई भी आदमी उसे सामने नहीं आने देना चाहता है। कारण हरेक अपने आप से ही अपने आपको छिपाता रहता है शायद इसलिए कि—'ओट थोड़ी बने रहना ही भला है।' यही बड़ी जबरदस्त बात है और हरेक इस स्थिति से गुजरता है। ये कुछ ऐसे संदर्भ है जिनमें आज के संकटग्रस्त मानव की सही स्थिति, विवशता और विडम्बना व्यक्त हुई है। आधुनिक जमाने की फैशन परस्ती या गलित यथार्थ के घिनौने चित्रांकन से तो मात्र यह जाना जा सकता है कि कवि उस बदलते परिप्रेक्ष्य बिन्दु पर उपस्थित है। सही बात यह है कि उस बिन्दु पर कलाकार की उपस्थिति ही काफी नहीं है वरन् उससे उत्प्रेरित प्रतिक्रिया की सही और संतुलित—ऐसी संतुलित उपस्थिति जो कोई मूल्य

प्रस्तुत कर सके; आवश्यक है। यही कारण है कि इसकी तुलना में कदम-कदम पर बदलते यथार्थ की आवेशी भाषा में सतही अभिव्यक्ति हल्की पड़ जाती है। अज्ञेय इससे बचे हैं, यह शुभ लक्षण है। आज हमें जो जिन्दगी मिली हुई है वह उधार ली हुई जिन्दगी है, उसमें हम 'अपनेपन' में कहाँ है। ऐसा कितना हमारे पास है जो केवल हमारा है। जिन्दगी के पर्याय रूप में हमें आकुलता, अचकचाहट, अकेलापन, असमंजस और असहायता ही तो मिली है। यह 'क्राइसिस' है जिसे हमें भोगना पड़ रहा है और अज्ञेय ने इसे पहचाना है [उधार कविता]। वे सतत जिज्ञासु हैं। उनके अपने व्यक्तित्व की ही खोज उन्हें अपने से बाहर ले जाती रही है। इसीलिए वे यह कह सके हैं :

'अंधकार में अकेले सहसा जागकर पहचाना कि
जो मेरा है, वही ममेतर है।'

समकालीन मानव–चेतना जिस मूल्यगत संक्रमण को भोग रही है उससे उसका अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। इसलिए जीवन में क्षोभ और आवेश आता जा रहा है। कवि इसे अभिव्यक्त करने के लिए खतरे उठा रहा है। अज्ञेय इस संक्रमण के सामने कायरता से समर्पित नहीं हैं। वे निषेध के सहारे नहीं वरन् एक स्वीकार के साथ उस विन्दु पर उपस्थित है जहाँ अपने रहस्य के साथ अकेले रह जाते हैं :

सन्नाटे से घिरा
अकेला
अप्रस्तुत
अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र
निष्कवच
वध्य।

अकेले रह जाने पर भी पराजय का भाव यहाँ नहीं है। संकलन में कितने ही ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि ने आधुनिक परिवेश को वड़ी सीधी और सरल भाषा में व्यक्त कर दिया है। जिन्दगी कुछ ऐसी बनती जाती है कि आदमी खुद कम दूसरों द्वारा ज्यादा जिया जाता है। मानो उसकी स्थिति ही दूसरों को जीने और खुद दूसरों द्वारा जिये जाने में है—'हर आदमी एक दूसरे का दहेज है' वाली स्थिति 'संध्या संकल्प' कविता में उभर कर आई है। यों इस कविता का मूल भाव दूसरा है। अपनेपन का है जो स्वेच्छा से भीतर से बाहर को दिया गया है। 'प्रातः संकल्प' भी ऐसी ही कविता है जिसमें कवि

अपने भीतर वाले मानव के प्रति झुका हुआ है जहाँ वह है और उसके सामने फैला 'यूनीवर्स' है। हाँ; तो हर आदमी कितने ही संदर्भों में जिया जाता है। क्यों ? आखिर क्यों ? इसलिए कि हमारे नाते-रिश्ते टूट गये हैं, हम बिखर रहे हैं, हमारे सम्बन्ध बिखर रहे हैं, तभी तो 'नाता-रिश्ता' और 'काँच के पीछे मछलियाँ' कविताओं में आये संदर्भों में इस प्रकार की बात कही गई हैं : 'जिन्दगी के रेस्तराँ में/यही आपसदारी है,/नाता-रिश्ता है,/कि कौन किसको खाता है ?'/या तो नाते-रिश्ते टूट गये हैं और यदि हैं भी तो फूँस की झौंपड़ी भर हैं :

> 'मेरी वह फूँस की मड़िया जिसका छप्पर तो
> हवा के झौंकों के लिए रह गया
> पर दीवारें सब बेमौसम की वर्षा में बह गयीं........
> यही सब हमारा नाता-रिश्ता है—इसी में मैं हूँ
> और तुम हो।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संकलन में खासी ताजगी है। यह वह संकलन है जिसमें कवि पूरी आस्था के साथ मानव, मानव-सम्बन्धों, उसकी विवशता, जीवन व्यापी संघर्ष, मूल्यों के विघटन, राष्ट्रीयता, समसामयिक परिवेश और जीवनवादी दृष्टि को प्रस्तुत कर सका है। वैयक्तिक स्तर पर यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं कि इन कविताओं में वह सब कुछ सांकेतिक और संतुलित ढंग से कह दिया गया है जो स्वयं अनुभूत है। कहीं कोई आवरण नहीं है। जो है वह साफ सुथरा और सधे हुए कलाकार की कलम के रंगों में निखरा यथार्थ है। इसे रहस्यवादी चश्मे से देखना और पुनरावृत्तिवादी या अनाधुनिक बताना योजनाबद्ध और नकार के लिए नकार भले ही हो, तथ्य नहीं है। अपने को जमाने के लिए दूसरे का निषेध या अस्वीकार अपने ही लिये हानिकारक है। नयी पीढ़ी के कवि-आलोचकों को खुद की कविताओं के विषय में भी यह नहीं कहना चाहिये। अब वकालत 'कोर्ट' तक ही सीमित रहे। कविता उससे बची रहे तो अच्छा है। कारण आज का हर पाठक इतना तार्किक और चेतन तो है ही कि समकालीन शगूफों को भी पहचान ले और कविता के स्वरों को भी। अच्छा हो यदि कविता बोले, वही पैरोकार बने। इस संकलन में कविताएँ और भी हैं जो विश्लेपित संदर्भों में पढ़ी जा सकती हैं, पर स्पष्टीकरण के लिये ये पर्याप्त हैं। अब दो एक बातें और कहनी हैं :

पहली बात तो यह है कि प्रेम, दर्द व प्रकृति जो अज्ञेय के प्रिय विषय रहे हैं, वे संकलन की कुछेक कविताओं में उभरे हैं। यह वय और चिन्तन का ही प्रभाव है कि इनमें धीरे-धीरे परिपक्वता और परिष्कृति आती गई है। यही कारण है कि प्रेम अब प्रौढ़ से प्रौढ़तर अनुभूतियों की लौ में चमक उठा है। अब उन्हें 'विदा के चौराहे पर' अनुचिंतन की जरूरत पड़ी है और 'प्रस्थान से पहले' की अनुभूति भी क्षणिक आवेश की अपेक्षा शाश्वत मूल्य बनती दिखाई देती है। 'कि हम नहीं रहेंगे' कविता की मूल भावना इसी बिन्दु पर है। इसी संदर्भ में अज्ञेय की ये पंक्तियाँ उनकी प्रौढ़ भावना की ही परिचायिका हैं :

जिसे कुछ भी कभी, कुछ से नहीं सकता मार
वही लो, वही रक्खो साज सँवार
वह कभी बुझने न वाला
प्यार का अंगार।

अज्ञेय की दृष्टि में इस संकलन में यह प्यार कुछ इस तरह व्याख्यायित हुआ है।

ये स्मारक नये पुराने ढूह नहीं
वह मिट्टी ही है पूज्य
प्यार की मिट्टी
जिससे सर्जन होता मूल्यों का
पीढ़ी दर पीढ़ी

आधुनिक दुनियाँ के भटकाव के लिए यह समाधान 'बोरियत' नहीं वरन् एक आस्थामय आलोक है। दर्द को लेकर भी कई कवितायें लिखी गई हैं। यह दर्द वह नहीं जिसमें कराह हो, निष्क्रिय कर देने वाली भावना हो, वरन् यह तो प्रेरक है, सम्बल है आगे जाने का, पार उतरने का। यह वह दर्द है जिसमें इन्सान खोता कुछ नहीं पाता ही पाता है (उलाहना कविता) वेदना 'मनुष्य मात्र की गति है'। आज मानव की गागर उस प्यार की प्यासी है जिसका न तो पाना पर्याप्त है और न देना यथेष्ठ है। दर्द में बहुत बड़ी शक्ति है :

पास कुछ बचा नहीं
सिवा इस दर्द के
जो मुझसे बड़ा है—इतना बड़ा कि पचा नहीं—
बल्कि मुझसे अँचा नहीं—

इसे कहाँ धरूँ
जिसे देने वाला मैं कौन
क्योंकि वह तो एक सच है
जिसे मैं तो क्या रचता—
जो मुझी में अभी पूरा रचा नहीं ।

दर्द अज्ञेय काव्य का ऐसा स्वर है जो हर संकलन में गाढ़ से गाढ़तर होता गया है । इस संकलन में कवि दर्द से छटपटाता दिखाई देता है । उसका यह दर्द एक चिंतन बन गया है जिसमें डूबते-उतरते कवि को यह सोच है कि हमारी-मृत्यु निश्चित है : हमें यहाँ रहना नहीं है और रही वाणी वह भी एक दिन चुक जायेगी । ऐसी कविताओं को देखकर कवि की वेदना की सीमा का स्पर्श किया जा सकता है । 'जिसमें मैं गिरता हूँ' कविता में कवि आसपास की स्थिति को देख स्वयं 'कनी-कनी किरने लगा है' उसकी यादों के खण्डहर धीरे-धीरे डूबते जा रहे हैं । 'अंगार' में :

एक दिन रुक जायेगी जो लय
उसे अब और क्या सुनना ?
व्यतिक्रम ही नियम हो तो
उसी की आग में से
बार-बार, बार, बार
मुझे अपने फूल हैं चुनना ।

लगता है कवि की वेदना निराशा से मिलकर उसे मृत्यु का तीखा अहसास करा रही है । साँस का पुतला जो जरा-मरण से बँधा हुआ है, वह एकांत के दबाव को सहने में असमर्थ है । बाहरी तनाव और दबाव तो सहे भी जा सकते हैं; किन्तु अकेलेपन के डर से जिसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार है कैसे मुक्ति हो ? यही उसकी उदासी का कारण है :

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय ?
शहर के दूर के तनाव-दबाव कोई सह भी ले,
पर यह अपने ही रचे एकांत का दबाव सहा कैसे जाय !

'हेमन्त का गीत' प्रकृति का नया संदर्भ प्रस्तुत करने वाली कविता है । 'वसन्त' पर सर्वेश्वर ने और 'हेमन्त' पर अज्ञेय ने अच्छा लिखा है । 'उत्तरवासन्ती दिन' कविता भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है ।

दूसरी बात अज्ञेय के शिल्प के बारे में कहनी है। उनका शिल्प बेजोड़ है। 'धड़कन, रड़कन' जैसी कविताओं को छोड़ दें तो कोई भी कविता हल्की नहीं पड़ती है। शब्दों का ऐसा चुनाव-जड़ाव कि उसे हटाने पर सारी इमारत के गिरने का अंदेशा पैदा हो जाये, भावों की ऐसी घनी बुनावट कि एक शब्द का तागा टूट जाय तो कुछ भी पल्ले न पड़े। कहीं तो शैली की ऐसी सिधाई कि तुरत प्रभावित करदें और कहीं ऐसी कठिनाई कि पाठक सिर पकड़ कर बैठ जाये—'बिल्कुल पहेली टाइप', कहीं इतनी बेलाग कि बड़ी बात भी एकदम मामूली लगे और कहीं ऐसी भारी भरकम कि छोटी बात भी बड़ी लगे। ये गुण कवि की प्रतिभा के अनुरूप हैं—व्यक्तित्व के अनुरूप है। विशिष्ट गुण कवितागत अन्विति का है जो कम ही नये कवियों के बाँट आया है। उनका कोई अनुभव चलता हुआ नहीं। उसमें निरन्तर एक संश्लिष्टता बनी रहती है। कविता में आये हर संदर्भ-सूत्र को वे बराबर पकड़े रहते हैं। उसकी समाप्ति धक्के के साथ नहीं होती है, वरन् वह अपने अभीष्ट को पूरी तरह सम्प्रेषित करती हुई चुपके से मंच से हट जाती है।

पिछले पृष्ठों में मैंने यह जिक्र किया है कि अज्ञेय की काव्य-यात्रा एक छटपटाहट और गर्व से शुरू होकर मानव आस्था की खोज में लगी रही। इस खोज में उन्होंने कितने ही प्रतीक, कितने ही संदर्भ और बिम्ब पकड़े और बराबर एक ताज़गी के साथ वे आगे बढ़ते रहे। यह ठीक है कि उन्होंने हड़बड़ी में कुछ नहीं लिखा। जो भी लिखा सब सुथरा हुआ, संयत और उसके शब्द तराशे हुए जो कवि के भीतरी मन के भावों के सही प्रतिनिधि है। उनका स्वभाव यायावर का है और उसी यायावरी वृत्ति का बोध उनकी कविताएँ भी कराती है। उनकी यात्रा बाहरी जगत मे जैसे नित नये अनुभवों को, अनुभूति-खण्डों को सँजोती है वैसे ही भीतरी जगत में भी एक खोज को बताती है जो मनुष्य के भीतरी हिस्से की खोज है। इससे उनकी कविता में पहले के सोचे हुए, अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त को स्थिरता और परिपक्वता प्राप्त होती है। वे नयी यात्राओं से कुछ न कुछ जोड़कर अपने ससार की परिधि को विस्तार भी देते रहे है और उसमें सतुलन और प्रियता भी लाते रहे है।

'सागर मुद्रा' : कितनी नावो मे कितनी बार के बोध का ही विस्तार है। यहाँ न तो खिन्नता है और न तनाव, अपितु, इन दोनों के बाद की वह स्थिति है जो 'टैंशन' और 'क्राइसिस' को पचाकर उसी से उत्पन्न होने वाले के उद्वेलन ताप को व्यक्त करती है। कवि खिन्नता और संत्रस्त मनस्थितियों से

गुजरने के बाद भी उनसे जुड़ा हुआ है। वह संतुष्टि की मुद्रा में नहीं 'सागर मुद्रा' में हैं—चेतन मुद्रा में है। अज्ञेय ने क्योंकि ज्यादा तीखी, मर्मान्तक और हड़बड़ाहट वाली शब्दावली को नहीं प्रयोगा है, इसलिए युवा मन उन्हें और उनके काव्य को पथराया हुआ और अनाधुनिक की संज्ञा देता है। यहाँ एक बात स्पष्ट करदूँ कि हड़बड़ी की कविताएँ या भड़भड़िया कविताओं का तात्कालिक महत्व ही होता है, उनमें वह स्पंदन और जीवन्त चेतना नहीं होती है जो कविता का अनिवार्य गुण है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि नये—एकदन नये कवियों ने जो भाषा का माध्यम चुना है, गलत है या उसमें पाठक को प्रभाव में बाँधने की क्षमता नहीं है। वह तो है और खूब है, किन्तु हर कवि की चिन्तना और संवेदना का एक स्तर होता है जो उसका निजी होता है। उसे खोकर वह कविता नहीं लिख सकता और यदि लिखता है तो वह चलताऊ होती है, या एकदम ऐसी अलग-थलग जिसमें बनावटीपन के लिए काफी गुंजाइश रहती है।

अज्ञेय और नये युवा कवियों में भाषा का जो अन्तर दीखता है वह दो ध्रुवों का अन्तर है और होना जरूरी भी है क्योंकि यही वह विन्दु है जो समय से समय की दूरी को बतलाता है। अज्ञेय की सी भाषागत पक्वता—शब्द के अन्तस में घुसने की कला युवा कवियों के पास नहीं हैं। हाँ; तो मैं 'सागर मुद्रा की बात कर रहा था। इस संकलन में ६७ से ६६ तक की कविताओं को स्थान मिला हैं। कवि की जो खोज—सत्य की खोज या भीतर की खोज जिस रूप में कितनी नावों में कितनी बार में थी, वही चेतना उक्त खोज को यहाँ अनेक रूपों में प्रस्तुत कर रही है। चरम सौन्दर्य या विशिष्ट सत्य को पाने का भाव बोध तो वही है, पर भाषा का मिजाज़ बदला हुआ है, अन्दाज़ नया हैं। 'कनु' और 'गोपियों' के प्रतीक लेकर कवि अनुभव करता है कि अनेक शैलियों, अनेक माध्यमों और विचारों में ढाल कर कहने पर भी जो कहना था वह अनकहा रह गया है। वह सत्य को पूरा पकड़ नहीं पाया है :

कवि ने गीत लिखे नये-नये बार-बार,
पर उसी विषय को देता रहा विस्तार
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं—
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं।
किसी एक गीत में वह अट गया दिखता
तो कवि दूसरा गीत ही क्यों लिखता।[1]

---

१. कन्हाई ने प्यार किया : पृष्ठ ३८

गोपियों में प्रेम ढूँढने वाला कृष्ण किसी में भी वह सचाई का प्यार न पा सका, वह उस प्रिया से वंचित रहा जिसमें समस्त सौन्दर्य-सत्य समाया हुआ हो। चरम सत्य को पाने की लालसा और जिज्ञासा के कारण कवि अभी भी संकेत कर रहा है कि खोज़ जारी है, वह सत्य उसके अभी हाथ नही आया है। यह कविता कवि के अनवरत अन्वेषण को व्यक्त करती है। रचनाकार की स्थिति भी यही होती है कि उसे सही माध्यम नहीं मिलता। कभी-कभी कवि उसी खोज को एक दूसरी शैली में लपेटता है :

> "छिलके के भीतर छिलके के भीतर छिलका क्रम अविच्छिन्न
> तो क्या यह कैसे है सिद्ध कि भीतरतम है होगा ही
> बाहर से भिन्न।"[१]

कवि की दृष्टि में माध्यम तो सहारा भर होता है—बिचौलिया भर और उसकी जरूरत थके हारे इन्सान को भी गुलाम नहीं बना सकती है, किन्तु उसका थोड़ा सा आभास–भीतरी पर्दे का अहसास हृदय के भीतरी हिस्से में खलबली मचा देता है, सारे अनुभव खण्डों को थरथरा देता है।[२] सच यह है कि अज्ञेय अपनी रचना के माध्यम से ही 'टोटल यूनिवर्स' से मिलने का उपक्रम करते हैं। वे पहले बाहर देखते हैं, फिर उस देखे हुए को भीतर समो लेते हैं और फिर उसी को भीतरी तौर पर कहते हैं। अनुभूत को बाहरी खोल में लपेट कर कहने से संकट का वह क्षण आ जाता है जो उसे पीड़ा देता रहता है। यह पीड़ा, यह बेचेनी और भीतर की यह कुतरन और खुसर-पुसर ही उन्हें अधिक कहने से भी रोकती है। उनकी मान्यता है कि "जाने हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच का तनाव ही सृजन का का मूल है। लेखन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है। निस्संदेह यह हल अंतिम नहीं हो सकता, क्योंकि संवेदन ही तो नया अनुभव, नया तनाव पैदा करता है।[3]

> जितना कह देना आवश्यक था
> कह दिया गया : कुछ और बताना
> और बोलना–अब आवश्यक नहीं रहा।[४]

---

१. छिलके : पृष्ठ ३३
२. मैंने ही पुकारा था : पृष्ठ १७
३. अज्ञेय : आलवाल : निबन्ध संग्रह, पृ० १०
४. आवश्यक कविता, पृ० ४३

आगे चलकर इसी कविता में जीवन के कचरे की ओर संकेत किया गया है। जीवन के विविध संदर्भ, विविध क्षण जिनमें 'खाली बोतलें, दफ्ती की तश्तरियाँ, रोटी और पनीर के टुकड़े, टमाटर के छिलके, गुड़ीमुड़ी कागज, बालू में अधदबी पन्नी, कागज के कुचले हुए गिलास समुद्र की रेती में पड़े हैं। ये सब कचरा हमारी जिन्दगी की कहानी की ओर संकेत करता है जिसमें सुख-चैन की कहानी है, प्यार के वायदे है, हँसी है, उत्सव हैं और दोस्ती व दुनियादारी है। इसी वजह से हम इस रेती को जिस पर हमारी छाप है—जिन्दगी की छाप, चाहे-अनचाहे रिश्ते हैं, सीमा में बाँधकर रखना चाहते हैं—साँचे में भरते हैं, किन्तु सागर जो मुक्ति पर बल देता है वह उसे धो देता है,आँधी माँज देती है, समीर बहता हुआ उसे छूकर चला जाता है और फिर :

'सागर रह जाता है।
तरंग अँगुलियों पर गिनता
मानव के अद्‌भुत उद्यम, सनकी सपने
स्वैरचारिणी चिन्ता।' [१]

यहाँ आकर कवि की वह संवेदना स्पष्ट हो जाती है जिसमें कवि की चेतना बीते हुए, भोगे हुए या किये गये सारे मानवीय स्वप्नों को ज्यों का त्यों छोड़कर अलग हो जाती है। सागर पर अँधेरा छा जाता है, सब जगह स्थिरता और जड़ता का जमाव घिरता जाता है। सभी कुछ स्थिर हो जाता है; किन्तु,'तनाव की ललक 'चिनगियाँ" उसे विकीर्ण करती है, किन्तु कुहरा उमड़-कर सबको धुँधला कर जाता है। यहाँ आकर मनुष्य की चेतना, उदासी और ललक सभी कुछ एक में मिल जाता है। यह मिलना ही अस्तित्व का लोप हो जाना है : 'सब कुछ हममें खो गया/हम भी हम में खो गये।' अस्तित्व का लोप कवि को कभी स्वीकार नहीं मन का रोना उसे रुचता नही है। अत: उसकी खिन्नता, उदासी और जड़ता, भव्यता, और चेतन संदर्भ लेकर आस्था का आलोक बिखेरती है :

'हमने क्या सागर को इतना कुछ नहीं दिया ?
भोर, साँझ, सूरज, चाँद के उदय-अस्त
....
जो भी पाया दिया : आदि आदि' [२]

---

१. सागर मुद्रा : पृष्ठ ६६
२. वही, पृ० ७२-७३

इस खिन्नता के वाद की भव्यता की प्रक्रिया में कवि की चेतना जो आस्था व्यक्त करती है वह सीमित नहीं, बँधी हुई नहीं, वह तो जीवन और जगत पर अदम्य आस्था—मानवीय आस्था का ही प्रतिरूप है। कवि की आस्था चेतन है तभी तो वह अपने से अलग होकर अपनी इयत्ता को माप रहा है, अपने अस्तित्व का वोध कर रहा है :

'अपने से अलग होकर
अपनी इयत्ता माप सकें—
और सह सकें।' [१]

इसी तरह आगे के अंश में वही सागर चट्टान से टकरा कर लौट-लौट जाता है—नया ज्वार भरने के लिये। यह चेतना में नई ललक भरने के लिए लौटना है। इस तरह जीवन में न प्रश्नों का अंत हो पाता है, न हार और जीत का वल्कि वह 'केवल परस्परता के तनावों का एक अविराम व्यापार वनकर रह जाता है जिसमें भव्यता का वोध है, तृप्ति है, अहं की तुष्टि है और उस विराट सौन्दर्य की पहचान है। जाहिर है कि खोज का क्रम कभी खत्म नहीं होता। सारी हार-जीत के वाद भी यह खोज ही तो शेप रह जाती है! 'निरन्तराल खोज का एक अन्तहीन संग्राम'। आत्मान्वेपरण का क्रम कवि को आत्मनिवेदन या आत्मालाप की ओर ले जाता है। इसी में कवि की चेतना भव्यता का अनुभव करती हुई याचकी मुद्रा में जीवन से जुड़ने का संकेत देती है। यह संकेत : यह निवेदन और यह सागर की मुद्रा—चेतना का रूप उसे मानव और जीवन से गहरे जोड़ देता है, उसकी चेतना अपने आप से, समाज से कटकर नहीं रहना चाहती है। मानवीय आस्था के क्रम में प्रेम, मन, कर्म, दर्द और ज्ञान सभी इस चेतना से जुड़ जाते हैं और जुड़कर वदल जाते हैं :

यों मत छोड़ दो मुझे सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो सागर,
मेरी दीठ को और मेरे हिये को,
मेरी वासना को और मेरे मन को,
मेरे कर्म को मेरे मर्म को,
मेरे चाहे को और मेरे जिये को
मुझको और मुझको और मुझको

---

१. सागर मुद्रा : पृष्ठ ७६

कहीं मुझ से जोड़दो ।
यों मत छोड़ दो मुझे सागर [1]

फिर चेतना में सब समा जाता है, कोई किसी से अलग नहीं रहता । कविता को पूरी करते हुए कवि अन्त में 'सागर' और धरती के प्रतीकों से ही अनश्वर और नश्वर का संकेत देता है । उसकी दृष्टि में सागर-चेतना कभी मरती नहीं, उसकी अविराम यात्रा शांति और आस्था की यात्रा है जबकि धरती का सभी कुछ बेचैन करने वाला हाहाकार जड़ता भर है, समाप्त होने वाला है : अपने को बिना पहचाने समाप्त होने की प्रक्रिया है । अन्तिम अंश में कवि की चेतना जिस किनारे पर जा लगती है वह शब्दातीत है, चिन्तन से परे है, तभी तो कवि का हृदय जो राग अलापता है, अनुभूति की जिस प्रक्रिया से गुजरता है, वह मौन की प्रक्रिया है जिसकी व्यंजना के लिए शब्द कमजोर और तर्क अपंगु हो जाते है ।

संकलन का मूल भाव यही है जो 'सागरमुद्रा' कविता में है। इसके अतिरिक्त कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें आत्मान्वेषण तो है पर साथ ही अपने स्वाभिमान और अस्तित्व-बोध के प्रति भी कवि सतर्क है । वह जिन्दगी के थपेड़ों से थका-हारा होकर भी किसी का गुलाम नहीं है । वह तो वहाँ भी अपने को पाने के लिए प्रयत्नरत है । कतिपय कविताओं में वह मृत्यु पर, जिन्दगी के लगातार बदले, किन्तु अनवरत क्रम पर प्रेम पर तथा जिन्दगी की तड़फ और प्रश्नमयी स्थितियों पर सोचता है । इन सभी में वह प्रश्नाकुल है, यह प्रश्नाकुलता ही सच है क्योंकि यह भी तो उसे एक खोज के लिए ले जाती है जहाँ न तो खिन्नता है और न तनाव है । वह किसी भी स्थिति में खिन्न और निराश नहीं ; 'विदाई का गीत' ऐसी ही खिन्नता को काटता हुआ **'ओमीत कोई उदास गीत गाना ना'** पर आकर टिक गया है । इस तरह वह सारी संत्रस्त भूमिकाओं को पार कर जिस जगह आता है वह उसकी आस्था की प्रतीक रेखा को व्यक्त करता है तभी तो उसे 'कसैले भूरे कोहरे में प्रकाश की अनगिनथिगलियाँ' दिखाई देती हैं और 'अधर में लटका हुआ सवाल' भी अपने पीछे जलती हुई बत्तियों से चमका हुआ है । यह आस्था की अनुभूति ही 'मौन' से मिलकर अमर आस्था को जन्म देती है । अत: यह कहना सही है कि अज्ञेय आस्था का अटूट सम्बल लिये हुए हर संघर्ष, हर

---

१. सागर मुद्रा : पृष्ठ ७७

प्रश्न और अनुपल भोगते संदर्भों में भी जी रहे हैं। वे कहीं भीतर-अपने ही भीतर सब कुछ को देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में "वे आदमियों से बातचीत करते एक आदमी"[1] अशोक वाजपेयी की दृष्टि में नहीं भी हैं तो यह उनकी दृष्टि है। वे अपने से ही अपने आप आदमियों की बात जरूर करते हैं। फिर ऐसी स्थिति में अशोक वाजपेयी का यह कथन क्या अर्थ रखता है जिसमें वे कहते हैं कि 'उनमें मानवीय उपस्थिति अपेक्षाकृत विरली है'[2] हाँ, मानवीय उपस्थित से अज्ञेय की हिस्सेदारी जिस शैली में व्यक्त हुई वह नम्रता और संतुलन की शैली है। उसमें छितराव नहीं सघनता है। कहने की हड़बड़ी उनमें नहीं है, बराबर एक बौद्धिक संयम है जिसके खाते में वे मानवीय उपस्थिति का हिसाब जमा करते रहते हैं।

इन सबकी भाषा आम भाषा है। वह शब्दों की तह में छिपी अर्थगरिमा को साथ लेकर उपस्थित है। इसकी भाषा परिष्कृत नहीं, वरन बोलचाल के भी उस आम रूप को व्यक्त करती है जो जीवन का सबसे करीबी रूप है। तत्सम और तद्भव के बीच की इस भाषा में वे शब्द हैं जो काव्य-मन्दिर से अब तक अछूत समझकर दूर रखे गये। एक उदाहरण भाषा के रूप को बताने के लिये काफी होगा :

सब अपनी अपनी कह गये
हम रह गये
जबान है पर कहाँ है बोल तह को पा सकें ?
आवाज है पर कहाँ है बल जो सही जगह पहुँचा सके
दिल है पर कहाँ है जिगरा जो सच की मार खा सके

अज्ञेय की भाषा भी उनकी खोज का परिणाम है। उसमें 'माध्यमत्व' कम है और अर्थगर्भत्व ज्यादा है। वह माध्यम तो केवल इसलिये है कि उसकी सामाजिक महत्ता है, पर उस माध्यम में कवि का ध्यान शब्द पर केन्द्रित है। शब्दों की सही खोज और उनमें छिपा अर्थ पूरी उपयोगिता से कवि की रचना-प्रक्रिया में हाथ बँटाता है। संकलन की कविताएँ इसकी गवाह हैं, पैराकारी की जरूरत व्यर्थ है।

'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' संकलन अज्ञेय का ताजा संदर्भ प्रस्तुत करता है। इसमें उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की अनेक छटाएँ हैं : कुछ पुरानी

---

१. फिलहाल : पृष्ठ ८१

२. वही, पृष्ठ ८१

पहचान से जुड़ती हुई और कुछ ऐसी जो नयी भूमियों पर उतरती हुई अज्ञेय के नये चिन्तन की पहचान कराती है। अज्ञेय शुरू से ही अनुभव और अभिव्यक्ति के बीच के संकट पर हमेशा खड़े रहे हैं। यह संकट यहाँ भी मौजूद है। इस संकट-बोध से एक ओर वे अपने कलानुभव को अर्थ देते हैं और दूसरी ओर सारी दुनियाँ को अपने में समेटते हुए उपस्थित है 'दर्द' पर कवि बार-बार विचार करता है, पर हर बार उसे एक नया अर्थ देकर। 'दर्द' का अवमूल्यन नहीं 'संशोधन करके पेश करना अज्ञेय की सारी काव्य-यात्रा का एक अनुपेक्षणीय संदर्भ है। पीड़ा का क्षण देश-काल मुक्त होता है, उसकी स्थिति स्वतः सिद्ध और स्वतःपूर्त है। 'मोड़ पर का गीत', 'दास-व्यापारी', 'कच्चा अनार, बच्चा बुलबुल', 'औपन्यासिक' 'मैत्री' और 'रात में' आदि कविताओं में कवि कहीं सीधे, कहीं सांकेतिक रूप से 'दर्द की बात कहता चलता है 'दुख सबको माँजता है, कहने वाला कवि यहाँ आकर उसे और नया व्यापक संसार प्रदान करता है। अज्ञेय का दर्द अकेले उन्हीं का दर्द नहीं है, वह तो आदमी दर आदमी का दर्द है। उसकी परिधि का सीमांकन नहीं किया जा सकता, वह तो शब्दातीत दर्द है, फिर उसकी व्यापकता स्वतः सिद्ध है। यह दर्द मानव का है, कवि का है, मूल्य का है और अभिव्यक्ति का है। इसी से सारे परिवेश का है। यही 'अस्मिता का संकट' 'आइडेन्टिटी आफ क्राइसिस' है जो आज मूल्य बनता जा रहा है। वह परिवेश और उसके दबाव को व्यक्त करता है। आज हम जिस बिन्दु पर है, वह जगह जहाँ हम नहीं हैं, वह जगह जहाँ हम जी रहे है या जीने के लिए विवशता के हाथों जकड़ लिये गये हैं; वहाँ सारा परिवेश ही ऐसा है। ऐसे संकट-ऐसी पीड़ा को जिसमें समूचा परिवेश समाया हुआ है अज्ञेय ने व्यापकता दी है। 'औपन्यासिक' कविता में वे कहते हैं :

> "कौन या कब अकेले बैठकर शराब पीता है ?
> जो या जब अपने को अच्छा नहीं लगता अपने को
> सहन नही सकता।"[1]

शराब-खाने की जरूरत नदी-किनारे के अभाव को व्यक्त करती है—सुख की अनुपस्थिति को बतलाती है। आज चारों ओर दर्द ही दर्द। हर मानव दर्द से कराहता हुआ दर्द की शराब, पी रहा है, अकेलापन दर्द का अहसास है और अकेला न होने पर :

१, क्योंकि मै उसे जानता हूँ, पृ० ६०

नदी के किनारे तुम मुझे अकेला
नहीं होने दोगी, तो शराब पीना कोई
क्यों चाहेगा, यह भी कभी सोचा है ?[१]

हँसते हुए 'दर्द' को झेलना जहाँ एक ओर हमें शक्ति देता है वहाँ दूसरी ओर हम पलभर के लिए सारी थकान को ही भूल जाते है। यह पल ही सत्य है और इस सत्य में न दर्द है न शराबखाना :

इस पर हम दोनों हँस पड़े। वह
उपन्यास वाली नदी और कहीं हो न हो,
इस हँसी में सदा वसती है,
और वहाँ शरावखाने की कोई जरूरत नही है।[२]

इसी प्रकार समय की धुन्ध से दवकर प्यार तो ज्यों का त्यों रहता है, पर उदासी की भूमिका निभाता हुआ आपसी मिलन जिस दर्द को शब्दो में बाँधने की कोशिश करता है वह नामहीन दर्द है—नया दर्द है :

और आज तुमने कहा :
कितना उदास है
यह वरसों वाद मिलना।
प्यार तो हमारा ज्यों का त्यों है।
पर क्या इस नये दर्द का भी कोई नाम है।[3]

इसी प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति के वीच का तनाव क्षण भी अज्ञेय के इस संकलन में मौजूद है :

गहरी वात यह है कि दोनों के वीच
एक क्षण है कहीं, एक मोड है
जिस पर स्वयं सिद्ध जोड़ है। और वहीं,
उस पर ही
गाना है
यह गीत जो मरेगा नही[४]

---

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ .पृ० ६१
२. वही, पृ० ६२
३. वही, पृ० ६६
४. वही, पृ० २

इस ननाव को वे 'मौन' मे 'चुप्पी' से वाणी देते हैं क्योंकि अनुभव ही गहराई और अभिव्यक्ति की दूरी को पाटने का यही सही लक्षण है। इसी कारण कवि गाना गुनगुनाने से दूर रहता हुआ 'मौन' में ही निहाल है :

शब्द सूझते हैं जो गहराइयाँ टोहते हैं
पर छंदों में बँधते नहीं
विम्ब उभरते हैं जो मुझे ही मोहते हैं,
मुझसे सधते नहीं,
एक दिन होगा।—तुम्हारे लिए लिख दूँगा
प्यार का अनूठा गीत,
पर अभी मैं मौन में निहाल हूँ
गाना गुनगुनाना नहीं चाहता।[1]

'प्यार' और 'करुणा' की कविताएँ भी संकलन में मिल जाती है : कुछ उदाहरण देखिये :

१ नहीं तो और क्या है प्यार
सिवा यों
अपनी ही हार का अमोघ दाव किसी को सिखाने के
किसी के आगे
चरम रूप से बेध्य हो जाने के।[2]

२ प्यार :
एक यज्ञ का चरण जिसमें मैं मेध्य हूँ
प्यार
एक अचूक वरण
कि जिसके द्वारा
मैं मर्म में वेध्य हूँ[3]

कुछेक कविताओं में परम्परा को रास्ते का रोड़ा वताया गया है तो अस्ति और नास्ति की व्याख्या आम भाषा में की गई है। 'फूल से पंखुड़ी तो झरेगी ही' और 'फूल मुरझायेगा : वही तो नियति है। होने का फल है'। जैसी

---

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ पृ० ४८
२. वही
३. वही

पंक्तियों में सृष्टि के निर्माण और विनाश की प्रक्रिया की ओर संकेत है। अधिकांश कविताओं में 'दिया जाना' 'देना'–'दे देना' या समर्पित होने से उत्पन्न सुख और उल्लास का वर्णन है। 'पाना'–प्राप्त करने का सुख देने के सुख से हल्का है। पा लेना तो 'अस्मिता' का टूट जाना है। इससे तो सहना कठिन है। 'देने का भाव' ही इस भावना को उद्दीप्त करता है कि "देना नहीं है निःस्व होना और वह बोध तुम्हें फिर स्वतन्त्रतर बनायेगा।"[1] जैसा कि मैंने कहा है अज्ञेय की कविताओं में निरन्तर एक खोज दिखाई देती है। यहाँ भी वह आस्था की खोज के लिए बेचैन है। वह सोचता है कि कभी तो मानवीय अस्तित्व की रक्षा के लिए आस्था-निष्ठा की आवाज; जो अनिवार्यता है; सारे परिवेश में छा जायेगी। निश्चय ही अज्ञेय इस संकलन में कतिपय 'रिपीटेड' भाव-बोध को छोड़कर काफी ताजा और आधुनिक लेखक के आधुनिक होने के संकट को झेल रहे है। उनमें सारा परिवेश सिमट गया है। वे अधिकांश जगहों पर मानव-उपस्थिति के साथ हैं—दर्शक की तरह नहीं, वरन् सच्चे गवाह या भोगते हुए मनुष्य की तरह। कविताओं में जो परिवेश है वह कवि की अस्तित्व के प्रति जागरूकता को भी व्यक्त करता है, भले ही उसका संदर्भ निजी हो, मनुष्य से मनुष्य का हो या राजनीतिका हो, प्यार का हो, दर्द का हो, अभिव्यक्ति का हो सभी के प्रति आश्वस्त भाव से, आस्था से वह जी रहा है। उसकी आस्था की आवाज-गूँजेगी क्योंकि :

"जल जायेंगे नगर, समाज, सरकारें,
अरमान, कृतित्व, आकांक्षाएँ,
नही मरेगा विश्वास :
+ +
नहीं निकलेगी गले की फाँस
टूट जायेगी मानवता........'
नहीं चुकेगी कमवख्त मानव की साँस"[2]

और :

"तब वे आयेंगे
वे जिन्होंने
धरती में विश्वास नहीं खोया

---

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृ० ६५

२. वही, पृ० ३६

जिन्होंने जीवन में आस्था नहीं खोई
जिनके घर
उन पहलों ने नष्ट किये
महासागर में डुवोये,
पर जिन्होंने अपनी जिजीविषा
घृणा के परनाले में नहीं डुवोयी
उनकी डोंगियाँ
फिर इन तरंगों पर तिरेंगी

....
अजर अजस्त्र शृंखला में
जनमेगा पनपेगा
ऐल मनु अजित अधर्ष
अविधीत आत्मतंत्र"[१]

जाहिर है कि कवि मानवीय उपस्थिति के साथ है और उसकी पीड़ा को पूरी आस्था से पूर देने की कोशिश में लगा हुआ है 'क्योंकि मैं' कविता उस आलोचना के भाल पर प्रहार है जिसमे कवि को ऊपर ही ऊपर, सतह पर घूमने का अपराधी ठहराया गया है। असल में कवि उस आदमी को जानता है, उसके अभावों, पीड़ाओं और मेहनतकश जिन्दगी को उसने करीब से देखा है जो उसका पार्श्ववर्ती है। उस मानव से कवि को प्यार है क्योंकि उसकी पीड़ा से वह भी तिलमिला उठता है :

क्योंकि मै
उसे जानता हूँ
जिसने पेड़ के पत्ते खाये है,
और जो उसकी जड़ की लकड़ी भी खा सकता है
क्योंकि उसे जीवन की प्यास है
+ + +
क्योंकि जिसने कोड़ा खाया है
वह मेरा भाई है"....
....

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ पृ० १३

मैं उसका पड़ौसी हूँ
उसके साथ रहता हूँ।"....[1]

मानव के साथ जीने, रहने और पीडा भोगने वाला कवि उसके हर मोड पर उसके साथ है। कवि का करीवी होना—उसके साथ उपस्थित रहना मानवास्था को व्यक्त करता है। यही वजह है कि अनेक प्रकार के शोर शरावे के भीतर और बनावटी मुखौटो की घनी भीड मे भी उस मानव का चेहरा उभर आता है जिस पर 'रूपो, वासनाओ, उमगों, भावो और बेवसियो का ज्वार' अकित है। कवि इसी आदमी की प्रार्थना पर वल देता है क्योकि यही प्रार्थना का सही प्रकार है।

सकलन की कविताओ का एक सदर्भ वह भी है जिसमे राजनीति और फूल, राजनीति और धर्म, राष्ट्रीयता और उससे जुड़े मानव की वात कही गई है। इन कविताओ मे समसामयिक ससार है जो बोलता है : व्यग्य करता है और किसी मे किसी मे कोई भेद न करता हुआ। कवि वडी मार्के की वात कहता है। इस सदर्भ की कविताओ मे 'आजादी के वीस वरस, 'दिया हुआ न पाया हुआ,' 'अह राष्ट्र संगमनी जनानाम' 'दाम-व्यापारी" तू-फू को वारह सौ वर्ष बाद' 'जनपथराजपथ', 'हथौडा अभी रहने दो, 'केले का पेड' और 'देश की कहानी दादी की जवानी' आदि प्रमुख है। इन सभी मे राजनीति, उसमे घुटते आदमी, प्रजातन्त्र, भारतवासी, सस्कृति का विघटन, जीवन की सच्चाई, धर्म निरपेक्षता का ढोग, इन्सान की लाचारी, उसकी नियति और आजादी की विडम्वना पर कवि जमकर वडे सधे हुए ढग से कभी हँसता और कभी व्यग्य करता चलता है। इन कविताओ मे वह सारा परिवेश अँट गया है जिसमे आजादी के बाद का इतिहास है। 'आजादी' एक नगा शब्द है जिससे कुछ नही हाथ लगा, न आदमी आदमी को पहचानने लायक हुआ और न कोई ऐसा परिवर्तन ही हाथ लगा जिसमे इन्सान इन्सान वनकर रह सके। मिला तो यह :

आजादी के वीस वरस से
वीस वरस की आजादी से
तुम्हे कुछ नही मिला
मिली सिर्फ आजादी ![2]

---

१ क्योकि मैं उसे जानता हूँ पृ० २५
२. वही, पृ० १३

'मिली सिर्फ आजादी' की व्यंजना मर्मान्तिक है। इन्सान क्या बना ? लाचारी और बेवसी का अजूबा बनकर रह गया जिसके पास सब कुछ है : आँख, कान, नाक और दिमाग भी, किन्तु फिर भी नारे लगाना, प्रयाणगीत भर गाना और उसी मे मगन रहने का ढोंग या बेवसी, जो चाहें नाम दें, बची है। कहने को सब मिला पर वह नहीं मिला जिसे सही अर्थो में मिलना कहते है। इन्सान किसी अनजान अधर में लटका हुआ है। वह अकेला और बेसहारा बन गया है : "मैं तुम, यह वह, हम सब सारा जहान थैली का हर चट्टा-बट्टा हर इन्सान" ऐसा ही हो गया है। इसे न तो जीतना आता है और न जीतने का संकल्प उसके पास है। वह तो हारा हुआ है, हारने का शील उसे बपौती-ददौती में मिला है जैसे हार खाना, पिट जाना ही हमारी परम्परा है। इन्सान में न कोई दृढ़ता है : 'न पक्की भीत और न पक्का मीत' फिर भी वह यह मानने को तैयार नही कि मुझे कुछ नही आता है। प्रजातांत्रिक पद्धति में जीने वाला इन्सान इसके अलावा और हो भी क्या सकता है ? सिवाय इसके कि वह दूसरों द्वारा जिया जाय—भोग लिया जाय और अपने भोगे जाने पर भी वह खुश है। वह 'केले का पेड़' है जिसके पास रीढ़ नहीं है—पूरी तरह लुजलुज है—तनकर खड़ा होना या अपने ऊपर निर्भर रहने की उसकी आदत ही नहीं है।

'अहं राष्ट्र संगमनी जनानाम्' कविता धर्मनिरपेक्षता के नाम पर चल रही धर्मान्धता और शोषक-वृत्ति पर व्यंग्य करती हुई आगे बढ़ती है। कवि लगे हाथों थोथी इन्सानियत पर भी चोट करता है। उसकी पीड़ा की गवाह निम्नांकित पंक्तियाँ प्रजातंत्र के ढकोसले और उसके नाम पर ली जाने वाली गैर कानूनी सुविधा को भी साफ जबान में बोलती है :

यों सब आये मेला जुट गया।
यही मैं न जान पाया कि इस पचमेल भीड़ मे
वह एक समाज कहाँ छुट गया ?
और जिसमें पहचानना था देश का चेहरा
वह आईना कहाँ लुट गया ? [१]

आज हमारा समाज जिस भ्रष्टता की ओर जा रहा है, जिस शोषण और स्वार्थ को ही प्रजातन्त्र का मूल्य मान बैठा है; वह सब पूरी सफाई के साथ इस कविता का प्रतिपाद्य है। इस परिवेश में घिरे कवि की पीड़ा इस बात

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृष्ठ २०

को लेकर है कि यह देश सही मानियों में राष्ट्र कब हो सकेगा जिसमें ग्रादमी सुख-चैन की जिन्दगी बसर कर सके ? हमारा प्रजातंत्र प्रजापत्य विरोधी नारों से गूँज रहा है ग्रौर ये नारे ही हमारी ग्राजादी की ग्रब तक की ईजाद है :

प्रजातंत्र में पाते हैं
प्रजापत्य विरोधी नारे :
दो या तीन बच्चे बस ।
यह ही हमने ईजाद किया
यही एक नया रस [१]

ग्राज हम जिस पाशविक संस्कृति की रौ में बहे जा रहे है; वह उधार की संस्कृति है—सही ग्रर्थों में यह वह सभ्यता है जिसने हमें लगातार खाते रहने वाले शब्दातीत दर्द ईर्ष्या, वासना, हिंसा, ग्रपमान, बेइज्जती, ग्रात्म प्रवंचना, ग्रौर ग्रनेक जानलेवा खाइयाँ ग्रौर पशुता जैसे तत्व दिये हैं । इन्हें लेकर हम ग्रपनी पीढ़ियों का इतिहास लिख रहे हैं जो एक ग्रोर मानवता की इति का सबूत है ग्रौर दूसरी ग्रोर तात्कालिक हास-ग्रानन्द का थोथा दस्तावेज है । हम फिर भी खुश हैं—ग्रपना इतिहास बनाने में ग्रौर उधर पश्चिमी संस्कृति की भैंस देश के बीचोबीच बैठकर ग्राराम से जुगाली कर रही है फिर भी हम क्या करें ? योजना ग्रायोग क्या करे ? वह तो :

विचारे उगाते है
ग्रायातित रासायनिक खाद मे
ग्रन्तर्राष्ट्रीय करमकल्ले । [२]

कैसा तीखा व्यंग्य है ? कितनी मर्म को चीरने वाली पीड़ा है ग्रौर कितनी सरल लाचारी है यह ? ग्रनुभूति की चीज है । इन्सान जैसे न गर्म रहा न सर्द, उसकी सूरत बेपानी हो गई है[3] ग्रौर वह जरासी ठेस लगने से शीशे सा दरक जाता है, किन्तु उसे ग्रपने इन्सान होने से कोई सरोकार नहीं रह गया है । वह ग्रपने तिरस्कार के लिए खुद जिम्मेदार है । इस तरह ग्रज्ञेय मानव की सही स्थिति के सच्चे गवाह बनकर ग्राये है । ग्राक्रोश की गलीज़ भाषा ग्रौर एकदम चौकाने वाली शैली उनकी नहीं है । वे तो मानवीय परिवेश

---

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृष्ठ २५
२. वही, पृष्ठ २८
३. वही, पृष्ठ २९

से सीधा साक्षात्कार करते हुए भी उसे बड़े इन्सानी ढंग से जिसमें कहीं-कहीं भोलापन भी है, कहकर चुप हो गये हे जैसे देख रहे हो कि इन्सान को अपनी ही तस्वीर देखकर कैसा लग रहा है ?

'देश की कहानी : दादी की ज़बानी' और 'साँझ-सवेरे' कविताएँ हमारे जीवन से खिसके यथार्थ और वर्तमान की अनुस्थिति पर व्यंग्य की कविताएँ है। इनमे ग्रामभाषा को अपनाकर तो कवि ने जान डाल दी है। एक में पहले से लेकर लोकतन्त्र के क्षण तक का इतिहास है—ऐसा इतिहास जिसमे हमारी उपलब्धि स्मारको और सग्रहालयो तक सीमित हो कर रह गई है यानी हम और हमारी दृष्टि अतीत धर्मी है, या सिर्फ औपचारिकता के निर्वाह की स्थिति है। यथार्थ से हम कतराते है या हम उसे अपने पिछड़ेपन के कारण अभी भी नही जान पाये हे। व्यग्य आज़ादी की सारी स्थितियो को एक शब्द मे कह रहा है। दूसरी मे भी व्यग्य है और बहुत तीखा है। कवि की वेदना भी इसमे हे और हमारे जनमानस को छलनी किये दे रहे मध्ययुगीन सस्कार भी है, जो हमे अतीत की स्मृति या भविष्य की कल्पना के दो पाटो के बीच पिसने को मजबूर करते हे .

रोज सवेरे मैं थोड़ा सा अतीत मे जी लेता हूँ—
क्योंकि रोज शाम को मैं थोडा भविष्य मे मर जाता हूँ।[१]

कहीं-कही कविताओ मे निराशा का स्वर भी सुनाई पड़ जाता है : 'कही राह चलते-चलते/है मुझे ज्ञात/दिन चुक जायेगा'/[२] या फिर 'इधर मैं नि:स्व हुआ/पर चुभन अभी सालती हे/कि मैंने तुम्हे कुछ दिया नही'/[३]

चुकने का भय और उससे उत्पन्न उदासी नि शेष हो जाने पर भी न कुछ दे पाने की चुभन अभी भी कवि के मानस की कितनी ही पर्तो की बखिया उधेडती हैं। लगता हे दर्द, करुणा, प्यार, बेबसी, अचकचाहट, अपने को दे देने का भाव और मानवीय आस्था व उससे जुडा समूचा सकट कवि की चेतना को बार-बार झकझोरता है। इसी से वह सारे जहान की सैर के बाद भी घूम-फिर कर इसी रेखा पर आ जाता हे. रेखा जो समूचे देश, समाज और मानव की रक्षा-पंक्ति हे। इस तरह अज्ञेय की अब तक की काव्य-यात्रा ऐसे यायावरी कवि की यात्रा हे जो

---

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ पृष्ठ ६३
२. वही, पृष्ठ ४६
३. वही, पृ० ५४

लगातार खोज मे लगा रहा उस आदमी की, देश की, उस समाज की, उस स्थिति की, उस क्षरण की जिसमे आस्था चुपके से आकर बगल मे बैठ गई है—एक सकल्प लेकर; किन्तु वह उसे अभी मिली नही हे। मिला है एक वेजुवान ससार, एक अपगु समाज, एक ढीला इन्सान और उससे जुडी कितनी ही घिनौनी, कमजोर, लाचार, असमंजसभरी यातनाएँ और भयावह व निर्मम-क्रूर स्थितियाँ जिनमे जीने, भोगने, दिये जाने और न कुछ पाने की पीडा है। ये सारे सदर्भ मानवीय सदर्भ है। इनमे आज के परिवेश का दबाव है और है चाहते हुए भी न कुछ कर पाने की लाचारी, किन्तु इन सारी बातो के ऊपर कवि को एक बिन्दु दीख रहा है जो रेखा वनकर कभी भी, किसी भी क्षरण मानव के सारे पीडक घावो को धो देगा। वह मरहम-पट्टी ही सच है, उसके बिना जीवन कव चलता हे ? इस सग्रह की भाषा आम आदमी की भाषा है। इसमे न आभिजात्य शब्दावली का भार हे और न कच्चे माल की खपत ही इतनी कि उसका कथ्य और स्वरूप ही बिगड जाये। निस्सदेह इस भाषा, जिसके शब्द बोलते हे और अपना अर्थगर्भ भाव सही रूप मे पाठक तक भेज देते है; निर्माण मे कवि ने बडा श्रम किया हे। भाषा की तरह प्रतीक भी सीधे, और ऋजु हे। उपमान और बिम्ब भी सादगी से सरावोर और रसमग्न करने वाले है। उनमे जीवन का स्पदन है। शैली भी रोजाना की जिन्दगी से तालमेल बिठाती है। उसकी धमनियो मे लोकजीवन का रक्त प्रवाहित हो रहा है।

०००

सर्वेश्वर

'बाँस का पुल'
'एक सूनी नाव'
'गर्म हवाएँ'

सर्वेश्वर के ये संग्रह सामने हैं। पहले की अपेक्षा नये और नये से भी ज्यादा तीखे हैं जो स्वाभाविक है। आज का निम्न मध्यवर्ग जिस दर्द को भोग रहा है, जिस अधूरी, सतही जिन्दगी को जी रहा है वह कम तीखी और कड़वी नहीं है। फिर सर्वेश्वर निम्न मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उसे शब्दबद्ध करना उनके लिए सहज है। इस मानी में वे मुक्तिबोध के समीपी हैं, पर 'एप्रोच' का अन्तर; रचना-प्रक्रिया का अन्तर आकाश और धरती का अन्तर है। जिन्दगी के संघर्ष, दर्द और रिक्तताएँ उन्हें कचोट देती हैं और वे अजनबीयत व अकेलेपन की प्रक्रिया से गुजरते दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने को परकटे पंछी की तरह विवश, असहाय और अपने ही चौखटे में बन्द पाते हैं। यों उनकी कोशिश में कमी नहीं हैं; पर इस प्रयत्न में उनका सिर चौखटे से टकराकर लहूलुहान हो जाता है। यह टकराहट, नैतिक वर्जनाएँ, सामाजिक रूढ़ियाँ और राजनैतिक आर्थिक वैषम्य भोगता हुआ एक युवक जिन संदर्भों से होकर गुजरता है वह सब सर्वेश्वर का कथ्य है। यही कारण है कि टूटन, घुटन, अस्तित्व की व्यर्थता सामाजिक खोखलेपन और आत्मपीड़न की चेतना से भरी सर्वेश्वर की कविताएँ ज्यादा प्रभाव डालती हैं। कारण वे हमारी अपनी लगती हैं—आरोपित नहीं।

'बाँस का पुल' एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक है जो सबर्षो को सहने की अनूठी शक्ति रखता है। भले ही वह लचकता हो, चरमराता हो, ऐसा लगता हो कि अब टूटा अब टूटा पर टूटता नहीं वरन् निडर होकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। वह इस पार से उस पार जाने का साधन है। संग्रह की कविताओं में अधिकांश कविताएँ अपने साधनों और लक्ष्यों की व्यंग्यात्मक, असंगति और भीतर बाहर की मजबूरियों की अभिव्यक्ति है। सर्वेश्वर का असली स्वर इन्हीं कविताओं में है। वे जिस वर्ग के कवि हैं उनकी वास्तविक पीड़ा और जीवन गत असंगति और तत्सम्बन्धित व्यंग्य ही इन कविताओं में है।

संग्रह में कई प्रकार की कविताएँ हैं कुछ रूमानी, दर्द और निराशा भरी, कुछ प्रकृति-चित्र एवं कुछ मध्यवर्गीय जिन्दगी की विविध स्थितियों की अनुभूति को वाणी देने वाली। कवि ने अनुभव किया है आज व्यक्ति समाज में रहकर भी अकेला है, भीड़ में मिलकर भी अजनबी है या भीड़ में अपने अस्तित्व को ही खो बैठा है। उसे ऐसा अहसास होता है जैसे जीवनगत विसंगतियों ने उसे धकेलकर उस चौराहे पर ला खड़ा किया है जहाँ सवाल ही सवाल है, मजबूरियाँ ही मजबूरियाँ हैं न तो कोई उत्तर है और न कोई सही राह। सर्वेश्वर का असली स्वर इन्हीं कविताओं में है। लक्ष्मीकांत वर्मा भले ही किसी चिन्तन से यह कहें कि सर्वेश्वर में नया कुछ नहीं है या 'बाँस का पुल' की कविताएँ समय से दस वर्ष पीछे है, पर बात कुछ दूसरी ही है। लक्ष्मीकांत कभी-कभी बहुत दूर की बात कहने लगते हैं—किसी स्वप्न की बात, भले ही खुद कहीं भी हों।

'बाँस का पुल' की पहली कविता 'राह पर' सर्वेश्वर के उस मिजाज की कविता है जिसका संकेत ऊपर किया गया है। आज के आदमी की निरुद्देश्य और अन्तहीन यात्रा—ऐसी यात्रा जो सघन और भयग्रस्त है जिसमें 'कैक्टस' ही 'कैक्टस' है, कविता का विषय है। इस यात्रा में विवशता और अजनबीयत तो तब लगती है जबकि 'राह सीढ़ी सी खड़ी हो जाती है'। 'स्मृति' 'पूर्णिमा प्यार', 'वसन्त स्मृति', 'बाढ़' 'गूंज', 'हेमन्त की सन्ध्या', 'साँझ एक चित्र', 'वसन्त की शाम' आदि कविताएँ केवल प्रकृति-चित्रण या दृश्य चित्रण के ही अन्दाज में नहीं देखी परखी जा सकती हैं, वरन् इनमें भी एक प्रक्रिया है, एक विशेष मनःस्थिति तो है ही, अनुभूति का खरापन और शैली की ईमानियत भी भरपूर है। 'वसन्त स्मृति' की आखिर की पंक्तियाँ देखिये जिनमें 'बाँस के पुल' से व्यक्तित्व वाले आदमी में कितनी आस्था है, कितना निडर हो

चलने का साहस है। इसी तरह 'बाढ़' कविता की ये पंक्तियाँ देखिये तो पता चलेगा कि कविता की मूल संवेदना प्रकृति-चित्रण से आगे कुछ और ही मनःस्थिति में लिखी गई है :

"किसी दिन
....

पानी धीरे-धीरे उतरने लगेगा
फूल-पौधे सड़कर वदरंग दिखाई देने लगेंगे
कीचड़ से सना थरथराता भूखा कुत्ता
उस वदवू में खड़ा
अपने मालिकों की राह देखेगा
और सफेद तितली
नैतिकता की झूठी परिभाषा की तरह
कीचड़ में सनी मरी पड़ी होगी।"

यों इन कविताओं में प्रकृति दृश्य भी है, पर जिन विषयों पर ये कविताएँ लिखी गई हैं वे विषय भले ही पुराने हों उनके प्रति कवि की 'एप्रोच' नई है। विषय तो वहुत मुश्किल से वदला करते है। हाँ, उनके प्रति दृष्टि वदल जाती है या यों कहें कि वस्तु वदल जाती है। 'सूरज', 'हेमन्त', 'संध्या' और 'वसन्त' पर अनगिनती कविताएँ लिखी गई है, पर सर्वेश्वर ने इन्हें लिखकर एक नयी मनःस्थिति भोगी है, नयी चेतना दी है। 'सूर्योदय' और सूर्यास्त को एक नये ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सूर्य एक नट है जो रात-दिन की बाँस-खपचियों पर झूलता है। 'ईश्वर के हाथ अब ऊपर नहीं नीचे है-नीचे कही इस पहाड़ी के' तभी तो—

"जब वह इन खपचियों को दवाता है
सूरज चोटी पर उचक आता है
करतव दिखाता है
फिर उलटकर
छिप जाता है।"

इसी क्रम में 'अपनी विटिया के लिये', 'वसन्त की एक शाम', 'मेघ आये' और 'आये महन्त वसन्त' अच्छी कविताएँ है जिनमे प्रकृति चित्रांकन के वहाने ही सही कवि ने अपनी अनुभूत स्थितियों को शब्दबद्ध किया है। कई वार यह भी लगता है कि ये प्रकृतिपरक शीर्षक विषय नहीं है, वरन् अपनी

अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने के 'मीडियम' भर हैं। ऊपर से ये कविता के विषय लग सकते हैं, पर गहराई से देखें तो तीर दूसरे निशाने पर भी लगता है।

'काठ की घंटियाँ' में जो स्वर निनादित थे, वे निराशा, दर्द, अहं, विवशता और जिन्दगी के विविध पहलुओं पर व्यंग्य करते थे। इस संग्रह में यह सब है। निराशा दर्द बन गई है क्योंकि वह अपने को घुटनभरा और मुर्दा महसूस करता है। दर्द का कारण 'बाँस के पुल' में स्पष्ट हो गया है। 'दर्द यह किससे कहूँ' रचना पहले काव्य संग्रह के संदर्भ में ही देखी जा सकती है। अनुभूति की गहराई और परिवेश का गहन संदर्भ इस कविता को महत्ता प्रदान करता है। सर्वेश्वर की अनुभूति ट्रेजिक है ठीक उस आदमी की तरह जो अपनी लाश को लिए स्वयं घूम रहा है। यही कारण है कि संग्रह की अधिकांश कविताओं में आज के मानव की ट्रेजेडी व्यक्त हुई है :

'मैं देना चाहता हूँ
वह ही नहीं जो मेरे पास होगा,
बल्कि वह भी जो आने वाली
शताब्दियों में मेरे पास होगा,
लेकिन होंठ काटकर रह जाता हूँ।'

'ट्रेजिक फीलिंग' के क्रम में एक दो कविताएँ ऐसी भी है जो रूमानियत भरी हैं, किन्तु रूमानियत भी ऐसी नहीं है जिसमें मजा लेने की भावना हो। वहाँ भी मध्यवर्गीय ट्रेजडी ही सामने हैं। 'पूर्णिमा प्यार' कविता में प्रेमजनित अन्तर्द्वन्द्व की झाँकी है। यह द्वन्द्व मध्यवर्गीय द्वन्द्व है तभी तो वह साँझ के यह समय अनजाने वृक्षों की रहस्यमयी छायाओं में घिर जाता है। निराशा गहन से गहन होती जाती है पर :

दूर कहीं—
मुझे खोजते फिरते मेरे रोते हुए
बच्चे की आवाज आती है,
और मेरी पत्नी
रसोई घर की फीकी बीमार रोशनी में बैठी
मेरी प्रतीक्षा करती दीख जाती है।

इन पंक्तियों में कवि के माध्यम से आज के मध्यवर्गीय व्यक्ति की तस्वीर ही तो है। उसे प्रभावी बनाने के लिए कवि ने निजी बना कर पेश

किया है। जब भी वे दुखी होते हैं तो उसके पीछे मध्यवर्गीय वेदना होती है या फिर 'रोमांटिक मूड़'। उनकी 'ट्रेजिक फीलिंग' में प्रकृति और प्रेम भी तदनुरूप ढल जाते है। समाज का बदलता रूप कवि की अनुभूतियों में जल्दी सिमट जाता है। मनुष्य जिस विलक्षण परिस्थिति मे जी रहा है उसमें संतुलित और तटस्थ भोक्ता बने रहना संभव नहीं है। फिर भोक्ता तो तटस्थ हो ही कहाँ पाता है? पलछिन बदलती हुई दुनियाँ में कितनी ही अनुभूतियाँ कवि को व्यथित करती हैं। करें भी क्यों न? एक ओर तो मानव अणुयुग से जूझ रहा है या बहुत कुछ जूझ चुका है। दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप उसे 'रबर-प्लास्टिक' युग को भोगना पड़ रहा है। उसकी विषमताओं का अन्त नहीं है। मध्यवर्गीय जीवन की अन्दरूनी तस्वीर में उसकी विवशता, अधूरी जिन्दगी, जिज्ञासाओं का कच्ची उम्र में मर जाना, हर बार इच्छित को नये और नये रूप में पाने का मोह और न पा सकने का दुख तथा तज्जन्य जीवन-व्यापी अर्थहीनता कही सपाट और सीधी तो कहीं तिरछी रेखाओं में उभरती गई है। संग्रह की 'आधे रास्ते' कविता में व्यक्ति की अधूरी इच्छाओं व अधूरे सपनों की कैफियत दरशायी गई है तो 'नया वर्ष फिर आया' में मध्यवर्गीय व्यक्ति की छटपटाहट का सांकेतिक हवाला है। आज के युग में आदमी जिन्दगी जीता नहीं है, बल्कि जिन्दगी उसे जीती है, वह मरता नहीं तो भी मृत्यु-दंश उसे डसने को तत्पर रहता है जो मृत्यु से ज्यादा खतरनाक है। यही वह स्थिति है जो उसे यह सोचने को मजबूर करती है कि मैं अपने ही तन से निर्वासित हूँ।' मेरा अस्तित्व मेरे ही लिए चुनौती है। 'कभी-कभी लगता है' कविता इसी भाव-धारा को वहन किये हुये है।

'कैसी विचित्र है यह जिन्दगी' में जीवन-व्यापी विसंगतियों, विडम्बनाओं, हर क्षण मिलने वाले अविश्वास, आशंका, भय और कितनी ही थका देने वाली स्थितियों का मार्मिक अंकन है :

'सुनो! जब मैं किसी को आवाज देता हूँ
वह चीखकर भाग जाता है,
और जब कोई स्वयं मेरी ओर बढ़ता है
मैं आँखें बंद कर लेता हूँ!'

\+ \+ \+ \+

'हर ओर एक जड़ता
नहीं-नहीं एक मृत्यु है

जिसके सामने मैं अपने को खड़ा पाता हूँ
और अन्त में कहीं कोई राह न मिलने पर
अपनी ही पराजय के सर्प-मुख के सम्मुख
आहार के लिए रखे गये मेंढक-सा
निश्चेष्ट बैठ जाता हूँ !'

इन स्थितियों में भी कवि के मन में जीने की चाह है। वह उस जिन्दगी का कायल नहीं है जो सड़े हुए फलों की पेटियों की तरह बाजार की भीड़ में मर जाती हैं या फिर रोज-रोज झाड़ पोछ कर दुकान पर एक खरीददार से दूसरे खरीददार की प्रतीक्षा में सजा दी जाती हैं। यह अर्थहीन जिन्दगी किसी काम की नहीं है। जिन्दगी जीने की यह चाह 'फिर भी' कविता में पूरी आस्था के साथ व्यंजित है। आज की सभ्यता ने दुनियाँ को एक ऐसे किनारे पर ला पटका है जहाँ वह एक तो बुद्धिवादी हो गई है और दूसरे अपने में सिमटी हुई। तभी उसे न तो निरीह, असहाय और लावारिशों की मौत पर दुख है और न आँसू बहाने की फ़ुर्सत ही। आज की सभ्यता का तकाजा ही यह है कि आदमी अपने स्वाद के लिये, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये दूसरों की जिन्दगी से खेले। आज ज्यादा समझदार वही है जो दूसरों को अधिक यातना दे सके और अपनी इच्छाओं के महल में दूसरों की बिना परवाह किये रंग-रास मनाता रहे।

'इन समझदार लोगों के बीच' कविता में इसी विद्रूपता करुणा, विवशता और पराजय का स्वर मुखरित है।' यहीं कहीं कच्ची सड़क थी' और 'भरम गये हो तुम' कविताओं में सर्वेश्वर ने बड़ी सहज शैली में यह बता दिया है कि आज जीवन में पुरानेपन का गला दबोचकर नयापन किस तरह हावी है। हाँ, एक बात खटकती है—अतीत या पुराने के प्रति अतिरिक्त आसक्ति।

आसक्ति की इस प्रक्रिया में नया निरादृत हो गया हैं, जो अतिरंजित भावुकता का परिणाम है। लगता है यहाँ कवि के चिन्तन के तार टूट गये हैं। 'अरबनाइजेशन' के युग में जबकि नित नये वैज्ञानिक आकर्षणों के तार से मानव-दृष्टि बँधी हुई हो, उस समय यह कहना किसी भी नये कवि के लिए बेमानी बात है :

'खेतों के मेड़ों की ओस नमी मिट्टी
जितनी देर मेरे इन पाँवों में लगी रही,

उतनी देर जैसे मेरे सब अपने रहे ।
उतनी देर जैसे सारी दुनियाँ सगी रही
किन्तु मैंने जैसे ही मौजे-जूते पहन लिये
जेब के पर्स का खयाल आने लगा,
मेरे आत्मीयो का रुका हुआ काफिला
एक-एक करके शीश झुका जाने लगा ।''

इन पक्तियो मे बताया गया हे कि नगरीकरण ने सभ्यता और संस्कृति के मूलतत्व बदल दिये हे । जीवनगत सहजता, आत्मीयता और सम्बन्धो की दृढता अब नयी जिन्दगी के प्रवाह मे कही की कही खो गई हे । वैसे यदि अतीत की आसक्ति की बात भुलादी जाये तो इन पक्तियो का सहज कथ्य व्यग्य के रूप मे आकर मारक बन गया हे । ग्रामीण और नगरीय जीवन का इतनी सहजता मे अन्तर निर्धारण और इतनी परिचित शब्दावली मे, कहाँ मिलेगा ? अभिव्यक्तीकरण प्रभावकारी तो हे ही । 'दिवगत पिता के लिए' कविता मे श्रेष्ठ मानव मूल्यो की प्रभावहीनता पर खेद व्यक्त किया गया हे । कुल मिलाकर सग्रह मे मध्यवर्गीय जिन्दगी की तस्वीर हे । 'हाँ', कुछेक बाते (जिनका ऊपर सकेत किया गया है) बार-बार नई-नई आवाज मे, नये-नये खोल मे सामने आई है । सर्वेश्वर बार-बार अकेलेपन, अजनबियत, अस्तित्व-हीनता, निरर्थक जिन्दगी और प्राकृतिकता से दूर कृत्रिमता मे फँसी जिन्दगी आदि पर कविता लिखते रहे है, किन्तु इस विषयगत 'रिपिटीशन' के दोष को नित नये 'प्रजेन्टेशन' ने उबाने वाला नही बनने दिया हे । मजेदार बात यह हे कि भाषा कही भी दुरूह और अस्पष्ट नही हे । सीधी-सपाट धरती पर शब्दो के महल बडी सहज और स्वाभाविक मुद्रा मे खडे हे । उनमे जहाँ कही भी प्रतीक ओर बिम्बो का शिल्पहै, वहाँ भी अर्थ आसानी से पहचाना और समझा जा सकता है ।

'काठ की घटियाँ' बजाते-बजाते कवि 'बाँस के पुल' से गुजरा तो उसे 'एक सूनी नाव' मिल गई । पहले उसने कल्पना और व्यग्य के जादू से 'कठैली' घटियो मे भी जीवन का स्वर फूँक दिया फिर वह 'बाँस के पुल' मे (जो लचकीला और हल्का होकर भी इस पार मे उस पार जाने का--सम्प्रेषण का साधन है) गुजरा-बिना विकृति के । जीवन के घाट पर जो नाव उसे मिली उसमे कोई नही था । अकेलेपन का भाव लिए हुए भी वह घबराया नही उल्टे उसने तो यही समझा कि यह अकेली और सूनी नाव ही बहुत बडी सार्थकता है ।

कारण कवि की आस्था बौनी नही या फिर ऐसी नहीं जिसे अपने लिए किसी का सहारा खोजना पड़े और जीवन के दूसरे किनारे का 'विजिन' लेने के लिए किसी दूसरे 'सुपरह्यूमन की अपेक्षा हो। कवि के इन शब्दो से गुजरिये तो जान जाइयेगा :

"मेरा एकान्त ही मेरा विजय-स्थल है
जहाँ मैं हर दौड़ के वाद
गर्व से जाकर खड़ा हो जाता हूँ
और चारो ओर की गहन निस्तब्धता के प्रति,
आत्मीयता से भर जाता हूँ.....।"

इस संग्रह में कवि बहुत ज्यादा 'पर्सनल' और 'इन्ट्रोवर्ट' है। उसने केवल अपनी ओर देखा है—अपने लिए सोचा है, किन्तु इस देखने और सोचने में ही वह सारी दुनियाँ को देख गया है। उसने अकेले तट पर बैठकर ही दुनियाँ की दौड़-धूप, आपा-धापी, विवशता, अनजाने दर्द और अनहोने संदर्भो की कितनी ही तस्वीरें अनुभूति और विवेक के कैमरे से उतार ली है। भीड़ से अलग होकर अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करने वाला कवि सहज ही ऐसी-ऐसी अनुभूतियाँ दे गया कि यदि 'भीड़' इसे देखे तो कवि को अपनी जिन्दगी के भीतरी पहलू का चुपचाप 'एक्सरे' लेने का अपराधी ठहरा दे और सहम जाय अपनी ही तस्वीरें दूसरे के पास देखकर !

यों संग्रह में कई रग की कविताएँ हैं, किन्तु संग्रह को पूरा पलटने पर लगता है कि सर्वेश्वर को खोजने के लिए 'इस अपरिचित नगर मे', 'लीक पर वे चलें', 'एक शहर', 'दुर्घटना', 'इस मृत नगर मे', 'एक सूनी नाव', 'युद्ध स्थिति', 'व्यंग्य मत बोलो,' 'पढ़ी लिखी मुर्गियाँ 'अभिशाप' और 'जाता हूँ, जैसी कविताएँ पढ़ने से काम चल जायेगा। 'सूनी नाव' का कवि एक ऐसा स्वतंत्र-चेता कलाकर है जो लीक से हटकर चलना चाहता है। वह जो जिन्दगी जी रहा है वह भले ही रूखी, दुर्बल निष्प्रयोजन और भटकाव भरी हो, किन्तु कवि को वह रास्ता ही प्रिय है जो खुद की ही यात्रा से बना हो—अनिर्मित पंथ। कारण उसके पास जो संकल्प है वही उसका सबसे बड़ा सहारा है। उसे अपने पर अटूट विश्वास है। जब जिन्दगी की जड़ों से मिट्टी खिसक रही हो; विश्वास टूट रहे हों; तब भी वह तो अपने कार्यो के प्रति आश्वस्त है, अपनी आस्था के प्रति सजग और ईमानदार ;

"अपने पर मेरी आस्था
इतनी छोटी नहीं है
कि वह ईश्वर के कंधों पर बैठकर ही
इन पहाड़ियों के पार देख सके।"

सहारे की तलाश कवि को पसन्द नहीं है क्योंकि उसका विश्वास है कि यह तलाश आदमी को छोटा और बिल्कुल अस्तित्वहीन बना देती है; उसके व्यक्तित्व को ही समाप्त कर देती है। संकलन की कई कविताओं में कितने ही संदर्भो से यह बात कही गई है। नये कवियों के मन में जो अस्तित्व-वादी चेतना भरती जा रही है, उसका सही और शुभ पक्ष सर्वेश्वर की कविताओं में मिलता है। वह जिन्दगी किसी 'अभिशाप' से कम नहीं जिसमें आदमी को वरण की स्वाधीनता न हो। अनचाहा दुख और थोपे हुए वरदान भी बहुत बड़े अभिशाप हैं, सन्ताप हैं। इस संदर्भ में संकलन की उन पंक्तियों को भी पढ़ा जा सकता है जिसमें जीवन की निरर्थकता, मानव मूल्यों की अर्थहीनता, खोखलापन, अपरिचय, समाज के प्रति अविश्वास, मृत्यु भय और मानव-हृदय की भीतरी पर्तो में छिड़े द्वन्द्व आदि की मनस्थितियों का अंकन है।

'सूनी नाव' इस अर्थ में अपनी सार्थकता प्रमाणित करती है कि दुनियाँ में परिचितों के बीच रहकर भी अपरिचय और अकेलेपन की अनुभूति के 'घेराव' में घिरा कवि अपने एकान्त को ही विजय-स्थल मानता है। ठीक भी है 'इस अपरिचित नगर में' केवल एकान्त ही तो है जो केवल उसका है, आत्मीय है और जिस पर उसे गर्व है। सर्वेश्वर की कविताओं में 'सूनेपन' और 'अकेलेपन' का जो भाव मिलता है, उसके पीछे अस्तित्ववादी दृष्टि है, वह चिन्तन है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा करता है तथा भौतिक और यथार्थ परिस्थितियों का एकदम निराकरण करके 'शून्यता' को महत्व देता है। 'अकेलेपन' का वरण उसे रिक्तता का बोध भी दे रहा है। इस अनुभूति ने व्यक्ति की 'सजीव चाह' और 'वाइटेलिटी' को समाप्त कर दिया है। अतः उसके सारे सम्बन्ध उखड़े हुये हैं और वह 'अकेलेपन' में छूटता जा रहा है। इस परिस्थिति में यदि वह 'अकेलेपन' और 'रिक्तता' का वरण न करे तो चारा भी क्या है?........

'दृष्टियाँ असंख्य मिलती हैं
लेकिन किसी भी पुतली में

मुझे अपना 'अक्स' नहीं दीखता
हर सम्बन्ध की सीढ़ी से
उतरने के बाद
मैं और अकेला छूट जाता हूँ
इस मृत नगर में !'

समय का 'रोलर' लुढ़क रहा है। आदमी पिस रहा है। कभी 'समतल' होगा भी या नहीं कौन जाने ??–?? संसार ने कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ी है; पर वह जिन्दा रहने के लिए उन सबसे बड़ी लड़ाई अपने आप से लड़ रहा है। इसमें वह हर मोर्चे पर अकेला है, दूसरों के लिये अधिक समर्थ और अपने लिए अधिक सार्थक बनता हुआ; खासा मजाक है। वह लड़ाई दुनियाँ भर की सभी लड़ाइयों की तुलना में बड़ी है क्योंकि यह मन के अनगिनत स्तरों पर लड़ी जा रही है। कवि ने लिखा है :

कितने छोटे हैं वे मोर्चे
वे सामरिक चालें
उस लड़ाई के आगे
जो इन्सानियत के संदर्भ में
इन्सान लड़ता है !

आज इन्सान जिस जिन्दगी को जी रहा है, वह इतनी बेमानी है कि वह उससे ऊबता जा रहा है। वही क्रम– सुबह से शाम तक की भाग दौड़, वही सब लेन-देन, हिसाबकिताब, द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्व और एक मरी हुई जिन्दगी को जीवित-सा दिखाने का शौक ! इसीसे उसके प्रति कोई आस्था नहीं रह गई है । 'वह अपने को दोहराते-दोहराते थक गया है। ताश के पत्तों की तरह वह अपने विश्वास को कब तक फेंटता रहे ?' यह समस्या ही उसकी ऊब व उदासी का कारण है। सर्वेश्वर ने संकलन में इस प्रकार के कई संदर्भ दिये हैं। 'जाता हूँ मैं' कविता में यह संदर्भ अच्छे ढंग से उभरा है। 'दुर्घटना' कविता में भी अनहोनी कल्पनाओं में व अनदेखे संदर्भों में अपने आप को कुचला और दबा हुआ महसूस करने का प्रभावशाली अंकन है। यह बहुत बड़ी दुर्घटना है कि व्यक्ति के जीवन में जो कभी नहीं घटा, कभी न हुआ, वह उसी के बोझ से दबा और उसी की चोट से घायल है। ये विवशताएँ ही आज आदमी को मृत्युबोध के निकट ला रही हैं। प्राय: कहा जाता है कि आज का

कवि मृत्यु पर क्यों लिखता है ? ऐसा क्या हो गया है; जिसने उसे यह सोचने और लिखने को वाध्य कर दिया है ?

मैं समझता हूँ अकल्पित संदर्भ उसे घेरे हुए है और यही कारण है कि वह जिन्दा लाश से अधिक नही रह गया है। विडम्बना तो तब और बढ़ जाती है जबकि उसे दूसरी लाशों के साथ रहकर यह बताना और पड़ता है कि मैं लाश हूँ—चलती-फिरती लाश। 'इस मृत नगर में' कविता में मृत्यु की यह अनुभूति बड़े सही ढंग से अभिव्यक्त हो सकी है। कवि ने शब्दों का ऐसा चयन किया है कि वे अर्थ सम्प्रेषण में पूरी तरह खरे उतरे हैं। कई पंक्तियाँ तो 'व्यंजना' के स्तरों को भी पार करके आगे बढ़ गई है।

व्यंग्य करना सर्वेश्वर का सहज गुण है। वे व्यंग्य करते है—व्यक्ति पर, समाज पर, समाज के ढाँचे पर और दुनियाँ के तौर तरीकों पर। व्यंग्य कही तो हास्य से मिलकर हल्का हो गया है और कहीं इतना चुटीला कि कथ्य को स्पष्ट करता हुआ पाठक के हृदय के आर-पार हो जाता है। समाज में कितने ही दोष हैं जिन्हें कवि ने व्यंग्य के सहारे उजागर किया है। सर्वेश्वर के व्यंग्यों मे 'पक्षधरता' और अकारण आक्षेप करने की प्रवृत्ति नही है। ऐसा तो वह कवि किया करता है जो अपने 'अहं' को तुष्टि की खुराक पिलाकर सावधान रखना चाहता है। व्यंग्य का यह स्वर 'काठ की घंटियों' में भी सुना और 'बाँस के पुल' की चरमराहट में भी। फिर 'एक सूनी नाव' इससे अछूती क्यों रहती ? वहाँ तो अकेले में बैठकर दुनियाँ का नजारा अलग-अलग कोणों से देखकर व्यंग्य करने की खासी छूट हो सकती थी। इस दृष्टि से 'व्यंग्य मत बोलो' 'किड़-किड़ कियाँ:कियाँ करती पढ़ी लिखी मुर्गियों वाली कविता, 'धन्त मन्त' और 'तर्क योग' का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। 'व्यंग्य मत बोलो' कविता में अंधी दुनियाँ की अँधेरे में राह टटोलती, बिना समझे बूझे अनुकरण की प्रवृत्ति, गिरगिट की तरह रंग बदलती, बाहर से चिकनी-चुपड़ी, किन्तु अन्दर खूँखार और अपने स्वार्थ के लिए अपने को बेचकर भी काम निकालने वाली प्रवृत्ति पर खासाव्यंग्य किया गया है। 'पढ़ी लिखी मुर्गियों' के माध्यम से आज की फैशन परस्त, चमक-दमक के रग मे रगी और अस्तित्व से बेखबर जाति को व्यंग्य का शिकार बनाया गया है। यों सामाजिक व्यंग्य कई रूप मे उभरा है; किन्तु कई स्थलों पर सांकेतिक शैली में कलात्मक चोट की गई है :

यह गली सँकरी है
वह गली सँकरी है
इस गली में एक दुकान है
उस गली में एक दुकान है
इस गली का दुकानदार बेईमान है
उस गली का दुकानदार बेईमान है
क्या इसी से
दोनों गलियाँ मिलकर एक हो जायेंगी ?
और हमारे तुम्हारे रास्ते एक हो जायेंगे ?
फिर तुम क्या करोगे
मेरे साथ आकर
और मैं भी क्या करूँगा ?
तुम्हारे साथ जाकर ?

आज ईश्वर का नाम कवच मात्र रह गया है जिसके सहारे कोई भी मूर्खता, कोई भी कितनी भी बड़ी बदतमीजी कभी भी की जा सकती है। संकलन की 'इस मृत नगर में' कविता में इसी तरह का व्यंग्य है। 'बाँस के पुल' संग्रह में आई 'यहीं कहीं कच्ची सड़क थी' कविता में नये को निरादृत कर पुराने के प्रति जो आसक्ति का हल्का-सा भाव था, वह यहाँ नहीं है। यह सही है कि कवि को शहरों की जिन्दगी पसन्द नहीं है, पर फिर भी वह उसे छोड़ने को तत्पर नहीं। जो जिन्दगी सामने है, उसका अपना तकाजा है और इसी ने उसका दामन थाम रखा है। यों यह राह मोड़ने को तत्पर है; पर सामने यात्रा सी पड़ी शहरी जिन्दगी को देखकर यही कहकर रह जाता है :

बिलों और बसों के टिकटों पर
पैर रखता हुआ
राह मोड़ सकता हूँ
पर दूकानें बन्द हैं
और मुझे अपनी कीमत चुकानी है।

संकलन में 'रोमांटिक मूड़' की कविताएँ भी मौजूद हैं; पर दूसरी कविताओं की तुलना में हल्की और अतिरिक्त संवेदनापूर्ण भावुक मन की अभिव्यक्ति भर। हाँ, पहले से कुछ प्रौढ़ और परिपक्व। प्रेमी के सामीप्य की स्थितियों की अभिव्यक्ति नये धरातल पर हुई है। मनोवैज्ञानिक संदर्भ में लिखी गई ये पंक्तियाँ देखिये :

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है
कि दिशायें पास आ गई है
हर रास्ता छोटा हो गया है
दुनियाँ सिमट कर
एक आँगन वन गई है
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे महसूस हुआ है
कि हर वात का मतलव होता है
यहाँ तक कि घास के हिलने का भी

और—

तुमसे अलग होकर
अचानक पंख छोटे हो गये है
और मै नीचे एक सीमाहीन सागर मे
गिरता जा रहा हूँ
....

तुमसे अलग होकर
हर चीज में कुछ खोजने का बोध
हर चीज से कुछ पाने की
अभिलाषा जाती रही !
सारा अस्तित्व रेल की पटरी-सा विछा है
हर क्षण धड़धड़ाता हुआ निकल जाता है।

कुल मिलाकर संग्रह की वे कविताएँ ही ज्यादा मूल्य रखती है; जिनमे जिन्दगी के विविध संदर्भ कही व्यंग्य से, कही स्पष्ट और कही प्रतीकों से रूपायित हुये है। सर्वेश्वर की सवसे वड़ी उपलब्धि कवितागत सहजता और आत्मीयता हे। यह ऐसी उपलब्धि हे जो उन्हे आभिजात्य शिल्प के हिमायती अज्ञेय से अलग करती हे। उन्होने अनुभूत कथ्य को उन्ही दो गुणों के कारण सहज सम्प्रेष्य वना दिया हे। कही भी कोई लाग-लपेट नही है और न कही कोई मुखौटा ही। आज दिन व दिन उभरने वाली नयी 'पीढियों' के कितने ही दल ऐसे है जो दूसरो मे अपने को अलग प्रमाणित करने के लिए अहम् की चादर ओढे घूम रहे है ठीक वैसे ही जैसे कोई दंभी 'रामनामी' चादर ओढ

कर जिधर से भी गुजरता है वहीं से अपनी 'साधुता' के पेम्फलेट', या इश्तहार बाँटता चलता है, लेकिन ये बँटे हुए 'पेम्फलेट', 'इन्टलैक्च्युल्स' के पास जाकर तो अपनी सारी अहमियत खो देते हैं। सर्वेश्वर की स्थिति ऐसी नहीं हैं। वे जिस सत्य, दर्द और सौन्दर्य की कविता लिखते हैं, वह साधारणीकृत होकर आसानी से गले भी उतर जाता है। किसी भी कवि के लिए यह बहुत बड़ी बात है। सर्वेश्वर के प्रतीक और उपमान न तो घिसे-पिटे और मुलम्मा उतरे हुए हैं और न बिम्ब बासी और 'आफिन रिपीटेड'।

'बाँस के पुल' से गुजरने के बाद सर्वेश्वर को जो नाव मिली थी, वही **'गर्मराख'** में भी पीछा नहीं छोड़ सकी है। पहले की शून्यता, अकेलापन, अकेलेपन के अहसास से जुड़ी वे सारी मनस्थितियाँ कवि में ज्यों की त्यों हैं। उसका 'इन्ट्रोवर्शियल एटीट्यूड' थोड़ी बहुत देर के लिये यदि बाहर आकर भी अपने पंख फैलाता है तो भी कवि एक द्वैत–दो खंभों, के बीच झूलता नजर आता है। इस द्विधा में ही कविता गिरने लगती है और अनुभूति की दीवारों से बाहरी बोध का पलस्तर झड़ने लगता है। ऐसा क्यों होता है कि कवि दोनों स्तरों पर अपनी हाजिरी देना चाहता है? इसका उत्तर सर्वेश्वर की कविताओं में ही मिल सकता है। वे रूमानी बोध में अपनी निजता का नक्शा तैयार करते हैं और उसे तैयार करते-करते वही देश और राजनीति का नक्शा भी हो जाता है। ऐसा होना बुरा नहीं है, किन्तु फिर उलटकर अपनी निजी संवेदनाओं की चौखट पर सिर पटकना और होश आते ही फिर दुनियाँ की ओर ताक-झाँक में एक दरार बनी रहती है और सब कुछ मिलकर ऐसी गिड्डुली बन जाती है कि असली नक्शे की पहचान में कठिनाई होती है। ऐसे स्थलों पर सर्वेश्वर की कुछेक कविताओं में तो भाषा और भाव भी कई बार समझौता नहीं कर पाते हैं।

सर्वेश्वर के पिछले संग्रहों से जिस आत्मीयता, भोलेपन और एक विश्वसनीय सादगी की शुरूआत हुई थी, उसकी एक कतार यहाँ भी खड़ी मिलेगी ठीक वैसे ही जैसे प्रेम की सहज और विश्वसनीय स्थितियों की पाँत। संकलन के दूसरे खण्ड की कविताओं में, जो स्वर्गीया पत्नी को समर्पित हैं, काफी हद तक रूमानी रुझान है। यह शक्ति भावुक कवियों की तरह इस कवि की जमापूँजी भी है जिसे वह गाहे-बगाहे या जरूरत के तौर पर इस्तेमाल करता है। यह इस्तेमाल ही कवि की असली पहचान या कहिये उसकी सीमा को भी रेखांकित करता है। मैं यह नहीं कह रहा कि यह भाव-

शक्ति गैर जरूरी है। मैं तो यह कह रहा हूँ कि कवि इस बदलती दुनियाँ में भी सिमटा हुआ है या कहें नयी दुनियाँ का शोर-शराब, कुहराम और धकापेल उसकी कल्पना में अँट नहीं पा रहा है। कभी अँटता भी है तो वह निजीपन के दायरे में इस कदर घुटकर रह जाता है कि उसकी पहचान ही मुश्किल हो जाती है। पिछले संकलनों में इसका दर्द, प्यार और उससे जुड़ा परिवेश जितना साफ और उसकी उपस्थिति का गवाह था वही यहाँ आकर एक नई जमीन पर सिर पटकने की कोशिश में न तो लहूलुहान हो सका और न उसी रूप में अपने आपको सुरक्षित रख सका है। इसी कमजोरी के कारण सारे भावबोध में, जो कि नया भी है, समसामयिक भी है, एक फांक पैदा हो गई है जिसे कवि का शिल्प भी नहीं भर सका है। इतने पर यह बात जरूर है कि संकलन की प्रारम्भिक कविताओं में वह बीच-बीच में समसामयिक स्थितियों से जुड़ने की कोशिश करता है। वह अपनी निजता के घेरे से निकलकर कुछ क्षणों के लिए ही सही अपने आस-पास फैले परिवेश को खुली आँख से देखता है और पूरे मन से अपने को उसमें भरता हुआ स्वयं भोक्ता बन जाता है— उस सबका जो कि उसे कचोटता है। 'धीरे-धीरे' 'यह खिड़की' और 'स्थिति यही है' और छीनने आये हैं वे जैसी कविताओं में सर्वेश्वर कुछ समय के लिए एक चेतन कवि की हैसियत से उस बिन्दु पर उपस्थित है जहाँ वे 'भरी हुई बोतलों के पास खाली गिलास से रख दिये गये हैं।' उसकी आत्मा देश और समाज की आत्मा में प्रवेश कर गई है। जहाँ सब कुछ तेजी से नहीं धीरे-धीरे लड़खड़ा रहा है। जिस देश में मूल्यों का विघटन हो रहा हो और जिसकी तरक्की की रफ्तार धीरे-धीरे टालमटोल आश्वासनों से और भी मद्धम पड़ गई हो; उस देश का कवि यही कह सकता है :

'धीरे-धीरे एक क्रांति-यात्रा
शांति-यात्रा में बदल रही है
सड़ाँध फैल रही है—
नक्शे पर देश के
और आँखों में प्यार के
सीमान्त धुँधले पड़ते जा रहे हैं
और हम चूहों से देख रहे हैं [1]

---

१. गर्म हवाएं : पृष्ठ १२

और भी पंक्तियाँ देखिये जिनमें आजादी के वाद की हालत वेपर्द होकर सामने आई है :

मेरे दोस्तो !
धीरे-धीरे कुछ नहीं होता
सिर्फ मौत होती है,
धीरे धीरे कुछ नहीं आता
सिर्फ मौत आती है,
धीरे-धीरे कुछ नहीं मिलता
सिर्फ मौत मिलती है,
मौत—
खाली वोतलों के पास
खाली गिलास सी !' [१]

देश का विघटन, उसके जीवन में धीरे-धीरे जमा होती गई रिक्तता देश को, और हमको मृत्यु की गोद में धकेल रही है। कवि अपने में सिमटा हुआ मृत्यु के पास खड़ा; देश की नियति का गवाह वन गया है। वह अकेलेपन, वेवसी और मृत्युदंश से कराह रहा है। ऐसे ही वह अव उस खिड़की को वन्द रखना चाहता है जिसमें मानवीय मूल्यों का स्वरूप वंद है क्योंकि उसे भय है, त्रास है कि अव वे या तो वेकार हैं या उनकी रक्षा जरूरी है। उसी सुरक्षा-भावना में वहता हुआ मानवीय नियति का विश्वासी कवि कह देता है :

किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से
वंद कमरे की घुटन वेहतर है
जिसने खुद अपनी जवान काटली हो
उससे नहीं वोलूँगा
अव मैं यह खिड़की नही खोलूँगा। [२]

यहाँ निजी परिवेश का दवाव गहराया हुआ है। अव कवि को मानवीय नियति और उसके मूल्यों पर विश्वास नहीं रहा है तभी तो वह उदासी, निराशा और घुटन को पसन्द करता है। आगे वह अर्थहीनता के शोर से दवता चला गया है क्योंकि मुक्ति की आवाज व वंधन-हीनता की ललक वेदम हो

---

१. गर्म हवाएँ: पृष्ठ ११
२. वही, पृष्ठ १३

गई है। वह मानता है कि मौत, मायूसी और सडाँध सच्च नहीं है। ये कोई मूल्य नहीं है। अतः मूल्यों का अन्वेषण होने का दावेदार कवि मूल्यों के संक्रमण की ओर इशारा करता है :

जिन्दगी मरा हुआ चूहा नहीं है
जिसे मुख से दबाये
बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाये,
और मुंडेर पर
कुछ खून के दाग छोड़ जाये,
उनसे न तो इतिहास लिखा जाता है
न प्रेम-पत्र,
उनसे न तो झण्डे रंगे जाते हैं
न रुमाल"[१]

लगता है कवि की भाषा यहाँ तेजी से भागती हुई हर जड़ता, सूनेपन और हर पथरायी स्थिति के बिम्ब सौंप रही है। उसमें एक ओर आक्रोश की हल्की मुद्रा उभरती है तो दूसरी ओर साहसिकता और निर्भय होकर खड़े होने की गवाही भी उभरती है। वह 'सात आसमान रोलने' की बात करता है और इसी संदर्भ में उसका घुटन भरा कमरा-निजी परिवेश, देश का सलामी मंच बन जाता है। कविता की रौ में बहते हुए हमारी संवेदनाएँ झन-झना उठती हैं जब कवि कहता है :

यह बन्द कमरा
सलामी मंच है
जहाँ मैं खड़ा हूँ—
पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते
ठठरियाँ खड़खड़ाते
हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं।
झाँकियाँ निकलती हैं
ढोंग की विश्वासघात की
बदबू आती है हर बार
एक मरी हुई बात की[२]

१. गर्म हवाएँ : पृ० १४
२. गर्म हवाएँ : पृ० १५

और आगे उसकी ये पंक्तियाँ 'असमर्थ देश,/असमर्थ प्यार,/दोनों को ही मेरा नमस्कार',/कवि की चेतना के उन क्षणों को उजागर करती है जिनमें उसके निजी परिवेश की पीठ पर देश और उसकी विविध स्थितियों का वोझ उतर आया है। यद्यपि उसे विश्वास है कि इन अनचाही स्थितियों का वोझ किसी को भी गवारा नहीं है, किन्तु, क्या, लेकिन, परन्तु जैसे शब्दों की सीमा से दीवार लाँघकर आती विवशता, लाचारी और वेदम स्थितियों से सारा देश व समाज बुरी तरह घिर गया है। ऐसी स्थिति में "कोई रास्ता कहीं नही ले जाता/वापस लौट आता है/उन्हीं तहखानों में/....जहाँ चारों ओर लगी हुई/दीमकों की कतार है,/सीलन है, चूहे हैं, जाले हैं"/देश में नपुंसकता और लाचारी का फैलाव इतना बढ़ गया है कि कोई भी साहस और आक्रोश के साथ कुछ भी नहीं कर पाता है। सत्ताधारी और देश की वागडोर को सँभालने वाले पाशविक हो गये है, किन्तु गीत करुणा और बंधुत्व के ही गाते हैं, शोषक होकर भी पोषक वने रहने या वनते हुए अपने आपको दिखाते हैं। ऐसे परिवेश में जीवत व्यक्ति इतना कमजोर और सव कुछ सहने का आदी हो गया है कि वह न तो गुस्सा कर सकता है और न इस सब पर, श्रीकांत वर्मा की शब्दा-वली में कहें, तो दो टूक बात कहता हुआ थूक सकता है क्योंकि :

"मैं जानता हूँ मेरे दोस्त
हमारा तुम्हारा गुस्सा और सबका गुस्सा
जंगली सूअर की तरह तेजी से
सीधे दौड़ता हुआ निकल जायेगा।"[1]

सामाजिक विसंगति की भयावहता और दमघोट स्थितियों में आदमी को अपना ही चेहरा दिखाई नहीं देता है। उसे अपनी ही चीख गैर की मालूम पड़ती है मानो मृत्यु के भय से घबराया या बौखलाया आदमी इस तरह समाज में जी रहा है (हाँ चाहें तो उसे जीना कह लीजिये) कि सिवाय इसके कि वर्त-मान स्थिति में वह अपने होते हुए भी न होने का आखिरी बयान दर्ज कराना चाहता है। ये कतिपय संदर्भ ऐसे है जिनमें सर्वेश्वर वर्तमान, या कहें कि वर्तमान के भी उस क्षण, पर खड़े है, जहाँ से वे सारे समाज की तस्वीर को कुछ ही शब्दों में आकार दे देते हैं। वे वर्तमान विसंगतियों और तनाव के उस रूप को बिम्बों में बाँधते हुए दिखाई देते है जिस पर साठोत्तरी लेखन

१. गर्म हवाएँ : पृ० २१

टिका हुआ है। ये थोड़े से शब्द-संकेत, थोड़ी सी स्थितियों का जायजा हमें सर्वेश्वर को समसामयिक बोध और परिवेश का कवि मानने को बाध्य करता जरूर है, किन्तु उसमें जिस तिलमिलाहट को व्यक्त करने का इरादा है, वह इतना सीमित है कि लगता ही नहीं कि कवि सचेतन बिन्दु पर खड़ा है। ऐसा इरादा, ऐसा आभास 'एक सूनीनाव' और 'बाँस के पुल' में भी था, किन्तु तबसे अब तक इसमें कुछ जुड़ा हुआ नहीं लगता है, सब कुछ वही है या उसी एक बिन्दु पर लौट-लौट जाता है जहाँ वह पहिले था। क्या 65 और 71 का अन्तराल कुछ भी ऐसा बड़ा हुआ नहीं है कि कवि की चेतना कुछ विस्तार कर सकती ? या उसमें वह साहसिकता आ जाती है जिसकी आज के लेखन और जीवन में जरूरत है। मैं यह नही कहता कि हर स्थिति कविता हो, उसमें हर स्पदन और धड़कन का स्वर हो, किन्तु यह जरूर समझता हूँ कि पिछले पाँच-सात वर्ष बड़ी अहमियत रखते हैं। उनमें जो युद्ध और युद्धोत्तर मनस्थितियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उगी विसंगतियों से उत्पन्न खीझ, अकुलाहट और निष्क्रियता, राजनीतिक दायरे में हुई उथल-पुथल व उससे जुड़ा जनमानस, आदमी की असली हालत जानने की उत्सुकता, असंतोष और मानवीय सम्बन्धों की संदिग्ध स्थिति आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं जो कवि की चेतना में समा सकती थीं। संकलन में कतिपय ऐसे संकेत भी है : किन्तु वह जमे हुए, ठहरे हुए और बार-बार लौट-लौटकर गांधी और लोहिया पर आकर ही समाप्त हो गये हैं।

आजादी के बाद की स्वार्थान्धिता और निर्ममता की बात पुरानी पड़ गई है। साथ ही अब वह समय भी नही रहा कि किसी नेता या देवता के नाम पर समाज को सुधारने का व्रत लिया जाय खासकर कविता में। 'लोहिया' और 'गांधी' के सम्बन्ध से लिखी गई कविताएँ ऐसी ही सुधारवादिता का प्रच्छन्न आभास देती हैं। 'लोहिया के न रहनेपर' मे कवि की श्रद्धांजलि एक प्रलाप प्रतीत होती है। चार पृष्ठों की इस कविता के आखिरी पृष्ठ तो खासे उपदेशात्मक और प्रचारात्मक हो गये हैं। उनमें 'लोहिया' के व्यक्तित्व, उनकी अनुपस्थिति का अभाव उतना नहीं उभर सका है जितना कि प्रचार या उनका विज्ञापन। यह विज्ञापन कवि की चेतना का स्खलन है। सर्वेश्वर जैसे सहज विश्वासी और सरल कवि को ऐसी स्थितियों पर काव्य रचना चाहिये। वे अच्छे कवि हैं या हो सकते हैं; किन्तु उनकी यह स्थितिगत अवसरवादिता ही उनकी कविता को पहाड़ से खड्ड में धकेल देती है। अब तक के काव्य-सृजन ने उनका

जो व्यक्तित्व उभरा है वह एक संयत, सहज व आस्थावान कवि का व्यक्तित्व है। व्यंग्य के गायक और रूमानी संदर्भो की विभिन्न मनस्थितियों से अधिक वह समसामयिक परिवेश से हल्के रूप में जुड़ा हुआ है। समकालीन जीवन का भूगोल और इतिहास दोनों ही उसमें हैं, किन्तु उनको खोजने के लिए उनकी रूमानी कविताएँ ही सहायक हो सकती हैं या हो सकी है। व्यंग्य करना उनका स्वभाव रहा है। आलोच्य संकलन में भी तीन कविताएँ: 'पंचधातु', 'बुद्धिजीवी' और 'दूसरों के कपडे पहनकर' व्यंग्य भाव को उजागर करती है। एक में गांधीजी के सम्बन्ध से, दूसरी में आज के तथाकथित बुद्धिजीवियों पर और तीसरी में 'नक्सलपथियों' व नंगी पीढ़ी पर व्यंग्य किया गया है। इन कविताओं का व्यंग्य पहली कविताओं की तुलना में हल्का है, वरन् एक हास्यमिश्रित व्यंग्य का भाव जगता है जो विश्वसनीय कम और हास्यास्पद ज्यादा लगता है 'पंचधातु' का व्यंग्य फिर भी प्रभावित करने की कोशिश करता है :

"और तुम्हारी लाठी ?
उसी को टेककर चल रही है
एक विगड़ी दिमाग डगमगाती सत्ता !
और तुम्हारा चश्मा ?
इतने दिनों हर कोई
उसे ही लगाकर
दिखाता रहा है अंधों को करिश्मा !
तुम्हारी चप्पल ?
गरीबी की चाँदी गंजी
करने के काम आ रही है।"[1]

गांधी के बाद उनके सिद्धान्त समसामयिक या व्यावहारिक न होने के कारण स्वतः ही लांछित हो गये। अब वे या तो जनता को धोखे में रखने के हथियार रह गये हैं या उनकी सादगी विशेष अवसरों पर नेताओं द्वारा अपना उल्लू सीधा करने तक सीमित रह गई है। उद्धृत कवितांश में 'गांधी की लाठी' 'चप्पल' और 'चश्मे' से व्यंग्य को तीखा बनाने की कोशिश की गई है। 'बुद्धिजीवी' में बुद्धिजीवियों की उस थोथी तर्कणा और टालमटूल प्रवृत्ति पर व्यंग्य है

१. गर्म हवाएँ: पृ० ३०

जिसमे वे अव्यवस्था और समाज में चौड़ी होती दरारों को नजरन्दाज करके नया रचने की ओर अग्रसर होते है। भले ही रचने में पीछे का बना-बनाया बिगड़ जाये। 'दूसरों के कपड़े पहनकर' कविता का व्यंग्य बहुत हल्का और हास्यास्पद हो गया है। व्यंग्य की मूल धातु तीक्ष्णता हास्यास्पद शब्दावली से जैसे कुंठित हो गई है। जिस सर्वेश्वर के व्यंग्य सबसे तीखे और मारक होते थे, उसी के व्यंग्य इस सकलन में कोई सिद्धि करते नही दीखते है। वे न तो सामाजिक बोध को गहरे छूते है और न बौद्धिक परिवेश से जुड़े हुए प्रतीत होते है। इसी से व्यग्य बोध की कविताओं में ('पचधातु' को छोड़कर) एक अकल्पनीय ठडापन आ गया है। वह सर्द ही सर्द है, गर्म हवाओ की तपतपाती चुभन उनमे नही है।

काव्य सकलन का रूमानी संदर्भ सर्वेश्वर का अपना सदर्भ है जिसमे वे गहरे छूते है। यही वह भूमिका है जहाँ पर खड़े होकर वे अपनी असलियत मे सामने आते है। अनेक अनछुए भाव, अनेक ताजी विम्ब प्रतीको की सार्थक योजना के साथ इस तरह की कविताओ मे देखे जा सकते है। 'भूखा' कविता का दर्द और उससे आई भयावह रिक्तता विश्वसनीय लगती हे। ये स्थितियाँ मन को डुबोती है। कवि की संवेदनशीलता मन पर शब्दो मे न अँट सकने वाले दर्द का अहसास करती है। 'पत्नी की मृत्यु पर' और 'इस जगल' मे कविताओ का दर्द भी सौटंच खरा हे। अनुभव की ईमानदार अभिव्यक्तियों की ये कविताएँ कवि की सही पहचान कराती है और जैसा कि मैंने कहा हे यही सर्वेश्वर की कविता का अपराजेय संदर्भ है। इन कविताओ मे अकेलेपन, जडता, खालीपन, असहनीय दर्द, मृत्युवोध, न कुछ का आभास, गतिहीनता, टूटन, भयावहता और कँपा देने वाली मनस्थितियो के विम्ब वड़े ताजे है। दो उदाहरण देखिये :

1. अभ्यासवश ही मै यहाँ हूँ
   कोई कुछ देने आया है दे जाये,
   लूट लेने आया है ले जाये।
   मुझे सभी एक जैसे लगते है
   किसी का होना न होना
   कोई मतलव नही रखता
   \+ \+ \+ \+
   हाँ मुझ मे कुछ उगेगा नही
   अब कही कोई प्रतीक्षा नही होगी,

एक खाली पेट की तरह
मेरी आत्मा पिचक गयी है
और ईश्वर मरे हुए डाँगर-सा गँधा रहा है[1]

2. वायें हाथ में ले
अपना कटा हुआ दाहिना हाथ
मैं वैठा हूँ घर के उस कोने में
जिसे तुम्हारी मौत
कितनी सफाई से खाली कर गयी हैं
+ + + + + +
अव यहाँ शाम विना पैर धोये हुए आती है
सितार पर रातभर रेंगता है मकड़ा
पर कोई भी तार झंकृत नहीं होता
स्तब्ध है आयु–
मैं रेगिस्तान में खड़ा हूँ
एक टूटी दीवार का अकेलापन भी
अव कहाँ है जो कुछ रोक सके
गर्म हवाएँ सनसनाती हुई
मुझ में से गुजर जाती हैं।
मैं आदमी से नाव वनता जा रहा हूँ।
....

घर के इस खाली कोने में
छोड़ गयी हो तुम एक शिलालेख जो मैं हूँ[2]

ये पंक्तियाँ कवि की ईमानदारी की सही गवाही देती हैं। इनकी भावभूमि के लिये अपनाये गये शब्द-शिल्प में एकाध स्थल को छोड़कर प्रभावकारी सौन्दर्य है। केवल एक ही वात खटकती है–एक ही मनःस्थिति का ब्यौरेवार और वार-वार उल्लेख। 'प्रार्थना' कविताओं की रूमानी प्रवृत्ति में वेदना कम करुणा और याचना का भाव अधिक है। कवि जैसे याचकी मुद्रा में पीड़ा के वेग को कम करता गया है। इसी से शायद सूर्या के लिए' की कविताओं में प्रेम के जो मौन-मंत्र है, वे उसी रूमानी संदर्भ की देन हैं। यहाँ इनमें आस्था की

१. गर्म हवाएँ : पृ० ४५–४६
२. गर्म हवाएँ : पृ० ४७, ४८, ४९

लौ भी चमक रही है। उसकी "आँखों में आत्मा में फिर प्रतीक्षा कौंध जाती है", हर मौन अलौकिक हो जाता है। एक चमक दिखती है; 'जो हीरे की अँगूठियों की तरह झिलमिलाती है"; के संदर्भ ऐसे ही हैं। कुछेक कविताओं में सर्वेश्वर का प्रकृति-प्रेम भी उभर कर आया है। प्रकृति के ये बिम्ब संश्लिष्ट है। उनमें रूपक और मानवीकरण के प्रयोग हैं :

आकाश की तख्ती पर
सितारों की बारहखड़ी लिखकर
चाँद की दवात को लात मार लुढ़का
भाग जाता है रात के मदरसे से
शरारती सूरज,
और चिड़ियाँ सुबह तक
हिसाब जोड़ती रहती हैं
बस्ते में भरकर[१]

और :

आकाश का साफा बाँधकर
सूरज की चिलम खींचता
बैठा है पहाड़,
....
पास ही दहक रही है
पलाश के जंगल की अँगीठी
अंधकार दूर पूर्व में
सिमटा बैठा है, भेड़ों के गल्ले-सा
....
चिलम औंधी
धुँआ उठा
सूरज डूबा
अँधेरा छा गया।[२]

इस उदाहरण मे अन्त की दो पंक्तियाँ न भी होतीं तो भी बात साफ थी। शब्दों की इस फिजूलखर्ची से बिम्ब बिखर गया है। यह सफाई कि "धुआँ

१. गर्म हवायें पृ० ७७
२. वही, : पृ० ७६

उठा और सूरज डूब गया, अँधेरा छा गया" किसलिये ? क्या कविता को लम्बी करने के लिये या फिर हड़बड़ी में ऐसा हुआ ? मानवीकरण की सघनता छितरा गई है। लक्षणों को छिपाने की कोशिश में भी वे जाहिर हो गये हैं। इस कमजोरी से सावधान रहने की जरूरत है। संग्रह में 'वसंत' पर भी दो कवितायें हैं–'फिर वसंत ने मुझे डसा' और 'वसंत के नाम खुला पत्र'। इनमें कवि की सौन्दर्य-चेतना का जो पहलू और उसकी भावबोधकता का स्वरूप है, वह भी कमजोर लगता है। मूलतः कविताएँ अच्छी होकर भी शब्द और अर्थ के बीच एक कभी न भरने वाला 'गैप' छोड़ जाती हैं। कतिपय शब्दों के प्रयोग चिन्त्य हैं : 'अट्टहास कर हँसना, वसंत का डसना और फिर उसी से कवि का *आशीर्वाद—याचन किस संगति और अन्विति की क्रिया* को रेखांकित करता है ? सर्वेश्वर ही जानें। 'वसन्त ने मुझे डसा' की तुक के लिए 'अट्टहास कर हँसा' लिखा गया है जो बेमानी है और शिल्पगत कमजोरी का प्रमाण भी है। तुक के लिए बेतुका मोह—आश्चर्य ! 'वसंत' के नाम खुला पत्र में' रूमानी दृष्टिकोण की वजह से, भोलापन; जिस पर कवि की आस्था गहरी है, आत्म प्रेम और झुक .जाने की स्थिति से उत्पन्न पीड़ा का दंश कविता में आया है। जगह-जगह कवि ने रूमान के निषेध की बात कही है, पर उस नकार में ही सकार हो गया है और अन्ततः वह एक रूमान संदर्भ प्रस्तुत करने वाली कविता होकर रह गई है। कवि का यह कथन देखिये और इसकी पाँचवीं पंक्ति को गौर से देखिये :

पीले फूलों के पास हरी घास पर
मैं एक भाव की हत्या कर आया हूँ
जो मुझे उससे जोड़ता था
मैं जानता हूँ
उस भाव की मृत्यु मेरी मृत्यु है
....
पर मैं जहाँ उसकी लाश पड़ी होगी
वहाँ लौटकर भी नहीं जाऊँगा।'[1]

जहाँ तक कविताओं के शिल्प का सवाल है, वह काफी सादा है, भाव जितने सादे हैं, शिल्प भी उसी तरह उनका सहचर बन गया है, किन्तु कहीं-

---

१. गर्म हवाएँ : पृ० ८७

कहीं जैसा कि एकाध उद्धरण देकर स्पष्ट किया गया है, अन्विति का अभाव व शब्द-विस्तार और उनका अपव्यय खटकता है। एकाध प्रतीक भी ऐसे हैं जो एक ही कविता में दुहरे अर्थ रखते हैं और इसी से अर्थ गड़बड़ हो जाता है। हाँ विम्बों और उपमानों में काफी ताजगी है और कई उपमान तो खासे नये और समसामयिक परिवेश और प्रेमानुभूतियों को उजागर करने में कवि और पाठक दोनों का साथ देते है। कुल मिलाकर संग्रह का वही निजी परिवेश है। यत्र-तत्र संकेतित समकालीन विन्दु यदि रेखा वन गये होते तो कवि के विकास को रेखांकित करने मे सुविधा होती। जो हैं, उनसे सर्वेश्वर का सही अन्दाज काफी सीमित होकर रह गया है। अव तक तो यही लगता है कि कवि रूमानी संदर्भो में ही खरा है, सोलह आने विश्वसनीय। शायद अव तक के कवित्व की सीमा भी यही है। फिर भी यदि यह सीमा वे गहराई से पहचानें तो उनसे उनके ही शब्दों में यह प्रार्थना की जा सकती है :

अपनी दुर्वलता का
मुझ को अभिमान रहे,
अपनी सीमाओं का
नित मुझको ध्यान रहे।[1]

1. गर्म हवाएँ : पृ० ५४

गिरिजाकुमार माथुर :

शिला पंख चमकीले :
जो बँध नही सका :

विधिवत् 'तारसप्तक' से काव्य-यात्रा शुरु करने वाले 'गिरिजाकुमार' की कविताएँ प्रायः प्रेम, प्रकृति और धरती की गंध उड़ाने वाली गीतात्मक कविताएँ हैं। जीवन के रागात्मक पक्ष के कवि माथुर सपनों की सुन्दर मिठास का आस्वादन कराते हुए अपनी परवर्ती रचनाओं में बौद्धिक धरातल पर आने का उपक्रम करते हैं। उनकी राग-चेतना का प्रवाही स्वरूप परिवेश से आवद्ध होकर आधुनिक भाव बोध के विम्बों और प्रतीकों की छाँह में आकर क्षण भर के लिए विरमता है। 'धूप के धान' सग्रह से जुड़ा हुआ यह वोध तमाम रूमानी चित्रों का एलवम होने के बावजूद अपनी ओर खींचता है। यही भाववोध और चेतना 'शिलापंख चमकीले' और जो 'वँध नहीं सका' तक कमोवेश रूप में वृत्त पर वृत्त बनाने की सायास कोशिश करती है। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि गिरिजाकुमार की मूल चेतना रूमानी और गीत-शैली की है, किन्तु यह तथ्य भी वट्टे खाते मे डालने लायक नहीं कि परिवेश-प्रतिवद्धता उन्हें एक सजग शिल्पी और चेतन कवियों की पाँत में विरादराना तौर पर वैठने को आमंत्रित करती है। कविताओं को पढ़ने से लगता है कि उनकी कविता के नेपथ्य में नये मूल्यों और उनकी टकराहट की प्रक्रिया जारी है। वे कसमसा रहें है, किन्तु वह टकराहट और कसमसाहट कविता की पक्तियों में आने से क्यों शर्माती है ? उसमें वह निस्संकोच भाव और साहसिकता क्यों नहीं आ पाई है जो

आधुनिक चेतना के अनेक रचनाकारों में मिलती है ? मैं समझता हूँ कि इसका कारण उनकी कविताओं के मिजाज का अधिक नरम होना है। वे सौन्दर्यान्वेषी होने से कोमल; प्रेमिल और लजीली अभिव्यक्तियों के सूत्रधार है। शिल्पगत नवीनता के कारण संयमित कथनों के कवि है। इन्ही कारणों से उनकी कविता में आधुनिक भाव-बोध की उपस्थिति खुलकर आकार नहीं पा सकी है।

जब मैं कहता हूँ कि माथुर रागात्मक पक्ष के कवि है तो मेरा तात्पर्य यही होता है कि वे राग-सवेदनों के प्रति सहज आस्था के कवि है यानी उनमें रूमानी सदर्भ के प्रति पूरी आस्था के साथ निभाया गया रुझान मिलता है। कवि की आस्था का विन्दु वही है। यह अलग बात है कि वे कभी-कभी निजी सवेदनाओ के रागमूलक रगो मे प्रश्नो की स्याही भी मिला देते है, सामाजिक दायित्व की गध भी भर देते है, किन्तु इस मिलावट से न तो रंग फीके होते है और न उनकी चमक ही मद पड़ती है। माथुर के काव्य के सम्बन्ध में अनेक विद्वानो ने विचार किया है। डॉ० नगेन्द्र जैसे आलोचको ने भी अपनी कलम को गति दी और उनके सहयोगी मित्रो ने भी विचारणा प्रस्तुत की। मुझे ऐसा लगता है कि गिरिजाकुमार न तो विद्रोही और आक्रोशी है और न पूरी तरह रोमांटिक कवि ही, वरन् एक ऐसे रचनाकार है जो रूमानी आकर्षण से आवद्ध होकर भी मानववादी भूमिका पर अपने को प्रस्तुत करते है और इसी प्रस्तुतीकरण मे वे आधुनिक यथार्थ की सीमाओं को कभी स्पर्श करके, कभी उनमे प्रवेश करके और कभी-कभार भोक्ता के रूप में कविता की पंक्तियों में विठा देते ह।

'शिला पन्न चमकीले' सग्रह को ही लें तो वात स्पष्ट हो सकती है। उनका राग-वोध और विचार वोध इस कृति मे मिला-जुला सा है। आग्रह किसी एक के लिए नही है और न किसी की उपेक्षा ही। इस तरह राग और विचार की सधि रेखा पर लिखी गई ये कविताएँ कवि की परिवेशगत सतर्कता भी व्यक्त करती हैं और निजी राग-संवेदना के विम्बो को भी आकार देती है। आलोच्य सकलन मे जो कविताएँ ध्यान आकर्षित करती हैं उनमे 'दियाधरी', 'हव्शदेश', 'तूफान-एक्सप्रेस की रात', पत्ते, लकीरे और इतिहास', 'चन्द्रखण्डो की आत्मा', 'अन्धी शिलाओं की दुनियाँ', 'कही कोई नही', 'जूड़े के फूल', 'सभवो की दुनियाँ', 'वसत एक गीत स्थिति', 'पुरुप मेघ', 'व्यक्तित्व का मध्यान्तर' और 'माटी और मेघ' आदि प्रमुख है। इनमे रूमानी संदर्भ

के साथ-साथ आधुनिक बोध की परतें भी हैं जिनमें एक ओर तो कवि निजी संवेदनाओं में जीता है और दूसरी ओर दीन-दुनियाँ की बातें करता हुआ कुछेक संदर्भों में आज की घुटनभरी सियाही, त्रास और अकेलेपन की अनुभूतियों को भी उजागर करता है। शिल्प की दृष्टि से भी उनका काव्य-संयम 'मार्के' का है। *संग्रह का शीर्षक प्रतीकार्थ रखता है। इस प्रतीकार्थ में कवि की* मूल्यनिष्ठा और संक्रान्तिमूलक अनुभूतियों का अर्थ निहित है। कवि ने 'प्रक्रिया' में इसकी ओर संकेत भी किया है : काली शिलायें चमक कर गिर रही हैं। यह सीमांत रेखा है। एक दुनियाँ के अक्षांश मिटकर लुप्त होते जा रहे हैं, दूसरी के अधबने भी नहीं हैं। संस्कृतियों का सदियों पुराना लम्बा, आततायी न्यायों के मूलाधार पर उठा एक आतंकबद्ध अध्याय समाप्त हो रहा है। दूसरा अधकचरा, भौंड़ा' क्रूड', भ्रूणावस्था में भविष्य की कोख से झाँक रहा है।.........आज हर वस्तु पर आधी कालौंच लगी है........चीजों की शक्ल बदल रही है। आदमी पहचानने में नहीं आता। चरम संक्रमण की पछाड़ में उसका पिछला सांस्कृतिक रूप टूट-टूट कर टुकड़े हो गया है।........ आदमी आत्मा से इस समय एकदम नंगा है। एक मन्वतर बीत रहा है।[१] इस वक्तव्य से शीर्षक का जो प्रतीकार्थ उद्घाटित होता है वह पुराने और चमकीले मूल्यों की टूटन से उत्पन्न मोहभंग और मूल्यगत संक्रान्ति से सम्बद्ध है। इसमें वीरानगी, सत्य और मिथ्या के संधिज मूल्य, स्वार्थ के घेरे में घिरे गर्हित मूल्यों, कायर समझौतों, लिज़लिज़ी तस्वीरों और बदलते सम्बन्धों का संकेत है। यह कथन कवि की कविताओं से कहाँ तक मेल खाता है? यह देखकर ही कोई बात कही जा सकती है। प्रायः देखा जाता है कि फतवे तो ऊँचे और तेज़ तर्राट होते है, किन्तु उनकी संगति कविता के स्तर पर एक शून्य में विलीन होने से अधिक काम की नहीं होती है।

'गिरिजाकुमार' एक प्रबुद्ध कवि और लेखक है। उनके उक्त कथन को, जिनमें मूल्यगत संक्रमण और भीतरी संघर्ष की बात कही गई है, संग्रह की कुछ कविताओं में देखा जा सकता है। यह बात अलग है कि यह बोध कहीं साफ़ तो कहीं पुराने संवेदनों की भीड़ से आक्रान्त होने से पहचानने में एक धैर्य की अपेक्षा रखता है। फिर भी 'चन्द्रखण्डों की आत्मा' कविता की ये पंक्तियाँ उनके मन में उभरे द्वन्द्व और मूल्यगत संक्रमण को अपने में छिपाये हुए हैं :

---

१. शिला पंख चमकीले : प्रक्रिया से

छिपती, दिपती, मद्धिम पड़ती
धुँधली, पूरी, फिर कटी फाँक
यह मैं
मेरा व्यक्तित्वबोध
क्षण जीवन का उपभोग परम
पंखों सी गिरी शिलाएँ
होगा जो । अभी हो चुका है
गत आगत दोनों वर्तमान
स्वीकृतियाँ सारी अनाम.........[1]

और आधुनिक जीवन की संकुलता की बोधक या उससे उत्पन्न संत्रस्त मानस की सूचक में पंक्तियाँ उसकी टूटन और क्षुब्ध मनःस्थिति की द्योतक है :

तम भ्रष्ट मंत्र सा विफल हुआ
जिस दिन विश्वास, स्वप्न, प्यार यह
चाँद बना आबनूस
परियाँ शिलायें स्याह
वर्तमान आहत
भविष्य ! अंधकार"
....
जीवन की नियति बनी
दुख की अनुभूतियाँ
आसन पड़े ही रहे
टूट गई मूर्तियाँ.....[2]

ऐसा लगता है कि माथुर में बाहरी परिवेश के प्रति हुई प्रतिक्रिया भीतरी टूटन और दबाव की सकार भावना के जरिये आकार पाती है । इसी क्रम में 'रात, फुटपाथ और गीत' व 'क्रानिक मरीज', 'लौह मकड़ी का जाल' और 'तूफान एक्सप्रेस की रात' आदि कविताओं में बाहरी परिवेश का दबाव और उससे निष्पन्न मूल्यगत संघर्ष के बिम्ब है । अप्रयोज्य और निष्क्रिय

---

१. शिला पंख चमकीले : पृष्ठ ४१
२. शिला पंख चमकीले : पृष्ठ ४४

स्थितियों से थकी आत्मा का कवि जब थकी आकांक्षाओं, रिक्त लालसाओं और भींखते दंभ की बात कहता है तो मूल्यगत संक्रमण उसकी नजर में रहता है :

मेरे मन में आकाँक्षाओं का थका मौन
निचोड़ी हुई लालसायें, भींखता दंभ
खुमारी उतरने पर, टूटते बदन वाली
प्रेरणा ज्वलन—
उसका मन अविभक्त, धुनी
साबित, अनछिदी घुँघुची–सा
या इन बंद दुकानों के खाली बरामदों सा
पूरा उसका है.........[१]

इसी तरह अपाहिज जिन्दगी, जो एक खाट से बँधकर रह गई है और वहीं हाथ पैर मारती हुई जिस ऊब, घबराहट, बैचेनी, बोरियत, आशंका, आकुलता चिन्ता, अनास्था से घिरी रहने के कारण जितनी क्षणजीवी, त्वचा-सुखी, बदमिज़ाज और अपने में लीन होती जा रही है, उसका अहसास कवि को है और वह उस हर बिन्दु पर उपस्थित है जहाँ तन के रोम-रोम पर अन्वे और ठंडे भाव लिपटते जा रहे हैं। एक ओर तो कवि का यह अहसास है जिसमें जिन्दगी की टीस और निराशा संकेतित है और दूसरी ओर 'प्रक्रिया' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया दावा भी मौजूद है। फिर भी ऐसा लगता है कि पूरे संग्रह का सम्पूर्ण प्रभाव मानवीय अस्तित्व के प्रति निष्ठा और आस्था का है। कवि की भावना 'जिन्दगी की पियरी केसर कभी चुके नहीं, मन के विश्वास का यह सोनचक्र रुके नहीं' के ही इर्दगिर्द घूमती है। उसमें विघटन, अकेलापन, ऊब और संघर्ष का अहसास तो है, पर अभिव्यक्ति नहीं। हाँ, उनकी इन चार कविताओं में, जो अपवाद है, सब कुछ धूल और गर्दगुबार में लिपटा हुआ है। सभी कुछ लश्टम-पश्टम, भटकते जीव, उदासी को रेखांकित करने वाले चेहरे और खोखले लिफाफे सी अकथ उदासियों के कितने ही बिम्ब मन को छूते हैं। इन बिम्बों में कवि की आधुनिक चेतना के अनगिनत अक्स हैं, ऐसे पहलू हैं जो मानव-मूल्यों के ऊपर प्रश्नचिन्ह लगा जाते हैं। मूल्यों की यह विकृति कवि की पीड़ा का सबसे जायज़ कारण है। फिर उसकी उपेक्षा

१. शिला पंख चमकीले : पृष्ठ १७

इसलिए भी नही की जा सकती कि इनकी विकृति के साथ-साथ कही कुछ वनता हुआ नजर नही आ रहा है। कुछ है भी तो वह अधबना और पूरा प्रकाश न होकर टिमटिमाहट भर है। इसीलिए कवि का यह प्रश्न जायज हे ·

उभक रहे है क्या
सुवह के आभास कही ?
दर्द से सफ़र का
क्या अन्त पास आया है
दिखता नही हे कुछ आँखे कही और है
टूटती नही है दर्द दुख की घुमेर यह
भूठ सभी लगता हे
सच है सिर्फ अ धकार[1]

इस तरह यही कहना ठीक है कि माथुर परिवेश के दवाव को महसूस करते है, किन्तु कभी-कभी। यह कभी-कभी भी कभी तो वैयक्तिक सदर्भ मे धुलकर नाकाफी लगता है। यो ऊपर के उद्धरण और सम्बन्धित चार कविताएँ आधुनिक वोध को व्यक्त तो करती ही है, भले ही सतही रूप मे सही। कुछेक छिटपुट पक्तियो मैं भी लगता है कि वह अपनी निजी सवेदनाओ के घेरे से निकलकर मुक्ति की माँग करता है "ओ जीवन देवता ! खण्ड-खण्ड होने से पहले उवार लो"। ऐसी पक्तियो मे आह यह माँग किसी स्तर पर, चाहे तो उसे निजी सवेदनाओ का स्तर कह लीजिए, व्यक्ति की निजी छट-पटाहट ही लगती हे, जिनसे वह मूल्यो के नये प्रतिमान स्थापित करने की आकाक्षा–आस्था व्यक्त करता है। रूमानी भाव और वैयक्तिक सवेदनाओ को सग्रह मे वहुतायत से देखा जा सकता हे और साथ ही कवि की मानव निष्ठा को भी। इतना ही क्यो मानव-व्यक्तित्व के प्रति दिखाई गई इस आस्था के अतिरेक से ही उसमे तृप्ति, उल्लास और आनन्द का भाव भी आकार ग्रहण करता है। चूँकि अधिकता ऐसे ही सदर्भो की हे। अत औसतन इस सग्रह मे तो वह मानव-आस्था और निजी सवेदनाओ का ही विश्वसनीय कवि ठहरता हे। अपवादो की वात इसमे नही आती क्योकि वे तो अपवाद ही होते है या कतिपय विशिष्ट स्थितियो के वाहक भर। यो भी हमारे यहाँ हर क्षेत्र मे अपवादो की एक परम्परा मिलती हे।

---

१ शिला पख चमकीले पृष्ठ ३८

जैसा कि मैने कहा है, अधिकांश कविताओं का स्वर कल्याण, शुभाशसा, आस्था, कामना और आश्वस्ति का है, यह बात पहली ही कविता से सिद्ध हो जाती है। इसमें मन के विश्वास, जीवन की निष्ठा, सतत जागरूकता, निरंतर शांति और शीतलता के द्योतक प्रतीकों के माध्यम से अनागत भविष्य के शुभ प्रश्न की कामना की गई है :

"डंठल पर विगत के, उगे भविष्य संदली
आगम के पंथ मिले, रागोली रंग भरे
सतिये सी मजिल पर, जनभविष्य दीप धरे
आस्था चमेली पर, न धूरी साँझ घिरे"

और

मन में संघर्ष फॉस गड़कर भी दुखे नहीं
पाँव में अनीति के मनुष्य कभी झुके नहीं ।[1]

इसी क्रम मे 'दियाधरी', 'माटी और मेघ', 'खत', 'खट्टी मिट्ठी चाँदनी' और 'ह्व्स देश' कविता की आखिरी पक्तियाँ आदि कवि की आस्था, कामना, शुभाशंसा आदि के स्पष्टीकरण के लिए काफी है। इन कविताओं में जीवन के व्यापक स्वरूप के प्रति कवि की मंगलकामना साकार हो उठी है। यों तो इन पूरी कविताओं में उक्त स्वर मिलते है, किन्तु इनमे से छाँटकर ये पंक्तियाँ ली जा सकती है :

१. जो विभूति रमती जनपद मे
वैसदर की राख सी
कहती है कि अँधेरे पर
आता है उजला पाख ही........[2]

२. जो वीज धरा ने दिया न वह मुरझा सकता
माटी का तेज नही माटी को खा सकता
इन्सान करे चाहे कितनी कोशिश लेकिन
जीवन दीपक लौ वह नही बुझा सकता........[3]

३. खत नये आलोक का पन्ना बने
हर घर मे हँसी की धूप झरना बने

---

१. शिला पख चमकीले पृष्ठ १, २
२. वही. पृष्ठ ६
३. वही, पृष्ठ ११

स्वस्थ सावित जिन्दगी का
आइना नन्हा वने.........[१]

४. याद यह क्षण रहे, चाहे दूर से
दूर ही से सही, आये रोशनी[२]

५. वही अग्नि खेतों से उठकर
मुक्ति उषा वनकर आयेगी
वर्ण यंत्रणावाली
लोहे की दीवार पिघल जाएगी ।[3]

६. इन्सानी मूल्यों के डाल सोन तार नये
जीवन को फिर विराट गीत का अलाप दो
अग्नि दो, तपन, नया ताप दो.........[४]

उक्त संदर्भो में कवि का विश्वास, नवनिर्माण की कामना, मुक्ति की माँग, नई प्रकाश-किरण, जीवन ज्योति के न बुझने की अटूट आस्था और जीवन को किन्हीं विराट तत्वों से जोड़ने का भाव बड़ी संयत और नई भंगिमाओं में अभिव्यक्त किया गया है। माथुर का सौन्दर्यान्वेषीमन संग्रह की कविताओं में प्रेम और प्रकृति की भावपूर्ण छवियों को रेखांकित करता हुआ उसकी परिपक्व रसमग्नता को स्पष्ट करता है। 'चूड़ी का टुकड़ा' लिखने वाला कवि यदि 'अनकही वात' 'जूड़े का फूल' 'खट्टी मिट्ठी चाँदनी' और 'वसंत एक प्रगीत स्थिति' जैसी कविताएँ लिखता है तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये और साथ ही यह अनुमान भी विश्वास में बदल जाना चाहिए कि उसकी सौन्दर्य-चेतना में "रीतिकवियों जैसी परिपक्व रसमयता के साथ-साथ आधुनिक भाववोध की वैयक्तिक आत्मीयता भी है।"[५] 'जूड़े के फूल' में यदि सौन्दर्य की मिठास और मस्ती है तो 'अनकही वात' में प्रेम की अनछुई मनः स्थिति का सही बिम्बांकन भी है। "खेल से, पल्ला जो उँगली पर कसा मन लिपट कर रह गया, छूटा वहीं व "ठीक कर लो, अलक माथे पर पड़ी, ठीक

१. शिला पंख चमकीले : पृ० २६
२. वही : पृष्ठ ५२
३. वही : पृष्ठ ६०
४. वही : पृ० ८५
५. डॉ० जगदीश गुप्त : नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ पृ० ३१०

से आती नहीं है चाँदनी" में जो सौन्दर्य और प्रेम की कामना का बिम्ब है वह शब्द में बँधकर अर्थ की अगणित भंगिमाएँ प्रस्तुत करता है। 'बसंत एक प्रगीत स्थिति' का सौन्दर्य-बोध मन:दिगंत को 'अमलतासी उजास' से भर देता है और 'खट्टी-मिठ्ठी चाँदनी' का स्वाद जीवन को अनेक मधुरिम सवादों से भरता हुआ भावना के कटोरे में कितनी गंध, कितने रंग और कितना रस भर देता है, यह अनुभूति-क्षेत्र की वस्तु है।

इस कृति का शिल्प नयी कविता की संतुलित भूमि पर है। भाषागत संयम, अप्रस्तुतगत नवीनता और प्रतीकों व बिम्बों की ताजगी बेजोड़ है। शब्द-प्रयोग में जो औचित्य और अर्थगर्भत्व है, वह उनकी जागरूकता का प्रमाण है। शब्दों की सूची गैर जरूरी होते हुए भी वह उनके शब्द संस्कार की प्रबुद्धता की सूचक है। उनकी कोशिश रही है कि जिन शब्दों में थोड़ी भी कटुता और तिक्तता है; उसे सरलीकृत संदर्भ देकर अधिक विश्वसनीय और ग्राह्य बनाया जा सकता है। हाँ, कुछेक कविताओं में प्रयोग के प्रति आग्रह, अनावश्यक विस्तार और पुनरावृत्ति, नामगिनाने की झक यहाँ तक कि पीड़ा दायक भावों की सूचीबद्ध लम्बी कतार ('नया नगर', 'क्रानिक मरीज', 'खत' का अंतिम अंश) और आधुनिक बोध को जबरदस्ती ठूँसने का प्रयास न केवल कविता के लिए खतरनाक साबित हुआ है, बल्कि उनकी पोली शब्दावली का भी आभास देता है। अप्रस्तुत प्राय: प्रकृति के उपकरणों से तैयार किये गये हैं फिर भी नवीनता में सानी नहीं रखते। बिम्बों की संश्लिष्टता और संवेद्यता अनुपम है। भाव और विचार की संश्लिष्ट स्थिति को आकार देने वाले बिम्बों की बहुतायत है :

१. नीली रात चँदोवे वाली
पंख गिरा ज्यों मोर का[1]

२. वत्सल छाती सी पहाड़ियाँ
दूध पिलाने आतुरा
बच्चे सा सूरज सो जाता
लेकर मुँह में आँचरा[2]

---

१. शिलापंख चमकीले : पृ० ४

२, वही, पृ० ४

३. हरी भरी नीम नम
कछार की किनार
ठंडी सड़क का बलखाता
हाशिया —[1]

४. सिगरेट के कश से
पीछे को खिचती है आग
राख गिरती है
धातु की मूर्ति चमक उठती है[2]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि आलोच्य संकलन की आत्मा तो निजी संवेदनाओं और सौन्दर्य मे ही बसी हुई है। वह जब कभी भी इस घेरे से निकली है तब उसमें छटपटाहट और पीड़ा का आभास मिलता है। 'टोटल इफेक्ट' की दृष्टि से देखें तो कभी-कभी संक्रान्त मनस्थितियों को उजागर करने वाली संग्रह की कविताएँ आशा, भविष्यधर्मी दृष्टि और मानव-व्यक्तित्व की आस्था व शुभाशंसा की ही कविताएँ हैं। कम से कम इस संग्रह तक तो उनकी सौंदर्य-चेतना के बिम्बों की ओट से समसामयिक परिवेश झाँकता ही दिखाई देता है, साक्षात्कार का साहस उसमें नहीं है। यहाँ डॉ० जगदीश गुप्त से सहमत होते हुए उन्हीं के शब्दों को उधार लेकर कहा जा सकता है कि 'इतिहास के प्रति सजगता, मानवमूल्यों के प्रति कुछ-कुछ विराटता की ओर झुकी हुई चेतना, जनभविष्य के प्रति शुभाकांक्षा, प्रगाढ़ गीतिमयता और वस्तु को रूपायित करने वाली व्यंजक बिम्ब-योजना गिरिजाकुमार की कविता के सशक्त पक्ष को व्यक्त करती है।"[3]

'शिला पंख चमकीले' के बाद **"जो बँध नहीं सका"** सामने आता है। पुस्तक के 'कवर' का दावा है कि इसमे कवि की चेतना कितनी ही सरणियों पर एक साथ प्रवाहित हुई है : आत्मसत्य से लेकर इतिहास का तीक्ष्ण बोध और देशकाल की सूक्ष्मानुभूतियों की एक दूरगामी परिधि इन रचनाओं द्वारा वेष्टित हुई है।" इस कथन में जो भले ही प्रकाशक की ओर से दिया गया हो, कवि की सहमति भी है, ऐसा मान लेना सही होगा—सुविधा के नाम पर

१. शिलापंख चमकीले : पृ० ४५
२. वही, पृ० २१
३. नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ : पृ० ३१२

नहीं, तर्क के आधार पर। कविताओं को पलटने पर पता लगता है कि संग्रह तीन खण्डों में बँटा है और प्रत्येक खण्ड की अपनी गंध भी है और दुर्गन्ध भी। गंध इसलिए कि हर खण्ड में कुछ अच्छी कविताएँ हैं और वे खासी अच्छी हैं और दुर्गन्ध इसलिए कि उनमें कुछ ऐसी भी हैं जो कवि को पुनरावृत्तिवादी, अनाधुनिक और फतवेवाज़ सिद्ध करती हैं। कई जगह तो 'रिपीटीशन' का क्रम इतना है कि ये कविताएँ महज़ लिखने के लिए लिखी गई लगती हैं। अब तक के माथुर के काव्य को देखकर ऐसा लगता है कि वह अब अपना सब कुछ दे चुके और अब जो भी वे देंगे वह सिर्फ न एक ही वृत्त में बँधे होने का गवाह होगा, बल्कि अविश्वसनीय भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। माथुर ने शिल्प की नयी राहें ईजाद की, नये शब्दों की तलाश की और बिम्बों के नये रूप सँवारे, किन्तु अब वही ईजाद, और तलाश एक 'मैनरिज़्म' के रूप में बदल गई है, उसे एक मुहावरा मिल गया है जो उसकी सीमा भी निर्धारित करता है और संभावनाओं का मिजाज़ भी। फिर भी यह तो सच है कि आलोच्य संग्रह पहले के संग्रहों की तुलना में आगे का कदम है। यह कदम रुका हुआ और स्थिरता का भी प्रतीकत्व लिये हुए है तभी तो अस्तित्ववाद के साँचे में जान-बूझकर लिखी गई कविताओं में भी कवि ऊपर ही ऊपर है, भीतर जाकर उसके मर्म की पहचान से कटा हुआ। यही वजह है कि अकेलेपन, अजनबीपन और मानस की संत्रस्त स्थितियों की सूचना शब्दों से ज्यादा और कथ्य से कम दी गई है। फिर भी जैसा मैंने कहा है कुछ कविताएँ—कवितांश खासे अच्छे हैं। व्यक्तित्व की टूटन और अर्थहीनता की भूमि अस्तित्ववादी चेतना का स्पर्श करती है। जीवन और संस्कृति की टूटन व्यक्तित्व में समाकर उसे अर्थ देती जान पड़ती है। ऐसे ही क्षणों में कवि उन अपरिभाषित स्थितियों में दिखाई देता है जिनके निर्माण के लिये वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है। फिर ऐसी स्थिति में भयावह वेदना का जन्म स्वाभाविक भी है और लाचारी भी :

मैंने देखा—
मैं एक भूकंप दबेनगर के नीचे फिरता हूँ
घबराया हुआ
जहाँ हर तरफ टूटे
मुँदे दरवाजे हैं
मलबे भरी गैलरियाँ

भयराये वरामदे
....

वाहर निकलने का उपाय
ग्रव कोई नही है
घुप ग्रँधेरे वाली
एक ग्रँधी वँद दुनिया है
जो मैंने न रची थी
न माँगी थी
वह दुनियाँ मेरी है ।[१]

यह परिवेश ग्रौर उससे वाहर ग्राने की कोशिश में ग्रात्मपीड़क स्थितियों से जूझते जाना; ग्रस्तित्ववाद का सकारात्मक पहलू है। ऐसे भाव की रचनायें विश्वसनीय लगती हैं। 'कामू' ने जिस निजी विद्रोह की वात कही थी वह दायित्व की चेतना का परिणाम है–ग्रपने प्रति सतर्क होने की शुरुग्रात है। सभी को पता है कि यह दायित्व चेतना ही व्यक्ति की सार्थकता है। जीवन में ग्रनचाही स्थितियों से घेराव किये जाने पर दो ही मार्ग रह जाते हैं–एक समर्पित होकर टूट जाने का ग्रौर दूसरा ऐसे घेराव को तोड़ने की कोशिश में टूट जाना। इनमें दूसरी स्थिति ही ठीक है क्योंकि उसमें ही मनुष्य ग्रपने व्यक्तित्व के वोध के प्रति सतर्क रह सकता है फिर सम्भव है इससे ही किसी सार्थकता तक पहुँचा जा सके। कवि की ग्रनुभूति है कि व्यक्तित्व की उपेक्षा मे वास्तविकता का चेहरा छिप जाता है ग्रौर इतिहास ग्रागे वढ़ जाता है। उससे उड़ी हुई धूल में ग्रादमी का नया चेहरा भी छिप जाता है। कैसी विडम्वना है कि एक उपेक्षा उदय-क्रम को ही समाप्त कर देती है।

फिर वही सदियों के ग्रनुभूत ग्रपमान
फिर वही भोगे हुए, चिर परिचित विरोध
यह तो नया नहीं
इतिहास रथ से उड़ी धूल में छिपा चेहरा
डूवकर उगा नही।[२]

उपेक्षा के इस क्रम में प्रयत्नों की शिथिल परिणतियाँ ग्रादमी को नीलने को तैयार रहती हैं। वे उसे जिस खड्ड में गिराने की कोशिश करती

१. जो वँध नहीं सका : पृष्ठ ७
२. वही : पृष्ठ ३१

हैं, वह भयावह स्थिति फैंटेसी की तरह माथुर की कविता में व्यक्त हुई है। एक ओर सत्य के सीमांत पर पहुँचने की लाचारी और दूसरी ओर पीछे मुड़कर देखने से त्रस्त करने वाला वेदन, दोनों के बीच में झूलते रहने की अयाचित परिणति को भोगता हुआ कवि कहता है :

मैंने देखा–
मैं एक बहुत ऊँचे, सूखे पहाड़ पर
चढ़ने को विवश किया गया हूँ
और चोटी की अन्तिम
चट्टान की नौंक तक पहुँच गया हूँ
आगे जिसके
पहाड़ दो टूट फट गया है
और हजारों फुट गहरा एक दर्रा
मुझे लीलने को मुँह बाये हैं
पीछे पैरों से अनगढ़ बना रास्ता
सहसा लोप हो गया है
मेरे हर यन्त्र की, परिणतियों वाला
—वह रास्ता मेरा है।"[१]

जीवन की व्यस्तता मनुष्य को जिस अकेलेपन का अहसास करा रही है, वह आकुलता का संकुल रूप उसे और भी नपुंसक और 'पैशाचिक पशुत्व' से भरता जा रहा है। हर आदमी 'असिद्ध की व्यथा' भोग रहा है तर्क और संस्कारों के बीच झूलते हुए वह जिस दुहरे अँधकार में साँस ले रहा है, वह कभी न समाप्त होने वाला और ठहरा हुआ इन्तजार बन गया है। विरोधी स्थितियों की यह पीड़ा और इसी में जीवन जीना लाचारी ही तो है और आदमी इसे भोगने को बाध्य है :

छोटी सी मेरी कथा
छोटा सा घटना-क्रम
हवा के भँवर-सा पलव्यापी यह इतिहास
टूटे हुए असम्बद्ध टुकड़ों में बाँट दिया
तुमने

१. जो बँध नहीं सका : पृष्ठ ५–६

जो अदृश्य विरोधाभास !

....

किसको मैं छोड़ूँ

किसको स्वीकार करूँ ?

ओ मेरी आत्मा मे ठहरे हुए इन्तजार ![1]

कवि की पीड़ा यही है। वह जिधर भी देखता है, वही आदमी दो पाटो के बीच पिसता दिखाई देता है। शोर, मुर्दनी, भीड़ और कचरा इतना है कि उसमे असली चेहरे की पहचान ही नही होती है। 'दो पाटो की दुनियाँ' मे यही सन्दर्भ है, किन्तु बीच बीच मे आई फ़तवेबाजी कविता के बँधाव को ढीला कर देती हैं। यद्यपि यह सही है कि कवि मे सभी गलत के लिए रोष है और विगलन के लिए क्षोभ और व्यग्य भी। यदि इस कविता मे फतवेबाज़ी नहीं होती या भाषणो की सी स्थिति नही आई होती तो व्यग्य और भी पैना हो सकता था ! माथुर ने हर बद की पहली दो-तीन पक्तियाँ बड़ी सधी हुई लिखी है, किन्तु आगे उसी भाव की व्याख्या करने की कोशिश ऊपर के कथ्य को भी—उस व्यग्य को भी समाप्त कर देती है। इससे कविता की अन्विति पर तो प्रभाव पड़ता ही है, अनावश्यक विस्तार और 'रिपीटीशन' का अपराध भी हो जाता है . 'राहे सभी अधी हैं/ज्यादातर लोग पागल हैं/अपने ही नशे में चूर/वहशी या गाफिल हैं'/तक तो ठीक है, किन्तु 'खलनायक हीरो हैं/विवेकशील कायर हैं/थोड़े से ईमानदार हैं/लगते सिर्फ मुजरिम हैं/या इसी कविता के आखिरी बदो मे' प्रौढ सभी कामुक हैं/जवान सब अराजक हैं/बुद्धिजन अपाहिज हैं। मुँहबाये भावक हैं'/[2] जैसी पक्तियो का न तो औचित्य है और न गभीर प्रभाव, वरन् ये ऊपर के प्रभाव को भी कम कर देती हैं। मेरी राय मे यदि ऐसी पक्तियाँ कविता मे न होती तो कविता छोटी जरूर हो जाती, पर उसका प्रभाव सघन होता और वह समूचे रूप में आधुनिक बोध की कविता होती। 'किन्तु' यह 'किन्तु' ही तो सारा कुछ गड्डमगड्ड कर देता है। इसी क्रम मे 'बौनो की दुनियाँ' को भी लिया जा सकता है। 'हम सब बौने हैं/मनसे/मस्तिष्क से भी/भावना मे/चेतना मे भी/बुद्धि से विवेक मे भी/क्योंकि

---

१ जो बंध नही सका पृष्ठ ८८–८९

२ वही, पृष्ठ ३–८

हम जन हैं'/[1] कहकर कवि जिस साधारणतया की ओर संकेत करता है, वह ठीक लगती है और जब कहता है हम सब इतिहास के लिये जीते हैं/' क्रीत दास हैं हम/इतिहास–वसन सीते हैं/इतिहास उनका है/हम सब तो स्याही हैं'/[2] तो उसकी अभिव्यक्ति ईमानदार और बोध सम्पन्नता विश्वसनीय लगती है। व्यंग्य हमारे सारे क्रम की बखिया उधेड़ता चलता है और हमें लगता है कि कवि परिवेश से जुड़ा हुआ है।

किन्तु (फिर वही किन्तु) जब वह हमें बौने बताकर बौनेपन के कारण बताने में जो लम्बी सूची गिनाता है, वह सब अवांछित विस्तार और फतवे-बाजी का अन्दाज है। पाठक ने कविता शुरू करते समय जो खुशी महसूस की थी और उसे लगा था कि कवि व्यंग्य से टूटते आदमी की बात कह रहा है, वह पल भर में झटके से निराशा की ओर लौटते हुए यही सोचकर संतोष करता है कि कवि की नियति यही है, सीमा यही हैं। वह एक कंकड़ी फैंककर बनती लहर को सम्पूर्णता से देख नहीं पाता कि जल्दी-जल्दी बहुत सी कंकड़ियाँ फैंक देता हैं, जिससे लहरों के वृत्त पर बने वृत्तों में पहली लहर कहीं खो जाती है।

व्यंग्य के माध्यम से वर्तमान जीवन की विसंगतियों और संस्कृति की विघटनशीलता पर लिखी गई कतिपय पंक्तियाँ अच्छी हैं। निम्नांकित पंक्तियों में सम्पूर्ण इतिहास और उसके सहारे खड़ी की गई मानवीय नियति व पूरी मानवता पर तीखा प्रहार है : इसमें आधुनिक परिवेश की समूची 'तल्खियत' समा गई है :

परिणतियाँ गलत सभी
क्योंकि गलत सूत्रपात
संस्कृति का सारा क्रम
क्रम निबद्ध सन्निपात
आदमी : तमाशबीन
सत्य : भीड़ का नारा
हर पद्धति : एक बज्र बहरे मूर्ख का मजाक[3]

---

१. जो बँध नहीं सका : पृष्ठ ९
२. वही, पृष्ठ १०
३. वही. पृष्ठ १९

इतिहास : एक व्यंग्य स्थिति 'इतिहास एक आदिम न्याय', 'इतिहास बच्चा है' और 'इतिहास विकृत सत्य' जैसी कविताओं में व्यंग्य कहीं-कहीं उभरा है। इनमें राजनैतिक संदर्भ में बार-बार प्रस्तुत किये जाने वाले कार्यों की योजना—जो सिर्फ योजना है बार-बार सत्य और न्याय की दुहाई, उपलब्ध साधनों के दिशाहीन उपयोग और गलत सूत्रपात आदि पर व्यंग्य किया गया है। इन कविताओं में कहीं-कहीं आई, जनता, मानवता, लोकमत, सिर्फ चेहरे हैं, टिकट की खिड़कियाँ हैं, इतिहास एक खिलौना है[1] जैसी पंक्तियाँ अच्छी हैं और कवि के समसामयिक बोध की पहचान कराती हैं। अर्ध आधुनिकों की बातचीत में जिस स्थिति पर व्यंग्य है, वह सादा शब्दों में सिमटकर भी, 'बेसिकली हैवान' का सही परिचय भी है और बौद्धिकों की अधूरी स्थितियों का मापक भी :

बात ये है
सारा जमाना ही बेईमान
'आदमी असल में है
बेसिकली हैवान
....सिर्फ बुनता है
रेशमी सा इन्सान'[2]

'अग्नि की शेष परीक्षा' युद्ध संदर्भ का आभास देती है। यद्यपि इसमें भारतीयों की अतीतवर्ती दृष्टि और वर्तमान की उपेक्षा का सांकेतिक संदर्भ है, फिर भी कविता की शुरुआत एक प्रकार से अतीत के स्तवन से ही होती है। कविता का पहला पृष्ठ इसी स्तवन का परिणाम है। हाँ, कोई चाहे तो इसे असली बात कहने की पृष्ठभूमि कह सकता है। असल में आगे कवि अपनी अतीतवर्ती दृष्टि को भूल कहता है और युद्ध की चुनौती को स्वीकारता है क्योंकि दुनियाँ सभ्य होने के बजाय बर्बर और अधिक खतरनाक हो गई है। ऐसी स्थिति में 'काया से भागकर आत्मा भी खो बैठे' का व्यंग्य सही लगता है। इस तरह संग्रह में आधुनिक बोध का एक परिपार्श्व है जो भीतर से सही होने और परिवेश गत जागरूकता का परिचायक होकर भी अभिव्यक्तिगत संयम व धैर्य के अभाव में कभी छुपता, कभी जाहिर होता रहा है। अकेली

1. जो बँध नहीं सका : पृष्ठ १७
2. वही, पृष्ठ ३०

कोई भी कविता पूरी आधुनिक वोध की कविता नहीं है। एक रोमानी संवेदनाओं के कवि के लिये यही काफी भी है। फिर हर कवि की सीमा होती है और उस सीमा से आगे की माँग भी हमेशा जायज़ नहीं होती। यों पहले से कवि ज्यादा करीवा भी लगता है, पर यही उसकी चरम स्थिति भी हो तो क्या आश्चर्य ?

समसामयिक परिवेश से प्रतिवद्ध होकर, उसका संकेत देकर और उसकी पीड़ा के दंश को सहकर भी कवि यहाँ सत् मूल्यों के लिए और मानवास्था की खोज के लिए वैचेन भी है और याचक मुद्रा में भी। जिन्दगी की केसर के न चुकने का आग्रही कवि ही यहाँ "भीड़ और अकेलेपन के क्रम से कैसे छूटें/अविश्वास और आश्वासन के क्रम से कैसे छूटें/देवता और राक्षस के क्रम से कैसे छूटें/खत्म न होने पाये कभी देवदत्त सिद्धार्थ/सहसा मिली एक लाल तीर सी/नयी कली केले की—और कुछ वदल गया/और जिन्दगी में चाँदनी कैसे भरूँ/लिखकर मानव-मूल्यों के प्रति आस्था व्यक्त करता है। संग्रह का एक खण्ड तो पूरा का पूरा प्रकृति और प्रणय-छवियों को विम्वों के सहारे खड़ा किया गया है। ये छवियाँ कवि की निजी हैं। उनमें कवि हर स्तर पर कवि लगता है। कवि के रोमानी संस्कार प्रेमगत लगाव और उसकी अनगिनती मासूम स्थितियाँ नयी छायावादी शैली के सहारे व्यक्त हुई हैं। 'गंध लेने लगी आकार' 'चाँदनी विखरी हुई' 'कार्तिक चाँद की रात' 'रूप विभ्रमा चाँदनी' 'एक टुकड़ा चाँद' 'प्यार की तीन व्यंजनाएँ', 'सार्थकता', 'लाल गुलावों की शाम', 'शरद नीहारिका का देह स्वप्न' और 'एक असंकल्पित शाम' आदि कविताओं में सौन्दर्य के प्रतिविम्व हैं। इनमें कवि की सौन्दर्य चेतना की भूमि कोमलता, लहरिल स्पर्श गंधवसी और प्रेम की छोटी-छोटी स्थितियों से तैयार हुई है। 'गंध लेने लगी आकार' में जो विम्व हैं, वे अमूर्त दृश्यों को आकार प्रदान करते हैं। एकाध पंक्तियों में शाम के जामुनी होने के वस्तुपरक विम्व भी हैं : 'चाँद की पंचमी पर ढलानों तले छूमुई शाम होती रही जामुनी।' 'वसंत की पहली शाम' में हवा में तैरती मीठी सुनसान शाम तो अच्छा विम्व देती है; किन्तु नीवू और रातरानी की महक का महीन-मंद आर्केस्ट्रा कल्पना विलास ही कहा जायेगा। प्रयोग के नाम पर प्रयोग का सिद्धान्त घटित करने की धुन और छायावादी वायवीयता कवि के उसी ओर लौटने का संकेत देती है जहाँ सव कुछ झिलमिल और लकदक है। यों इसमें आये अप्रस्तुतों की वर्ण्य-विषय से संगति विठा पाना मुश्किल ही नहीं

'कन्फ्यूजन' का ग्रहसास भी कराता है। फिर 'महक' का सम्वन्ध देकर जिस घ्राण विम्व को उभारने की कोशिश की गई थी वह भी 'ग्रार्केस्ट्रा' के प्रयोग से नाद विम्व का ग्राभास देने लगा। इस प्रकार सव गड्डमगड्ड हो गया। 'रूप विभ्रमा चाँदनी का मानवीकरण सुन्दर है ? किन्तु उसका ऐसा मानवीकृत संदर्भ जिसमें 'स्लीवलेस विलाउज' ग्रौर 'इलायची चवाने की संगति देने से विम्व ग्राहत भी हो गया है।' 'चाँदनी विखरी हुई' के विम्व प्रभावित करते हैं। उनकी प्रेपणीयता भी सुरक्षित रह सकी है। 'कार्तिक चाँद की रात' का वर्णन भी भावांकित है। 'शव्द नीहारिका' के देह स्वप्न का चित्र उपमाग्रों ग्रौर रूपकों की पीठिका पर तैयार हुग्रा है। इसमें जेवरों से लदी गौर वर्ण लताग्रों पर फूल गैंदा मरदों का गैंद फैंकना मनोरम व्यापार है। 'लाल गुलावों की शाम' प्रणय व्यापार के संकेतों से मिलकर जिस दर्द को व्यक्त करती है, वह ग्रपरिचित दर्द, भ्रम होकर भी मीठा तो है ही। भ्रमों की मिठास छायावादी भले ही हो, ग्रनुभूति की सघनता तो व्यक्त करती ही है। 'एक ग्रसकल्पित शाम' का वहाव ग्रौर उससे उत्पन्न उत्प्रेरक स्थितियों का चित्र भी ग्राकर्पक है। इस प्रकार प्रकृति के रस-भीने स्पर्श का साक्षात्कार इन कविताग्रों में है। गिरिजाकुमार की गीतात्मक वृत्ति से मिलकर या कहें कि नयी गीत शैली से जुड़कर ये प्रकृति विम्व कहीं-कहीं स्खलन का ग्राभास देते हुए भी मार्मिक हैं।

प्रेम भी माथुर की सौन्दर्य चेतना का ग्रंग है। प्रणय की तीन व्यंजनाग्रों को व्यक्त करने वाली कविता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें प्रिया की ग्रनुपस्थिति से उत्पन्न सहज स्थितियों के मासूम चित्र है। कहीं-कहीं गैर जरूरी-सी लगने वाली वातों का हवाला इस ढंग से दिया गया है कि वह भी जरूरी-सा लगता है। सच है वियोग के क्षणों में कितनी ही वेकार-सी चीजें ग्राकार ग्रहण करके मन में उतरने लगती है। खालीपन का ग्रहसास ऐसी स्थितियों में ग्रौर भी ग्रधिक खाली लगने लगता है :

'कागज पर कलम की निव घिस-घिसकर
सिर्फ मुलायम करता रहा'[१]

पंक्तियों का भाववोध वियोग की मनःस्थिति की जिस रिक्तता को व्यक्त करता है, वह ग्रनुभूति का क्षेत्र है। दूसरे पत्र में स्त्रियों के प्रेम के क्षणों की मनोदशा

१. जो वँध नही सका : पृष्ठ ६८

जिसका सम्बन्ध सिर्फ पुरुष जाति से है, का जो संदर्भ आया है, वह उनकी सच्ची मनोदशा का जीवित प्रतिरूप है। प्रेम की कृत्रिमता पर व्यंग्य भी यहाँ है। तीसरे पत्र में श्रद्धा, विश्वास, प्रेम की सत्यता, नीति-अनीति सभी को रिक्तता का वोध कराने वाली प्रक्रिया वताकर भी यह स्थापित किया गया है कि वौद्धिक क्षणों में रहकर भी या इन सवके वीच द्वन्द्वों की प्रक्रिया से गुजरते हुए भी इनका मूल्य कम नहीं हो सकता है : इसीलिए कवि कहता है :

चलता रहा यह द्वन्द्व
तुम मुझसे, सहमत होती चलीं गयीं
पर सहसा
वौद्धिक विजय के उस क्षण में
यह क्या हुआ
मैं ही तुम्हारे भावानुगत हो गया[1]

प्रेम की प्रतीक्षा भी 'अशेप' प्रतीक्षा है। उसमें किया जाने वाला इंतजार केवल इंतजार होकर भी झूठा नहीं लगता है। न मालूम कौनसा सूत्र उस खाली इंतजार को भरता रहता है : 'हर खाली इंतजार अगले विश्वास के इंतजार में ठहरेगा'।

संग्रह के तीसरे खंड की कविताओं को 'कवि ने काल की चतुर्थ विभा के रहस्यमय विम्बों में प्रवेश करने वाली रचनाएँ कहा है।' 'काल' सदैव ही चिन्तन और कविता का विषय रहा है। यहाँ उस पर विचार किया गया है और वताया गया है कि उसके सामने सभी कुछ निरर्थक है। निरर्थकता का यह क्रम अनन्त है। 'सार्त्र' ने 'वीइंग एण्ड नथिंगनेस' में इसी निरर्थकता के अनंत संदर्भो की अच्छी व्याख्या की है। निरर्थकता कीं अनुभूतियों को कविता-वद्ध करने का प्रयास वहुत से कवियों ने किया है। माथुर ने इसे कविता के एक रहस्यमय आवरण में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इस तरह की अनुभूतियों को रहस्य का आवरण देकर प्रस्तुत करना थोड़ा अविश्वसनीय लगता है। 'विमानसी संचरण', 'समाधि यात्रा', और 'अशब्दों का नाता' ऐसी ही कविताएँ हैं। ये पंक्तियाँ देखिये :

तैरते चले जाते चेहरे सव पीछे को
हर अनुभव लगता है मिथ्या की चीत्कार

---

१. जो वँध नही सका : पृष्ठ ७१

आघे अनभोगे यथार्थों की नटकन है

....

गहरी समाधियाँ पड़ी हैं
अस्तित्वों पर
शब्दों को बाँधे
अशब्दों का नाता है
जितना जो भंगुर है
सत्य के समीप वही
यह अशेष से अशेष तक की परिभाषा है।[१]

निरर्थकता की यह अनुभूति बाहर की चीजों को देखकर भी अदेखा अनुभव करती है क्योंकि एकसी पुनरावृत्ति सब देखे हुए को निरर्थक कर देती है। उसके होने का जैसे ही कुछ आभास होता है, वैसे ही :

यह सारी सृष्टि
यह अशब्द, अंतहीन अंधकार
बार-बार[२]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि माथुर रूमानी भावों के आविष्कर्ता होकर भी आधुनिकबोध के उस संक्रमण विन्दु पर खड़े हैं जहाँ वे विघटित संदर्भों में रिक्तता और पीड़ा का अनुभव करते हैं। वे इस अनुभव से पीड़ित होकर मानव आस्था की खोज में लग जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस संग्रह में वे पहले से ज्यादा समसामयिक और प्रतिबद्ध हैं, किन्तु इसे व्यक्त करने वाली कविताओं का मूलभाव पूरी तरह वैसा नहीं है जैसा कि आधुनिक बोध के पुरस्कर्ता कवि से अपेक्षित है। ये परिवेशगत प्रतिबद्धता कविताओं में नहीं कवितांशों में ज्यादा है। बीच-बीच में आये विस्तार-प्रसंग आधुनिक बोध से उचट-उचट जाते है, फिर एक ही अनुभूति की पुनरावृत्ति भी कई बार ऐसे बोध को हल्का कर देती है, आघात पहुँचाती है।

०००

---

१ जो बँध नहो सका : पृष्ठ ४४
२. यथोपरि : पृष्ठ ४३

विजयदेव नारायण साही

मछलीघर

विजयदेवनारायण साही तीसरे सप्तक के कवि हैं। वे नयी कविता के संपादक के रूप में भी जाने जाते हैं। नयी कविता के सामाजिक और वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य को सही रूप देने वाले साही का एकमात्र उपलब्ध संग्रह 'मछलीघर' मानवीय अस्तित्व, संकट और उससे सम्बद्ध निरर्थकता और मानव-इतिहास के बदलते पहलुओं और सत्यों का सही दस्तावेज है; सीधे साक्षात्कार की कविताओं का संग्रह है। 'साही' बौद्धिक चेतना के हामी रहे हैं। यही वजह है कि उन्होंने 'तीसरे सप्तक' के कवि के रूप में जो वक्तव्य दिये थे, वे काफी हद तक चौंकाने वाले थे। उनकी मान्यता है कि 'नितान्त अव्यावहारिक होना नितांत ईमानदारी और अक्लमंदी का लक्षण है। समाज में सब तो नहीं, पर काफी लोग ऐसे होने चाहिये। जिस समाज में नितान्त अव्यावहारिक कोई नहीं रह जाता, वह समाज रसातल को चला जाता है।"[१] यह वक्तव्य साही की बौद्धिक चेतना का जो संदर्भ प्रस्तुत करता है, वह समाज की नहीं कविता की भी उपलब्धि है। आज़ादी के बाद भारत में जो जीवन-स्थितियाँ बनी हैं, वे संघटन की अपेक्षा विघटन, आस्था की अपेक्षा अनास्था और व्यक्ति के अस्तित्व को कुचलने वाली स्थितियों के रूप में ज्यादा उभरी हैं। ऐसी स्थितियों में रहना बुद्धिजीवियों की विवशता है। विवशता और उससे जुड़ी हुई तनाव, हताशा और चक्रान्तमयी स्थितियों में फँसा हुआ मानव

---

१. तीसरा सप्तक : सं० अज्ञेय, पृष्ठ २६१

जैसे सारी संभावनाओं को किसी गहरे खड्ड में गिरा देने के लिये बाध्य है। वह टूटता जाता है, उसके विश्वास किसी अजाने भय से आतंकित होकर चरमरा उठते हैं और उसकी जीवनगत निष्ठा नित्य प्रति उठते हुए अंधड और तूफानों में मिलकर रेत हो जाती है। यह रेत होना वेदना का कारण है। साही की 'तीसरा सप्तक' की कविताएँ इसी पीड़ा, टूटन और रेत होते जाने की कविताएँ हैं। हम सभी बेचकर आये हैं, 'अपने सपने' कविता जीवन की वास्तविकता और जीवनादर्शों के भँवर जाल में फँसे व्यक्ति के मोहभंग की कविता है। गांधीयुग के आदर्श हवा हो गये क्योंकि वे समसामयिक संदर्भ में झूठे साबित हुए और साही के शब्दों में हमने 'नकली सच्चाई के बदले अनमोल सितारे बेच दिये'।

साही के अनुसार ये उनके 'आंतरिक एकालाप' की कविताएँ हैं। आज का युग अनैतिक और विशृंखल है, इसलिये इस एकालाप को पकड़ना एक जिम्मेदारी है। और यह सच है कि साही ने यह जिम्मेदारी सारी स्थितियों से सम्बद्ध रहकर निभाई है। ये कविताएँ कवि के भीतर के आंतरिक परिचय की कविताएँ हैं। व्यक्ति जो बाहर से दीखता है उसके भीतर जो दूसरा व्यक्ति है, उसकी आवाज़ इन कविताओं में है। आत्ममंथन : अपने से बातचीत और वह भी सही बातचीत जिसमें यथार्थ के स्वर सुने-समझे जा सकते हैं, इन कविताओं में है। यह एकालाप-संलाप भी है। कहीं-कहीं ऐसा आभास होता है कि एकालाप की प्रक्रिया से गुजरते हुए साही सम्भाषण के दौर से भी गुजरते हैं। मुक्तिबोध का सहचर यहाँ भी मौजूद है। 'मैं' और 'तुम' शब्दों का प्रयोग इसी सहचर और के लिए है। 'मैं' और 'तुम' कवि ही है, सर्जना के क्षणों में वह अलग-अलग दीखता है। वह सहचर स्थिति का विश्लेषक बनकर आया है। इसने अगाध की तलाश की है, अँधेरे गोलार्द्धों को नापा है और एक प्रकार से सारे भूगोल और इतिहास को नापा है। यही वजह है कि यह कभी इतिहास की असंगतियों और भूलों का विश्लेषक बना है तो कभी इतिहासेतर सत्य का मीमांसक भी :

तुम हमारा जिक्र इतिहासों में
नहीं पाओगे
और न उस कराह का
जो तुमने आज रात सुनी
क्योंकि हमने अपने को

इतिहासों के विरुद्ध दे दिया है :
लेकिन जहाँ तुम्हें इतिहासों में
छूटी हुई जगहें दिखें
और दबी हुई चीख का अहसास हो
समझना हम वहाँ मौजूद थे ।[1]

यही सहचर हमारे 'सामने', आसपास और पीछे रहता है, 'घाटी का आखिरी आदमी' भी यही है और 'छापामार दस्ते' का सरदार भी वही है । साही एकालाप की प्रक्रिया में एक ही साथ इतिहास-सम्बद्ध और इतिहास असम्बद्ध भी होते हैं । यही उनकी रचना-प्रक्रिया का वैशिष्ट्य है । 'मैं' के साथ 'तुम' की उपस्थिति 'एकालाप' की होकर भी संलाप की व्यंजना देती है । यही वज़ह है कि इस आलाप में अपना ही नहीं पर सम्पर्क भी समाहित हो गया है । विशेषता यह है कि ये दोनों अलग-अलग होकर भी एक हैं और एक होकर भी विभक्त है और विभक्त हैं इसीलिए एकालाप में संलाप है । यों इनके बीच कोई दरार नहीं है और ऐसा मानना भारी भूल भी होगी ।

'एक आत्मीय बातचीत की याद' में जो भीतरी सहचर है, वह काफ़ी सजग होकर सामने आया है । 'सचमुच जब मैं तुमसे बातें कर रहा था/तब तुम नहीं थे सिर्फ वे शब्द थे/जो मुझे तराशते चले जा रहे थे/और जब मैं तुम्हें नहीं/खुद को भी नहीं उस तीसरे को देख रहा था /[2] यह सहचर कवि का अन्वेषक है, सजग प्रहरी है जो हर क्षण जागता हुआ बाहरी दुनियाँ से सम्पर्क बनाता हुआ, सारे अनुभवों, सारी पीड़ाओं और सारी स्थितियों को अपने में भरता रहता है । आज की मानव-स्थिति को आगामी कल के परिप्रेक्ष्य में देखने वाले साही तात्कालिक अर्थ को समाप्त नहीं कर देते हैं, बल्कि उसी को मानव-अस्तित्व से जोड़कर संतोष लाभ करते हैं :

उस क्षण
जब शब्द पुल नहीं बनाते
जब तुम भी अन्तहीन आकाश में
तिरोहित हो जाते हो
जब उस दूसरे छोर पर कोई नहीं होता

---

१. मछलीघर : पृष्ठ ६०
२. वही : पृष्ठ २०

उस क्षण मेरे ये सारे शब्द
मेरी विलीन होती हुई खाल के बुलबुलों की तरह
मेरे चारों ओर चमकते हैं
और वह आत्मीय जो प्रकट होता है
निरन्तर छीजता जाता है
और उसी प्रक्रिया में, अँखुए की तरह चमकता है
ऐसे ही मैंने सृजन को देखा है
और उसे मृत्यु की तरह पहचाना है[1]

'साही' का काव्य कितनी ही अपरिभाषित और अजानी जोखिमों से भरा है। उसमें कहीं भी असलियत से वच निकलने का रास्ता नहीं है। यही वजह है कि कवि मानवीय अस्तित्व की रक्षा और पीड़ा से सराबोर है। वह मानवीय-संकट से सीधा सम्वन्धित है । कवि का मानस विश्व की स्थितियों के विम्व पर विम्व उठाता चलता है। मनुष्य की अयाचित विवशता, उसके आसपास का खोखला-समुद्र और आलोकहीन विस्तार सवका सव साही के भीतर आकर सिमट गया है। इस अंधकार का दवाव इतना वढ़ जाता है कि अतीत और भविष्य दोनों ही उसकी चपेट में आकर व्यक्ति में शून्यता और निरर्थकता को भरते हुए एक साथ आकर मिल जाते हैं। कवि एक सजग कलाकार के नाते उस निरर्थकता को अपने अस्तित्व की सार्थकता से भरना चाहता है । यह स्थिति मानवीय अस्तित्व का प्रारूप है। इसीलिए कवि कहता है :

अतीत दूर होता जाता है, और साथ-साथ भविष्य भी
और मैं इस वीच के शैल पर खड़ा हुआ
केवल इस शून्य को भरने के लिए
विसर्जित होता जाता हूँ
मेरे हाथ निस्सीम में फैलकर ओझल हो गये हैं
और मेरी दृष्टि स्थिर हो गई है[2]

मनुष्य का जीवन एक निरर्थकता की आवृत्ति मात्र है। मनुष्य की सवसे वड़ी पहचान ही यह है कि उसे 'जिन्दगी और मौत के अतिरिक्त

१. मछलीघर : पृष्ठ २१–२२
२. वही, पृष्ठ ३३

शब्द नहीं दिये गये हैं' इन्सान की जिन्दगी का अर्थ क्या है ? वह इसे कभी नहीं समझ पाता है। बार-बार जन्म लेकर वह उसी मिट्टी को कुरेदता है, पर सब व्यर्थ होता जाता है। कुछ भी हाथ नहीं आता सिर्फ—

'एक काली चट्टान है।
जिस पर बेतहाशा धारा
अपना सिर पटकती है
लेकिन हिला नहीं पाती
सिर्फ चट्टान रह रहकर
धुल जाती है।[१]

साही की कविताओं में स्वातंत्र्य की माँग, एक उन्मुक्त खुलेपन की स्थिति भी दिखाई देती है। जीवन व्यापी निराशा, वेदना, भयावहता और आत्मघाती स्थितियों और परिवेश की कैद में बँधा व्यक्ति स्वयं को एक उपकरण भर समझता है। वह इन सबसे मुक्ति की कोशिश करता है, दीवारों को तोड़ता है, कितनी ही बार जय के नारे लगाता है और उन्हें तोड़कर किलकारी भरता है, किन्तु 'हर बार क्षितिज पर/क्रुद्ध वृषभ के आगे लाल पताका जैसी धीरे-धीरे फिर दीवारें उग आयी हैं'/।[२] इतने पर भी हार मानने वाला कोई बोध यहाँ नहीं हैं : 'नथुने फुला फुला कर हमने घन मारे हैं'/कहना यही है कि बन्धनों का क्रम निरन्तर चलता रहता है। मनुष्य एक बाधा से मुक्ति पाता है तो दूसरी फिर तीसरी बाधा सामने आजाती है। व्यक्ति के पास उम्र के कटोरे में जितना भी आसव होता है, सारे को वह इनसे मुक्ति पाने में लगा देता है, किन्तु दीवारों का क्रम अनन्त है—बेशुमार हैं ये। फिर जो बोध—विवशता के बाद का बोध जगता है, वह सार्थक के लिए निरर्थक प्रयत्न भर ही तो है :

अजब तरह की है यह कारा
जिसमें केवल दीवारें ही दीवारें हैं
अजब तरह के कारावासी
जिनकी किस्मत सिर्फ तोड़ना
सिर्फ तोड़ना।[3]

---

१. मछलीघर : पृष्ठ ८
२. वही : पृष्ठ ४०
३. वही : पृष्ठ ४०

'साही' क्रूर वास्तविकता को अभिव्यक्त करते हुए उसी के माध्यम से जीवन-मूल्यों के प्रस्थापन-मार्ग में आने वाली संघर्षमयी स्थितियों के कवि हैं। आलोच्य संग्रह में इस प्रकार की स्थितियों की व्यंजक कविताओं की कमी नहीं है। इनमें मानव-स्थिति और उसके व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में भीतर की तलाश है; यथार्थ की खोज है और अन्तस की उन सभी छवियों के 'स्नेप्स' हैं जो बार-बार हमें छलते रहते हैं। इन कविताओं का वैशिष्ट्य ही इस बात मे है कि कही भी सीधे तौर पर बाहरी दुनियाँ का साक्षात्कार यहाँ नही है। यहाँ 'नो मैन्स लेन्ड'—बाहरी तौर पर आदमी की उपस्थिति नही है। वह अन्तस में छिपा है जो कवि का अन्वेषक सहचर बनकर सारी दुनियाँ को देखता है, समझता है और एकलाप की प्रक्रिया से व्यंजित करता चलता है। मनुष्य कहीं उपस्थित न हो और कविता शुरु से अन्त तक उसी की उपस्थिति की हो तो वह 'सजेस्टिवटी' से भर जाती है। ऐसी स्थिति में शब्दों की चमक और आन्तरिक गम्भीरता ज्यादा विश्वास योग्य बन जाती है। 'लाक्षागृह' 'दीवारें', 'घाटी का आखिरी आदमी' 'छापामार दस्ते', 'एक आत्मीय की बातचीत', 'अँधेरे गोलार्द्ध की रात' 'सामने, आस पास पीछे', 'मछलीघर' 'संदर्भहीन बारिश' 'खोये हुए यात्री की यात्रा,' 'एक अर्धविस्मृत मित्र के नाम ! 'अगाध द्रष्टा बर्बर और एक तीसरा', 'आखिरी सामना' और 'अलविदा' संग्रह की श्रेष्ठ कविताएँ हैं। इनमें काव्यगत अनुभवों को ऐतिहासिक पीठिका पर रखकर जीवन के गम्भीर पहलुओं के रूप में आकार देने की कोशिश की गई है। ये कविताएँ मानव-इतिहास के स्पंदनशील सत्य के अंकन में काफ़ी सफल हैं। साही ने इतिहास के दबाव को पहचाना है :

'वे सारे रास्ते बन्द कर दिये गये हैं
जिनसे होकर
चमकता हुआ जोखिम प्रवेश करता है
और खून की आखिरी बूँद तक को
आत्मा में बदल डालने की माँग करता है।[1]

'अस्तित्व' और प्रतीक्षा को वे भिन्न नहीं मानते हैं। वे 'इन्तजार' करना ही उचित समझते हैं 'मुझे जिन शर्तो से बाँध दिया गया है, वहाँ इन्तज़ार और अस्तित्व दो चीजें नहीं हैं।'

---

१. मछलीघर : पृष्ठ १२१

मैं भी सिर्फ इंतजार कर रहा हूँ
उस विकल्प का जिसकी
अफवाह हवा की तरह
समय के एक छोर से दूसरे छोर तक
मँडराती हुई सुनाई पड़ती है।[१]

नयी कविता के सम्बन्ध से जिस बौद्धिक चेतना की बात कही जाती रही है, उसका गहरा अहसास साही में है। वे सही अर्थों में बौद्धिक अनुभूतियों के कवि हैं। संग्रह की श्रेष्ठ कविताओं में ही नहीं कमोवेश रूप में सभी कविताओं में यह बात देखी जा सकती है। मृत्युबोध, अकेलापन, संघर्ष-चिन्तन और जीवन के विभिन्न पहलुओं पर कविता लिखते समय एक बौद्धिक अनुशासन, जो भावबोध और शिल्प दोनों में है, बराबर साही की कविताओं में मिलेगा। वस्तुतः ये कविताएँ एक चिन्तक, एक दार्शनिक और विचारक की अनुभूतियों के लिये यथार्थ चित्र हैं जिनमें मानव-जीवन के विभिन्न संदर्भ, मानव-अस्तित्व, मानव-संकट और उससे सम्बद्ध सभी मनस्थितियों के रंग भरे गये हैं। अकेलेपन और मृत्यु पीड़ा की व्यंजक पंक्तियों में कवि का प्रश्नाकुल मन जिन प्रश्नों की कतार खड़ी कर देता है, वे सबके सब प्रश्न बौद्धिक होते हुए भी कविता में आकर कितने अपने लगते हैं? यह सहज ही जाना जा सकता है:

'इन निष्कलंक क्षणों में
हम क्यों इतने अकेले पड़ जाते है?
अपने ऊपर से
इस समूची सृष्टि को उतार फैंकने का काम
क्यों इतनी तन्मयता की माँग करता है?
क्यों हमारी सारी संवेदनाओं को
बेहोश कर देने के बाद ही
उस अछूते इन्द्रजाल का जन्म होता है।'[२]

और

लो मैं फिर तुम्हें यह ताज़ा खंजर देता हूँ

---

१. मछलीघर: पृष्ठ १२२
२. वही: पृष्ठ २०

मैं जो तुम्हारे चारों ओर लिपटा हुआ मर गया हूँ
मुझे काट कर निकाल दो
और नया जन्म लो :
इस बार स्रोत पर ही वार करना
ताकि मैं फिर न उग आऊँ ।[1]

अब तक के विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती है : एक तो यह कि साही यथार्थ स्थितियों से निर्मम साक्षात्कार के कवि हैं, उनकी अन्तश्चेतना में बाहरी दुनियाँ के सारे संदर्भ–इतिहास, इतिहासेतर सभी, सिमट जाते हैं और वे एक बौद्धिक चेतना सम्पन्न कवि होने के नाते उन सबका 'ओपरेशन' करते हैं : एक कुशल सर्जन की तरह । यह 'ओपरेशन' वर्तमान और उससे भी आगे के यथार्थ को विश्लेपित करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन कविताओं का उद्गम तनाव या शैथिल्य से होता है, वरन् यह है कि ये तनाव और संकट का सामना करने वाली ऊर्जा से उद्भूत होती हैं तभी तो इनमें कँपा देने वाली साहसिकता है : निर्मम साक्षात्कार की निर्मम साहसिकता । दूसरी बात यह है कि इनमें कवि ने मुक्तिबोध की तरह जिस फैंटेसी या स्वप्न शैली का प्रयोग किया है, वह इतनी सार्थक सिद्ध हुई है कि कथ्य पूरी बौद्धिकता के साथ प्रस्तुत होता गया है ।' फैंटेसी' का प्रयोग उस जमीन की तलाश है जिस पर खडे होकर कवि उन समस्त कठोर सत्यों, उन बुनियादी जिज्ञासाओं और वास्तविकताओं का सामना पूरे साहस और खुलेपन से कर सकता है जिनको वह आये दिन भोगता और अनुभव करता है । यही वज़ह है कि संग्रह की कविताओं में न तो ठंडापन है और न एकदम आयी ऊष्मता, वरन् सही रूप से की गई कोशिश है, जो इतिहास और मानव में द्वन्द्व होने और न होने का संकट और मानवीय अस्तित्व के समस्त प्रयत्नों की कोशिश है । ऊपर से दर्शन सा या एक मायावरण लेकर आने वाली ये कविताएँ न तो किसी रहस्य से युक्त हैं और न किसी दर्शन का आभास देती हैं । ये तो कवि के मानस में—भीतरी मानस में धीरे-धीरे उठते गये भावों, विचारों और प्रश्नों की, बावजूद कठिनाई के, ईमानदारी से की गई अभिव्यक्तियाँ हैं । अतः ये कमजोर नहीं, शक्तिसंपन्न कविताएँ हैं । कवि किनारे पर ही नहीं टहलता रहा, भीतर भी गया है ।

'साही' का व्यंग्य भी क्रूर और तीखा है । 'आखिरी सामना' और 'एक अर्ध विस्मृत मित्र के नाम' का व्यंग्य निर्मम और साहसिक व्यंग्य है ।

---

१. मछलीघर : पृष्ठ ७०

इनमें राजनीति के सत्ताधारियों पर व्यंग्य किया गया है। आजादी के बाद की भारतीय राजनीति–विशेषकर नेहरू युग की राजनीति का पर्दाफाश किया गया है। साथ ही व्यंग्य के माध्यम से यह बात सरल, किन्तु मारक शब्दावली में कही गई है :

तुमने अच्छा किया कि इस उलझी हुई ग्रंथि को
समय के हवाले कर दिया।
एक क्षण को लगता है कि तुम नागपाश तोड़कर
बाहर आ गये हो—
कितना आरामदेह है
यह तारीखों के सहारे जीना
+ + +
अच्छा किया तुमने कि दरवाजे खोल दिये
और अपने घर की सजावट
पेशेवर ठेकेदारों को सौंप दी
अब तुम्हारे घर में
ऐसी कोई तस्वीर न होगी
जिसके लिए तुम्हें लोगों के सामने
जवाबदेह होने की जरूरत पड़े।
तुमने बहुत अच्छा किया कि लावारिस सवालों को
विजेता महाबली समय के हवाले कर दिया।[१]

संग्रह की 'मछलीघर' कविता में व्यक्त संघर्ष मानवीय यथार्थ से उद्भूत है। कवि की चिन्तना है कि सृष्टि कितनी व्यापक है और उसका अनुभव करने वाले व्यक्ति का अस्तित्व छोटा तो है ही, अकेला भी है। लघुता और अकेलेपन का यह भाव मानवीय अस्तित्व और मानव-नियति के अन्वेषण की भूमिका है। जीवन की वास्तविकता के द्वारा पूरी की पूरी सृष्टि को या उस सम्पूर्ण परिवेश को मापने और विश्लेषित कर समझ लेना बड़ी उपलब्धि है। 'विश्वगत इकाई के रूप में स्वयं की इयत्ता और मानवीय इकाई के रूप में मानव-मात्र की नियति को आँक लेने की चेष्टा है। इस कविता में कवि ने समूची रचना-प्रक्रिया को व्यक्त करने की चेष्टा की है।' इस संदर्भ में यह

१. मछलीघर : पृष्ठ ७४–७५

कविता एक उदाहरण मात्र है, असल में सृजन-प्रक्रिया के अन्वेषण में आगे बढ़ने वाले कवि ने ऐसी कई कविताएँ संग्रह में दी हैं। यह कविता मानव से अलग नहीं है। इसके केन्द्र में भी मानव ही है, किन्तु उसे स्थूल जगत के संदर्भों से काटकर प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि यहाँ एक अकल्पित संदर्भ सा उपस्थित हो गया है, लेकिन यदि हमें यह ध्यान रहे कि कवि के साथ उसका सहचर है तो समस्या हल हो जाती है।

संग्रह में संध्या के चित्रों का तो एक 'एलबम' ही है। हर चित्र में नये रंगों से तैयार किये गये बिम्ब मिलते हैं। कवि को हल्के धूसर रंगों से लगाव है। संध्या के छहों चित्रों में संवेद्य बिम्बों का प्रयोग आकर्षक बन पड़ा है। यहाँ प्रकृति कोरी प्रकृति नहीं है, उसमें जीवन की अनुभूतियों की गंध है, रंग है। यों दोपहर और संध्या के मुक्त चित्र भी हैं, जिनमें दृश्यांकन भर है। संग्रह की भाषा स्फूर्तिमय है, उसमें न तो ठहराव है और न अतिरिक्त तीव्रता। हाँ, कहीं-कहीं कविता के बीच में उसके शब्द जरूर हरकत में आ जाते हैं। कवि के पास अर्थ-प्रेषणीयता के लिये शब्दों की कमी नहीं है। वह फैंटेसी की शैली में जिस शब्दावली का प्रयोग करता है, वह ढीली न होकर संश्लिष्ट है। उसमें भाव और भाषा के बीच के अन्तराल को भरने की भी अद्भुत क्षमता है। असल में उसके शब्द सेतु भी हैं और अपने आप में अर्थ भी, किन्तु ऐसे अर्थ जिन्हें सामान्यतः नहीं विशिष्टतः ध्यान से पढ़ने पर ही समझा जा सकता है। शब्द अच्छे हैं, उनका अर्थ अच्छा है, किन्तु वे धैर्य से, एक-एक कर पढ़े जाने की अपेक्षा रखते हैं।

◇◇⁘◇

शमशेर

'कुछ और कविताएँ'

शमशेर के अब तक दो संग्रह सामने आये हैं। इस दशक में प्रकाशित संग्रह 'कुछ और कविताएँ' उनकी काव्य-चेतना का एक आयाम प्रस्तुत करता है। शमशेर सच्ची संवेदनाओं के, उनकी वास्तविकताओं के कवि हैं। वे अपनी कविताओं में उन बिम्बों को बाँटते रहे हैं जिनमें संवेदना को सीधे स्पर्श करने की क्षमता है। कई जगह तो उनकी कविताओं में सीधे चित्र हैं; किन्तु जैसे ही कवि चित्रकला के स्थान पर कवित्व ले आता है या कहें कि जब उसके चित्रकार पर कवि हावी होने की कोशिश करता है तभी उनकी कविताओं का संदर्भ विस्तार पा जाता है। वे सीधे और सपाट चित्रों की अपेक्षा जीवन की विसंगति या उलझन जैसी कतिपय द्वन्द्वमयी स्थितियों के सर्जक बनकर आते हैं। 'शमशेर' की कविताएँ इस बात की गवाह हैं कि वे चित्र और कविता की मिली जुली स्थितियों की सर्जनाएँ हैं। इसी से उनमें बिम्बों का सशक्त प्रयोग और साथ ही जीवन के संदर्भ भी आते गये हैं। असल में कवि 'शमशेर' ने चित्रकार शमशेर को पराजित नहीं होने दिया है। कहीं-कहीं दोनों में द्वन्द्व भी दिखाई देता है और लगता है कवि मुक्ति की माँग कर रहा है। 'एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता' और 'घिर गया है समय का रथ' जैसी कविताएँ इस संदर्भ के स्पष्टीकरण के लिए काफ़ी हैं।

'कुछ और कविताएँ संग्रह ६१ का प्रकाशन हैं। यद्यपि उसमें संकलित कविताएँ पहले की हैं, फिर प्रकाशन-वर्ष की दृष्टि से वह विवेचन की सीमा

में आ जाता है। यों भी उसका इस सीमा में आना बलात् घुसपैठ नहीं है क्योंकि उसमें आये बिन्दुओं का धरातल प्रणय व्यापार की विविध स्थितियों का व्यंजक होकर भी जीवन से जुड़ा हुआ है। उसमें संवेदनाओं का वास्तविक रूप निहित है, उनकी पकड़ सूक्ष्म और जबरदस्त है। सामान्यतः इस संग्रह की कविताएँ प्रकृति, प्रेम और उनकी विविध मनःस्थितियों की व्यंजक भी हैं और यथार्थ के अनुभव को रेखांकित भी करती हैं। वैचारिक धरातल पर शमशेर में एक 'कन्ट्राडिक्शन' है: विरोधाभास है और यह यथार्थ और रोमांटिक भाव के कारण है। एक ओर उनका व्यक्तित्व सौन्दर्यानुभूति से आन्दोलित है और दूसरी ओर सामाजिक दायित्व बोध से। विजयदेवनारायण साही ने 'शमशेर' की काव्यानुभूति की बनावट पर प्रकाश डालते हुए उसे काव्यानुभूति की मलार्मीय विडम्बना कहा है। इस विडम्बना में समूची सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितान्त न कुछ के लिए बंजर प्रेम के स्फुरण को स्वीकार किया गया है। उनका कहना है कि 'शून्य से, नितांत न कुछ से, कविता का जन्म होता है'—इस गति में शायद रुकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है। शमशेर की कविता में एक प्रवृत्ति है—उसी शून्य, उसी न कुछ मे वापस चले जाने की। गति और प्रतिगति—अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता, संतुलन पैदा होता है। यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक अंतराल है—विशुद्ध संभावना का क्षण। यह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थ से आलोकित होती है।'[१] साही की यह बात समझ में आती है। वास्तव में शमशेर की कविता में संकोच और अभिव्यक्ति के बीच का जो क्षण है वही यहाँ जीवंत होकर आता है :

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य-तारक सा
अतल में

इसमें संकोच और अटकाव का एक झिलमिलाता अंतराल है, जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। साही के आधार पर यही अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है। संग्रह की कविताओं में यह भाव और भी स्पष्ट है। इस भाव की स्पष्टता सच्चाई की तलाश को रेखांकित करती है। शमशेर

---

१. शमशेर : शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट : पृष्ठ २३

की कुछ और कविताएँ 'अर्पित निरीहता' की कविताएँ कही गई हैं। इसका संकेत शमशेर की निस्संगता से है। या कहें कि बेबसी में किये गये समर्पण भाव से सम्बद्ध है। इसी प्रक्रिया से गुजरते हुए कवि निरर्थकता की अनुभूति से भर उठता है और उसकी वाणी से ये बोल फूटते हैं :

छोड़ दो सम्पूर्ण प्रेम
त्याग दो सब दया—सब घृणा
खत्म हमदर्दी
खत्म....
साथियों का साथ
रात आयेगी मूँदने सबको।[१]

इस कवितांश की आखिरी दो पंक्तियों में जो निस्संगता है वह अस्तित्ववादी चेतनाभूमि की पार्श्ववर्तिनी है। असम्पृक्त बोध की व्यंजक ये पंक्तियाँ मानवीय अस्तित्व की असुरक्षा की भी द्योतक है। कहीं-कहीं वर्तमान क्षण पर मौजूद रहने की कामना भी देखी जा सकती है। 'सूरज उगाया जाता है' कविता इसी मर्म को उद्घाटित करने वाली कविता है। बीता हुआ कल और आने वाले कल दोनों को व्यक्ति तभी जान सकता है जबकि वह वर्तमान के बिन्दु पर खड़ा हो। 'हम होते काव्य के-अनुपम भूत.भविष्य के/यदि हम वर्तमान के एक साथ हँसते रोते गाते'[२]/वर्तमान ही वह बिन्दु है जहाँ पर खड़े होकर अतीत की ओर देखा जा सकता है और भविष्य की संभावित कल्पनाओं को हृदयंगम किया जा सकता है।

संग्रहीत कविताओं में एकाध ऐसी भी हैं जो मार्क्सवादी चिंतन परंपरा से जुड़ी हुई हैं। 'वाम-वाम वाम दिशा' ऐसी ही कविता है, किन्तु इसका चिन्तन कोरा मार्क्स का चिन्तन नहीं है। उसमें शमशेर भी मिल गये हैं और एक प्रकार से यह शमशेरीय मार्क्सवाद—परिशोधित मार्क्सवाद है। एक अर्थ में यही सामाजिक सत्य का द्योतक भी है। शुरू से ही शमशेर के मानस में व्यक्ति और समाज को लेकर संघर्ष छिड़ा रहा है। कविताएँ इस संघर्ष का कोई समाधान नही देती हैं। कवि की मूलवृत्ति रोमांटिक होने के कारण, उसका संघर्ष, भावुकता, सामाजिक यथार्थ के स्वीकार और शैली के सहयोग से एक

---

१. कुछ और कविताएँ : पृष्ठ ७२
२. वही, पृष्ठ ५

सामंजस्य विठाने की कोशिश करता रहा है। ऐसे ही क्षणों में उन्होंने समाज के मध्यवर्ग की दीन ग्रौर हीन दशा को देखा है ग्रौर उसे जो रास्ता दिखाया है वह साहस के द्वारा, कर्म के द्वारा पार किया जाने वाला रास्ता है। साहस ग्रौर कर्म का मेल उन्हें लोकतंत्र ग्रौर जनता जैसे प्रयोगों की ग्रोर खींचता रहा है; किन्तु ये ही वे स्थल हैं जहाँ वे समन्वय की भूमिका पर खड़े दिखाई देते हैं। यह स्थिति उन्हें उदार मानवतावादी सिद्ध करती है: विशेपकर तव जवकि वे कहते है :

ये पूरव पश्चिम मेरी ग्रात्मा के ताने वाने है
मैंने एशिया की सतरंगी किरनों को ग्रपनी दिशाग्रों के गिर्द
लपेट लिया
ग्रोर मैं योरप ग्रौर ग्रमरीका की नर्म ग्राँच की धूप-छाँव पर
वहुत हौले-हौले नाच रहा हूँ
सव संस्कृतियाँ मेरे सरगम में विभोर हैं
क्योंकि मैं हृदय की सच्ची शांति का राग हूँ
वहुत ग्रादिम वहुत ग्रभिनव
+ + +
ग्राज मैने गोर्की को होरी के ग्राँगन में देखा
ग्रौर ताज के साये में रार्जापि कुंग को पाया
मैं सिर्फ एक महान् विजय का इन्दीवर जनता की ग्राँख में
जो शांति की पवित्रतम ग्रात्मा है।[1]

वास्तव में संग्रह की 'ग्रमन का राग' कविता में धर्म, प्रेम, साहित्य, कला, संस्कृति, व्यक्ति, कानून ग्रौर इतिहास सभी के सम्वन्ध में व्यक्त प्रतिक्रिया एकता की भावना की प्रतिक्रिया है। इसमें उनकी निजी पीड़ा है, व्यक्ति का सुख है ग्रौर जनजीवन में व्याप्त पीड़ा को सुख के भविष्य में वदलने की कामना है। सुख का भविष्य शांति की ग्राँखों में छिपा है। ये ग्राँखें : शांति ही हक़ीकत है, इन्हें देखना ही शांति-पथ की यात्रा का प्रारंभ है। इसी प्रकार 'भुवनेश्वर' से सम्वद्ध कविता में जिस वास्तविकता का ग्रंकन है, वह उसे सच्चाई की कविता सिद्ध करती है, पर सहानुभूति शून्य नहीं है। 'हमारे दिल सुलगते हैं' कविता यद्यपि ग्रल्जीरियाई वीरों को समर्पित है, परन्तु हमारे

---

१. कुछ और कविताएँ : पृष्ठ १८–२०–२१

राजनैतिक जीवन में लगातार होने वाली उलट-फेर का दौर मनुष्य के जिस दर्द को करवट बदलने को मजबूर करता है, उसे शमशेर ने उसकी वास्तविकता में पहचाना है।

संग्रह की तीन कविताएँ : 'एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता' और 'सींग और नाखून' और 'शिला का खून पीती थी' कवि की एक अजीव स्थिति की सूचक हैं। देश और काल से सम्बद्ध यथार्थ बिल्कुल वही नहीं है जो हमारे सामने है। देश और 'काल' के बीच का जो गैप है—दरार है, वह 'ये लहरें घेर लेती हैं' कविता में भी मौजूद है। एक वार कवि कहता है :

> एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
> पूरब से पच्छिम को एक कदम से नापता
> बढ़ रहा है
> कितनी ऊँची घासें चाँद तारों को छूने को है,
> जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
> अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ
> फिर क्यों ?
> दो बादलों के तार
> उसे महज उलझा रहे हैं।[1]

'देश और काल' की अभिन्नता ही यहाँ है। ठेले जाने वाला पहाड़ देश है और सुबह व शाम काल हैं जिनकी दूरी स्पष्ट है। यह दूरी, यह अन्तराल कवि के मन का अन्तराल है जिसे वह अपनी चेतना से—अपने अस्तित्व की आस्था से भर देता है। वस्तुतः यह एक असंभव को संभव बनाती हुई आस्था की कविता है। इसमें चाँद-तारों के रूप में जो बाधायें हैं, वे अनवरत कर्म से ठेली जाने की प्रेरणा दे रही हैं। यह समस्त कुंठाओं के प्रतीक हैं। ऊपर जिस दरार की बात कही गई है, वह अनवरत कर्मजनित आस्था से भरी गई है। इसी प्रकार 'शिला का खून पीती थी' में भी काल देश में आकर मिल गया है। लगता है कि काल की गति जड़ हो गई है। यह जड़ता और निष्क्रियता निरर्थकता की स्थिति है जिसे बार-बार शमशेर

---

१. कुछ और कविताएँ, पृष्ठ ७

विभिन्न प्रतीकों से व्यक्त करते हैं। इन कविताओं में जो खाई है, उसे आस्था से ही भरा जा सकता है, अन्यथा 'न कुछ की उपस्थिति' मनुष्य की सबसे बड़ी यंत्रणा की स्थिति है। यह वह बैचेनी है, वह दर्द है जो आस्था के अभाव में मानव को चट्टानी जड़ता से भर देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि जड़ता, संत्रास और दर्द की चट्टान के बिन्दु पर आकर जड़ हो गया है। वह यहाँ से लौटता है, संघर्ष करता है और अपने व्यक्तित्व की चेतना से उसे पाने के लिए अनवरत प्रयत्न करता है।

इस विवेचन के बाद यह बात भी ध्यान देने की है कि 'शमशेर' रोमानी संवेदनाओं के कवि हैं। उनमें इस संदर्भ की कितनी ही अनजानी और अकल्पित स्थितियों के बिम्ब आकर समाते रहते हैं और जब उनसे कविता बनती है तो वह और भी अधिक विश्वसनीय लगती है। संग्रह की 'न पलटना उधर', 'जिन्दगी का प्यार', 'टूटी हुई बिखरी हुई', 'एक मुद्रा से', 'सावन', 'धरो शिर' और 'लौट आ ओ धार' जैसी कविताएँ 'रोमांटिक मूड्स' की चित्रावलियाँ हैं। इनमें कल्पना का वैभव है, सौन्दर्य की प्यास है, प्रणयी की सर्द-गर्म आकांक्षाएँ है और सबसे ऊपर भावों के उतार चढ़ाव हैं। प्रेमजनित आकांक्षा और निराशा से उत्पन्न पीड़ा, अवसाद और देश की सजीव अनुभूतियाँ 'जिन्दगी का प्यार' और 'टूटी हुई बिखरी हुई' व 'सावन' कविताओं में देखी जा सकती हैं। 'सावन' कविता की शुरुआत प्रकृति के बिम्बों से होती है, किन्तु उसका विकास प्रेम की विविध मनस्थितियों में होता है। प्रेम की स्थितियों के बिम्बों को उभारने के लिए कवि द्वारा व्यवहृत भाषा सरल और सादगीपूर्ण है। भाषा पूरी तरह आम भाषा है :

मैली हाथ की धुली खादी
सा है आसमान।
जो बादल का पर्दा है वह मटियाला धुँधला-धुँधला
एक सार फैला है लगभग :
कहीं-कही तो जैसे हलका नील दिया हो।
उसकी हलकी-हलकी नीली झाइयाँ
मिटती बनती बहती चलती हैं।[1]

---

१. कुछ और कविताएँ : पृष्ठ ६०

इस प्रकृति दृश्य की रम्यता, सादगी और चित्रमयता पूरी तरह साफ़ और सुथरी हुई है। 'टूटी हुई बिखरी हुई' की प्रणयानुभूतियों के बिम्ब भी अद्वितीय हैं। उनमें आशा, निराशा, पीड़ा और अवसाद व स्मृति का जो अंकन है, वह कवि की मनोदशा को व्यक्त करता है। इस कविता में बिम्बित उदासी और उससे सम्बद्ध यादें पूरी गठनात्मकता और संश्लिष्टता से व्यक्त की गई हैं। अकेलेपन की ये उदासियाँ शमशेर को स्वातंत्र्य और श्रेष्ठत्व प्रदान करती हैं क्योंकि उनमें शमशेर की भाषा एक सरल इन्सान और अकेले में महसूस की गई उदासी की बेपर्द शैली से जुड़ी हुई है :

तुमने समझा कि उनमें तुम थे
नहीं नहीं नहीं
उनमें कोई न था
सिर्फ़ बीती हुई
अनहोनी और होनी की उदास
रंगीनियाँ थी। फ़क़त।

इन शब्दों में जो शक्ति है, वह पूरी कविता में है :

कबूतरों ने एक गज़ल गुनगुनायी
मैं समझ न सका रदीफ़ काफिए क्या थे ?
इतना खफीफ इतना हल्का, इतना मीठा
उनका दर्द था।

यह कविता प्रेम की विभिन्न स्थितियों की विश्रृंखलित बिम्ब योजना लेकर सामने आती है। इतने पर भी इसमें संयोजना और संश्लिष्टता है। इसी से प्रेमानुभूतियों के बिम्ब भी सघन और तरतीब दर तरतीब एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। यह कविता स्मृति-बिम्बों का एक विलक्षण 'एलबम' है जिसमें 'प्यार के पहाड़ पर झरने की तड़फ', 'जंगली फूलों पर ओस का टपकना' 'एक फूल का ऊषा की खिलखिलाहट पहन कर रात का कम्बल उतारना' आदि से प्रेम की विभिन्न व्यंजक तस्वीरें उतारी गई है। रोमांटिक 'मूड' कविता में आद्यन्त व्याप्त है :

और तब मैंने देखा कि मैं सिर्फ़ एक साँस हूँ जो उसकी
बूँदों में बस गयी है।

जो तुम्हारे सीनों में फाँस की तरह खाव में

अटकती होगी, बुरी तरह अटकती होगी ।'

इसी कविता में हमें उस प्रेमी के दर्शन होते हैं जो फटा हुआ लिफाफा है, उसकी पसलियाँ 'दोपहर वाद की धूप-छाँह में खड़ी इंतजार की ठेले गाड़ियाँ' हैं और उदासी के क्षणों की आँखें सूजों से रफू किये जा रहे खाली वोरों की तरह है । कहने का तात्पर्य यह है कि इस कविता में प्रेमी की अतृप्ति भी है और तृप्ति की पूर्णता भी है और दोनों ने मिलकर जिस अवसाद को जन्म दिया है वही सच्चा है । इसकी पीड़ा एक ताकतवर इन्सान की पीड़ा है जो सब कुछ सह रहा है—हिम्मतवर आदमी की तरह और उस सहने की पीड़ा से कवि को प्यार है : तभी तो उसकी पलकों में इशारों की तरह उसकी खुशबू वस गई है, दाँतों मे दवी दूव के तिनके की नोंक उसकी नींद में गड़ती रहती है । एक शब्द में यह प्रेम की पीड़ा की कविता है, स्मृति के विम्वों की ताजा कविता है जो कवि की ताकत भी है और कमजोरी भी है । इसी तरह प्रेम की विविध स्थितियों की अनेक कविताएँ है, पर यह अकेली कविता उनके सारे प्रेम का अनूठा और अद्वितीय विम्व है । रोमांटिक होने के नाते शमशेर में अतीत से जुड़ने की मोहमयी स्थिति है । वह अतीत के स्वप्नों से पूरी तरह सम्पर्कित होना चाहते हैं :

लौट आ, ओ फूल की पंखुड़ी

फिर

फूल में लग जा

अतीत से जुड़ता हुआ कवि अपने आपको 'समय की लम्वी आह और मौन लम्वी आह' मानकर पीड़ा का अनुभव करता है :

चूमता है धूल का फूल

कोई हाय[१]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि शमशेर की अनुभूति में उनकी निजी संवेदना, उनका विचारक, दार्शनिक और प्रेमी आकर एक साथ मिल गया है । संवेदनाओं के प्रसंग और उनसे सम्वद्ध विम्ब खासे ताज़े और

१. कुछ और कविताएँ : पृष्ठ ४०

जीवंत हैं। मूल रूप से शमशेर प्रणय जीवन के प्रसंगों के कवि हैं। उनका चित्रकार और उनकी कला का समायोजन उन्हें एक ओर संवेदनाओं के वैशिष्ट्य की ओर ले जाता है तो दूसरे छोर पर संवेदनाघात की भूमिका पर ले जाता है। बाहरी दवाव, तनाव और असम्बद्ध सी दिखने वाली सामाजिक पीड़ा उनमें नहीं है। हाँ, उनकी काव्य-सर्जना में अभिव्यक्ति का संकोच और संकोच की अभिव्यक्ति पूरी घनता लेकर आई है। उनकी संवेदनाओं की पकड़ इतनी सूक्ष्म और जटिल है कि वे आधुनिक बोध के व्यंजक प्रसंगों को लेकर और भी अधिक ईमानदार कवि हो सकते हैं। भाषा की संश्लिष्टि, शब्दों का वेनकाब, किन्तु ईमानदार प्रयोग, बिम्बों की बोलती अर्थगर्भ शब्दावली और अप्रस्तुतों में प्रयुक्त रोजमर्रा उपमाएँ सभी प्रभावशाली हैं।



कुँवरनारायण

'आत्मजयी'

'आत्मजयी' कुँवरनारायण की मूल्यवान रचना है। 'कठोपनिषद' में संकेतित नचिकेता और यम के प्रसंग को लेकर इसे आधुनिक जीवन और विचारधारा के अनुकूल ढालने की कोशिश की गई है। यह पिता-पुत्र के संघर्ष को लेकर लिखी गई जीवन की सृजनात्मक संभावनाओं में आस्था के लाभ की कहानी है। सीमित परिदृश्य में रहकर भी इसमें विश्लेषित प्रश्न-उप प्रश्न जीवन के गंभीरतम प्रश्नों में से हैं। 'नचिकेता' के मानस में उठने वाले प्रश्न आधुनिक व्यक्ति की मानसिक भूमि पर उठने वाले बौद्धिक प्रश्नों से मेल खाते हैं। कवि ने नचिकेता के माध्यम से जीवन-मूल्यों की खोज को ही महत्वपूर्ण बताया है। वह एक सत्यान्वेषी पात्र है : भौतिक सुखों को नकारने वाला तथा चरम सत्य का अभिलाषी। यदि गहरे उतरें तो वह अमर जीवन मूल्यों की तलाश का विश्वासी है। सुखी जीने की अपेक्षा सार्थक जीना जरूरी है और इसी सार्थक बिन्दु के लिए नचिकेता का संघर्ष है। इस बिन्दु की तलाश में वह परम्परा से विद्रोह करता है। उसका कथन है कि 'मेरे पिता तुम और तुम्हारी दुनियाँ/एक दूसरे की छकी हुई प्रतिक्रिया में/युगों से रूढ़ बासी सी लगती है/सीमित कुछ लोगों तक/जीने से पहले ही/बीती सी लगती है।'

'नचिकेता' में अकेलापन और अजनबीपन है। उसके मानस में चल रहा द्वंद्व उसे यह सोचने को बाध्य कर देता है कि वह जीवित है या 'केवल

अपहृत संज्ञा है, या केवल व्यवहृत'। इसमें संदेह के लिए गुंजाइश नहीं कि जन्म से ही उपेक्षित अस्वीकृत नचिकेता जब मानव अस्तित्व के मौलिक प्रश्नों को उठाता है, तब वह कठोर आत्मसंघर्ष की भूमिका पर होता है। कहना यह है कि 'नचिकेता' जिसका न अतीत है, न भविष्य—यथार्थ जिसके लिए एक 'घर' है। वह सरल प्रलोभनों का निषेध करता हुआ सार्थक जीवन दृष्टि की ओर बढ़ता है, जीवन को कोई अर्थ देना चाहता है—शरीर के लिए नहीं। शरीर के बावजूद जीने की कामना उसमें है। अस्तित्ववादी दर्शन की प्रारंभिक स्थिति मनुष्य की अवशता और निस्सहायता की है। मानव जीवन का विषम क्षण मृत्यु है। जीवन और मृत्यु के संदर्भ दोनों ही व्यक्ति की सीमा से बाहर के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों के बीच में झूलता हुआ मनुष्य दुख उठाता है। मौत और जिन्दगी के बीच में लटकता हुआ मनुष्य व्यक्तित्व के अस्तित्व की खोखली, शून्य और अवश स्थिति से आहत है। उसकी अनुभूति का क्रम इस प्रकार दौड़ता है :

खोखला दर्द
गहरा विराग
बस, 'होने' भर का थका ज्ञान।
अनुभूतिहीन
वह उतरे हुए नशे-सा जीवन बियावान।
ऊपर निर्हेतुक सूनापन पागल करता,
नीचे से उठता हुआ सिंधु
अपने विश्वासों के कंधों पर खड़ा हुआ
जीवन का एक हताश बिन्दु।
चेतना केन्द्र, चिन्तित मनुष्य
भयभीत अधर में टँगा हुआ
अस्तित्व मरण के अधरों से
कुछ बचा हुआ कुछ लगा हुआ....

आज के जीवन में नैराश्य ही नैराश्य है। व्यक्ति निराशा का पुंज है—अतीत उसकी रक्षा में असमर्थ है क्योंकि वह मृत है और भविष्य एक प्रवाद है, विनाश का ग्रास बनेगा फिर कौन जाने क्या हो? ऐसी परिस्थिति में वर्तमान की यथार्थता ही वरेण्य है। न कहीं मुक्ति है न कहीं कोई अन्य मार्ग

ही। 'आत्मजयी' का नचिकेता ऐसा ही पात्र है। वह निराशा से ऊपर उठकर भी उसी में उलझता प्रतीत होता है। स्थिति विकट हो जाती है। वह जिधर भागे उधर ही पहले से एक कठिन अनिश्चय, एक नयी दीवार, एक डरावनी छाया दिखाई देती है। फलतः 'किसी ओर फाँद जाने को जी चाहता है/चाहे खाई हो/चाहे आग/चाहे जल'/क्योंकि उन सबसे कहीं अधिक भयानक यह छल है। इसे न तो जीवन कहा जा सकता है और न मृत्यु ही—सिर्फ एक दुविधा के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं है। जब भविष्य भी हवाई है और अतीत बीता हुआ या मरा हुआ तो फिर वर्तमान की गंगा से ही प्यास बुझ सकती है। भविष्य तो विनाशमय है तभी ऐसी अनिश्चित और त्रासमयी स्थिति में जहाँ सम्पूर्ण अस्तित्व खतरे में हो, 'अस्तित्व' की गरिमा समझ में आती है। मृत्यु का भय अस्तित्व का सही अर्थ स्पष्ट कर सकता है। कैसी विचित्रता है कि 'अस्तित्ववाद' जैसे आस्थावादी चिन्तन की शुरूआत अवसाद और निराशा से हुई है। यह दर्शन निस्सहाय, अवश और निरर्थक स्थिति को नये मानमूल्य प्रदान करने की चेष्टा करता है। 'नचिकेता' इसी प्रक्रिया से गुजरा हुआ पात्र है तभी तो वह मानवीय अर्थ की आवश्यकता का अनुभव करता है:

एक दृष्टि चाहिए मुझे....
जीवन बच सके
अँधेरा होने से,—बस।

क्योंकि आज की दुनियाँ में सर्वत्र छीना-झपटी, अत्याचार, पाप-शोषण और अनाचार का दौर चल रहा है। तर्कणा से सम्पन्न 'नचिकेता' दुनियादारी में विश्वास नहीं करता है क्योंकि—

मुझको इस छीना झपटी में विश्वास नहीं
मुझको इस दुनियादारी में विश्वास नहीं।
हर प्रगति चरण मानव का घातक पड़ता है।
हम जीते आपा-धापी और दबावों में
हम चाहे जितना पायें कम ही लगता है।
कुछ ऐसी रखी है तरकीब स्वभावों में।

जिन्दगी की कड़वाहट और आपा–धापी तथा निरन्तर अधिकाधिक पाने की कामना आदि कुछ ऐसी विसंगतियाँ हैं जिनमें फँसकर मानव छटपटा रहा है–उबरने का कोई रास्ता नहीं दिखलाई देता है 'नचिकेता' भी इसी

स्थिति को भोग रहा है मेरी समझ में कोई भी दर्शन इस प्रकार की स्थिति से गुजरकर आस्था का पुनर्लाभ नहीं कर पाता है। अतः यह तो अस्तित्व-वादी चेतना ही है जो सारी तिक्तताओं को भोगकर भी आस्था की भूमिका पर प्रस्तुत है। नचिकेता अस्तित्व की चिन्ता करता हुआ 'कर्मठता' में विश्वास रखता है क्योंकि उसके सामने यह स्पष्ट है कि जीवन की 'खनिज परिस्थितियाँ मानव की कर्मठता का सहारा पाकर दिव्यतम हो जाती हैं। 'कितनी व्यावहारिक बात है कि मृत्यु का त्रास मनुष्य को अस्तित्व की गरिमा से जोड़ देता है। 'नचिकेता', 'मृत्युमुखातप्रमुक्त' होकर कुछ क्षणों के लिये जीवन की निरन्तरता का अनुभव करता है जिसका प्रसार एक ओर अतीत तक है तो दूसरी ओर वर्तमान तक। यही वह स्थिति है जब मनुष्य मरणभीति से मुक्ति पाकर अस्तित्व की विराटता का अनुभव करता है—जागृति का बोध प्राप्त करता है। अस्तित्ववाद जिस प्रकार मानवीय स्वातंत्र्य पर बल देता है, उसी प्रकार नचिकेता भी। इसके लिए पहले तो वह बौद्धिक परतन्त्रता, पुरानी रुढ़िवादी जीवन-दृष्टि व पारम्परिक आस्तिकता के प्रति विद्रोह करता है और अन्ततोगत्वा मृत्यु की भयंकरता और त्रासमयी स्थिति को चुनौती देता हुआ मानवीय-स्वातंत्र्य का अलख जगाता है। परिणामतः इस चरम भय से छुटकारा पाकर ही वह अस्तित्व के वास्तविक मूल्य का बोध कर पाता है।

ध्यान रखने की बात है नचिकेता जीवन से विरोध नहीं करता है, अपितु उसका विरोध वस्तुवादी दृष्टिकोण से है जो मृत्यु के समक्ष संतोष नहीं दे पाता है। इस प्रकार 'नचिकेता' जीवन के प्रति असम्मान व्यक्त नहीं करता है। यदि ऐसा होता तो वह बाद में जीवन को कैसे स्वीकार पाता ? वस्तुतः उसका विरोध जीवन से नहीं, अपितु उस दृष्टिकोण से है जो जीवन को सीमित कर देता है। नचिकेता एक अस्तित्ववादी पात्र है जो अनेक त्रासद संदर्भो व विसंगतियों में भी जीवित रहता है। मृत्यु का साक्षात्कार कर जीवन की ओर लौटना इस बात का प्रमाण है कि वह अस्तित्ववादी चेतना का वाहक है। यद्यपि भारतीय दर्शन और अस्तित्ववाद को मिलाने का प्रयास या समानान्तर चलाने का उपक्रम कुँवरनारायण ने किया है, किन्तु यह संभव नहीं हो सका है क्योंकि दोनों में बड़ा अन्तर है। भारतीय दर्शन में मृत्यु को शान्ति प्रदायिनी मानकर जीवन की समाप्ति समझा गया है जबकि अस्तित्ववादी

दर्शन में मृत्यु जीवन प्रदायिनी है—विवेकशील मानव के अस्तित्व का प्रमाणित करने वाली स्थिति है। मृत्यु के प्रति उपेक्षा, उदासीनता आदि के विरुद्ध अस्तित्ववादियों की धारणा है कि 'मनुष्य को अपने में गहरी व सशक्त मृत्यु सम्बन्धी चेतना उत्पन्न करनी चाहिए। मृत्यु-बोध से भागना या पराङ्-मुख होना एक प्रकार की कायरता है। 'इस धारणा के पीछे यह भावना है कि मृत्यु की चेतना के अभाव में जीवन की स्वीकृति सम्भव नहीं है। मृत्यु-बोध ही मानव को जीवित रहने की प्रेरणा दे सकता है—जीवन की अर्थवत्ता का आभास दे सकता है। 'आत्मजयी' का 'नचिकेता' इसी प्रकार का पात्र है। वह मृत्यु को निराशा का प्रतीक नहीं मानता; अपितु जीवन को नया अर्थ देने वाली जीवन्त चेतना मानता है। आत्मजयी में जिस सार्थक जीने की बात कही गई है वह भी अस्तित्ववादी चेतना का ही परिणाम है। सार्थक जीवन का तात्पर्य ही यह है कि मृत्यु के प्रति सतर्क रहकर जीवन में प्रवेश करना और हर परिस्थिति में अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य और अस्तित्व को प्रमाणित करना।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि आत्मजयी की मूल-संवेदना क्या है? और आत्मजयी क्या वस्तुतः आत्मजयी है? इस विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मजयी' विसंगतियों के बीच संगति व अनास्था के बीच आस्था की पुनर्प्राप्ति की कहानी है। यह कहानी नचिकेता के माध्यम से घटित और पल्लवित होती है। कृति का मूल प्रतिपाद्य यह है कि जीवन में सुखोपलब्धि ही सत्य नहीं—सार्थकोपलब्धि सत्य है। वैयक्तिक सुख-सुविधाओं के लिए जीना जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता है और विचारशील मानव के लिए तो कदापि नहीं। पूर्णानुभव के निमित्त किसी बृहत् मूल्य का अन्वेषण आवश्यक है जो पार्थिव ऐश्वर्यों की भूमिका को पार करता हुआ अपना अस्तित्व प्रमाणित करे व्यक्ति-स्वातंत्र्य को निरूपित करे। 'सार्थक' शब्द भ्रमोत्पादक हो सकता है, किन्तु लगता है कवि ने इसे जानबूझ कर प्रयोगा है। 'सार्थकता' बड़ी चीज है, किन्तु कवि के इस शब्द की व्याख्या अस्तित्ववादी पृष्ठभूमि में ही की जानी चाहिए। 'सार्थक जीना' क्या है? क्या वह आज के संदर्भ में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अस्तित्व के प्रति जागरूकता से ही सम्बन्धित नहीं है? आज का आदमी जीवन की सार्थकता ही इस बात में समझता है कि वह भीड़ में भी पहचान लिया जाय, स्वातंत्र्य उसकी

प्रमुख चेतना हो और दूसरे लोग उसके अस्तित्व को स्वीकार करें। यदि ऐसा है तो उसका जीवन सार्थक है। यही सार्थकता नचिकेता के माध्यम से व्यक्त हुई है।

यह वह बिन्दु है जहाँ 'आत्मजयी', 'आत्मजयी' लगती है। नचिकेता 'आत्मजयी' इस अर्थ में है कि वह मृत्यु का सही अनुभव करके जीवन को जीत लेता है—अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर लेता है। साथ ही निराशा, विसंगतियों और विकल्पों को विजित करके व्यक्ति-स्वातंत्र्य को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के प्रति जागरूकता और अस्तित्व की सार्थकता की अनुभूति ही उसे 'शांति लाभ' की ओर ले जाती है। मृत्यु चिन्तन जो नई पीढ़ी की विशेषता है, नचिकेता के माध्यम से व्यक्त हुआ है। 'मृत्यु' जो निराशा की प्रेरिका है, इस काव्य में स्वस्थ मूल्यों की ओर बढ़ने का प्रस्थान बिन्दु है। 'आत्मजयी' नाम में भी इस स्वस्थ दृष्टि का उन्मेष है। कुँवर नारायण का प्रतिपाद्य यह है कि निराशा, विसंगति, घुटन और थका देने वाली स्थितियों में आज का मनुष्य हताश नहीं है तभी तो उसमें एक अच्छी तलाश के साथ जीने की भावना मौजूद है। यह आधुनिक संवेदना है जिसे परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है ठीक वैसे ही जैसे उपनिषद् और अस्तित्ववाद को मिलाने का साहस कवि ने किया है। यह मिलन ठीक से नहीं हो सका है और यही कारण है कि 'उपनिपदीय दर्शन' को अस्तित्ववादी चेतना ने खुलकर साथ नहीं आने दिया है।

जहाँ तक 'आत्मजयी' के शिल्प का प्रश्न है वह सामान्यतः कथ्य के अनुरूप है, किन्तु भाषा से शिकायत है। आधुनिक बोध को रूपायित करने वाली कविता में भाषा की जो सहज-संवेद्यता अपेक्षित है वह 'आत्मजयी' में नहीं है। अनेक स्थलों पर लगता है कि कवि आभिजात्य भाषा का प्रयोग करके उसे भारतीय परिवेश दे रहा है जो कृति की मूल संवेदना से मेल नहीं खाता है। 'आँगन के पार द्वार' की भाषा की चेतना इस कृति में भी उपलब्ध है। आधुनिक बोध का प्रतीक पात्र नचिकेता और उसके संदर्भ में 'निर्हेतुक' असृष्ट, आद्यन्त, अपरिमित, विकीर्ण, ऊर्जस्वी सागर प्रक्षालित पग, स्फुर घन उत्तरीय, वनप्रान्तर जटाजूट आदि शब्दों का प्रयोग बेमानी लगता है। सही बात यह है कि इसमें भाषा दो नहीं तीन स्तरों पर खड़ी है। एक स्तर तो

छायावादी है जिसमें रूमानियत भरी हुई है और दूसरा आभिजात्य शब्दावली से अलंकृत है तथा तीसरा नयी कविता का है। जहाँ कवि नयी कविता की भाषा का प्रयोग करने में सफल हुआ है वहाँ चिन्तन स्पष्ट हो गया है और सहज प्रेषणीय बन गया है। वस्तुतः व्यावहारिक चिन्तन को प्रस्तुत करने वाली भाषा में जिस आत्मीयता की अपेक्षा होती है वह 'आत्माजयी' में नहीं है। अतः 'आत्मजयी' की सबसे बड़ी कमजोरी भाषा विषयक है। यही कारण है कि कई स्थलों पर चिन्तन में भी 'ठंडापन' और 'ढ़ीलापन' दिखाई देता है। कवि यदि चाहता तो इसमें 'नाटकीयता' के सहारे सहज और प्रभावशाली संवेदनाओं को उभार सकता था, किन्तु इतिवृत्त की स्थूलता और वैचारिक बोझिलता ने ऐसा नहीं होने दिया है। साथ ही इस काव्य का प्रारम्भ ही यदि 'आत्महत्या' के बिन्दु से होता और कुछ अन्य पात्र भी आधुनिक बोध का भार ढ़ोते तो सम्भव है यह कृति और भी अधिक सफल व विश्वसनीय बन गयी होती।

०००

दुष्यन्तकुमार

'आवाजों के घेरे'
'एक कठ विषपायी'

दुष्यंतकुमार सप्तकों के वाहर के कवि हैं, किन्तु नयी कविता के अच्छे कवियों में उनकी गिनती की जा सकती है। उनके सृजन में संवेदना कीगहराई, अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की प्रसन्नता बरावर मिलती है। उक्त दोनों ही कृतियाँ सन् 1963 की प्रस्तुतियाँ हैं। दुष्यंत का आस्थावादी दर्शन उनकी उपलब्धि है उनकी आस्था अनिश्चय, संघर्ष और आशंकाओं को पारकार आगे जावे वाली आस्था है। वास्तव में दुष्यंत एक ऐसे कवि है जो संघर्षो की अनिवार्यता को तो मानते हैं; परन्तु अपनी राह भी उन्हीं रास्तों में से निकाल हैं। 'दृष्टान्त' कविता इसी का उदाहरण है। चक्रव्यूह और अभिमन्यु के पौराणिक प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्ति देने वाला कवि सही मानियों में उत्साही कवि है। उसकी दृष्टि में दो वातें हैं; संघर्षो की अनिवार्यता और संघर्ष हीन जीवन की निष्क्रियता उसने इन दोनों वातों के भीतरी और वाहरी दोनों पहलुओं पर विचार किया है। वह सोचता है कि वह भी क्या जीवन जिसमें संघर्ष नहीं और उनसे जूझने का प्रवल भाव नहीं।

ओ इस तम में छिपी हुई कौरव-सेनाओ ! आओ !
हर धोखे से मुझे लील लो,
मेरे जीवन को दृष्टान्त बनाओ।
कुंठित शस्त्र भले हों हाथों में, लेकिन—
लड़ता हुआ मरूँ मैं।
(आवाजों के घेरे)

कर्म बड़ी चीज है। आदमी जब कर्म करना बन्द कर देता है तब या तो वह पराश्रित होता है या फिर निष्क्रिय बनकर जीवन काटता है। इस स्थिति में वह अपनी सम्पूर्ण असफलताओं का कारण दूसरों को और सफलता का कारण स्वयं को मानता है। यही वह स्थिति है जो मनुष्य को विघटन की ओर ले जाती है तथा उसे 'आदमियत' से डिगा देती है। दुष्यंत की कविताओं से लगता है कि वे ऐसे नहीं हैं। उनका 'दिग्विजय का अश्व' सब पर विजय पाना चाहता है; तभी तो कवि कर्म पर आरूढ़ है, कटिबद्ध है। यह ठीक है कि कर्म करते समय कष्ट का अनुभव होता है, संघर्ष सहना पड़ता है, किन्तु ऐसा कौनसा विकास है—उत्थान है जो संघर्षों के बिना उठ पाता है फिर संघर्षों और परेशानियों के बाद ही तो सूर्योदय होगा। ठीक ही है सूर्योदय से पहले धुँआ और अँधेरा होता ही है : "मगर इनसे भयभीत होने की जरूरत नहीं, दिन निकलने से पहले ऐसा हुआ ही करता है।" व्यक्तिगत दर्द के सहारे ही कवि जनहित की बात कह सका है जिसे 'नयी पीढ़ी का गीत' में अभिव्यक्ति मिली है। कवि 'मैं' 'से' 'हम' तक अर्थात् व्यष्टि और समष्टि तक की यात्रा करता हुआ कहता है :

जो मरुस्थल आज अश्रु भिगो रहे हैं,
भावना के बीज जिस पर बोरहे हैं,
सिर्फ मृगछलना नही वह चमचमाती रेत !
क्या हुआ जो युग हमारे आगमन पर मौन ?
सूर्य की पहली किरण पहचानता है कौन ?
अर्थ कल लेंगे हमारे आज के संकेत।

इन पंक्तियों में कितना बड़ा विश्वास व्यंजित है, कितनी बड़ी मर्यादा और कितनी बड़ी आशामयी दृष्टि है, यह सहज ही देखा जा सकता है। यों इस संकलन में कुछेक कविताएँ ऐसी भी है जो रोमानी संदर्भों में लिखी गई हैं। इनमे एक ओर तो रूप सौन्दर्य की छवियाँ हैं तो दूसरी ओर वेदना की दर्द भरी अभिव्यक्तियाँ भी हैं, किन्तु 'अतिरोमान' कहीं नहीं है। वह तो जहाँ है वहाँ संयमित, संतुलित और करीने से रखा हुआ भावोद्वेलन है। स्मृति-कोश की एक अनुभूति देखिये—

प्राण ! कौतूहल बड़ा है
मुझे लिखना

श्वाँस देकर खाद
परती कड़ी धरती चीर
वृक्ष जो हमने उगाया था नदी के तीर
क्या आज भी खड़ा है ?
—या वहाकर ले गई उसको नदी की धार
अपने साथ परली पार ?

किन्तु अभी तक के कृतित्व के आधार पर दुष्यंत जी आस्था, कर्म और संघर्षों से जूझने वाले कवि के रूप में ही अधिक जाने जा सकते हैं। उनकी मूल चेतना उत्साही और भावना कर्ममय आस्थावादी है। इसलिए वे घूम फिर-कर अपनी कविताओं में उसी बिन्दु पर ठहरते है और वही विन्दु कभी रेखा वन जाता है और वृत्त भी।

'आवाजों के घेरे' भी आस्थावादी दर्शन का घोषणा पत्र है, किन्तु यह आस्था कौरमकौर नहीं हैं, उसके पीछे गहरी जीवन दृष्टि है। जीवन की सचाई का सही अर्थ संघर्षों में ही निकलता है संघर्षों की वेदी पर चढ़कर मनुष्य जिन्दगी का कोई अर्थ पा सकता है। दुष्यंत जी की आस्था इन्हीं संघर्षों से राह वनाती हुई अपना आलोक विखेर रही है। आवाजों के घेरे में भी जहाँ भीड़ है—'रश' है और कोलाहल है, वहाँ भी कवि की आवाज सवसे अलग ही सुनी जा सकती है। किसी भी विन्दु पर कवि हारता नहीं है क्योंकि संघर्षो में हार मानकर वैठ जाना जिन्दगी नहीं है। उसका सहीं रूप तो जीने में है। जिन्दगी को उसी रूप में जीना जिस रूप में मिली है; सही मानियों में जीवन के मर्म को पहचानना है। ईश्वर की कल्पनाओं और चिन्तना में वुद्धि उलझाना व्यर्थ है क्योंकि ऐसा कोई अर्थ नहीं जो जिन्दगी से वड़ा हो, विराट हो—

जीवन का ज्ञान है सिर्फ जीना मेरे लिए
इससे विराट चेतना की अनुभूति अकारथ है
हल होती हुई मुश्किलें
खामखा और उलझ जाती हैं
और ये साधारण सा जीना भी नहीं जिया जाता है।

दुष्यंत का कवि थककर वैठ जाना नहीं जानता और सवसे वड़ी वात यह है कि उसमें पराजित होकर भी लज्जा भाव नही है। पराजय जीवन

को और मजबूत बना सकती है। अतः लज्जित होने का तो कोई कारण ही नहीं है। यह नये कवि का मानस है जो यथार्थ का भार वहन करता है और हार जाता है, किन्तु फिर भी अपने व्यक्तित्व के प्रति आस्थावान है— अपने अस्तित्व को खतरे में डालने को तैयार नहीं है। उसके मन में जिन्दगी को जीने का संकल्प अभी भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। आज की घुटनशील परिस्थितियों में जब व्यक्ति के मस्तक पर दुख के मानचित्र खिंचे हुए हों, संकट से घिरे हुए वचन-बद्ध योद्धा के समान उसका व्यक्तित्व छटपटाता हो और वह अपने से ही अजनबी हो गया हो (अनजानी लगती है अपनी ही पुकार) तथा उसे प्यार के बदले में दर्द ही मिला हो तब भी कवि निराश नहीं, हताश नही और जीवन से विमुख होने की भावना से युक्त नहीं है।

कुल मिलाकर दुष्यत जी का कृतित्व आस्था के वृत्त में घूमता-फिरता है। जीवन की सारी कड़वाहट, सम्पूर्ण तिक्तता को भोगने के बाद भी वे सूर्योदयी भावनाओं के कवि है। वस्तुतः वे इन सबसे पार होकर आलोक और सूर्योदयी आस्था का वरण करते हैं। अंधकार की हदों को चीरता हुआ कवि कई स्थलों पर इसी बात को दुहराता प्रतीत होता है। यही कारण है कि 'आवाजों के घेरे' में भी उसकी ध्वनि जानी-पहचानी और साफ सुनाई देती है। इतना ही नहीं कवि के मन में यह बात बराबर बनी रही है, कि जिन्दगी का एक दाँव हार जाने पर दूसरे में विजय निश्चित है फिर दुख भी तो सदैव रहने वाला नहीं है 'जीवन के कै दिन है, अभी बीत जायेंगे' का विश्वासी कवि अनेक स्थलों पर यह कहता दिखाई देता है—

१. देखो ना !
मुझमें ही डूबा था सूर्य कभी'
सूर्योदय मुझमें ही होना है,

२. मेरी हर आकांक्षा
आने वाले कल में जाग रही है.......

३. चारों ओर बिछा है अपनी पीड़ाओं का पाश
दिशा-दिशा में भटके चाहे
किन्तु भविष्य-विहग उलझ कर
आ जाएगा पास।

'आवाजों के घेरे' संकलन की 'अभी तो' शीर्षक कविता इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। कवि को सूर्य की प्रतीक्षा है इसलिए आस्था है। रात्रि के घने अंधकार और काली परतों को चीरता हुआ जैसे सूरज का प्रकाश सुबह की रंगीन वेला में एक नयी आशा-उमंग भर देता है, उसी प्रकार जीवन की अवसादमयी वेला सुखद और आशामय होगी और तब तक नायिका के हाथों में रचायी गयी मेंहदी भी खिल उठेगी। ऐसी ही आस्था से प्रेरित होकर कवि कहता है :

रात के घने काले समय में
मेरी हथेली पर
तुमने बनाया है सूरज

—मेंहदी से
कहीं सुबह तक रचेगा
लाल होगा।

यों उतावले मत हो
रचेगा जरूर
सूरज है
तुमने बनाया है।

—लेकिन प्रिय
अभी तो अँधेरा है
नमी है हथेली में
सुबह की प्रतीक्षा है।

आचार्य वाजपेयी जी ने 'धर्मयुग' के निबंधों में दुष्यंत जी पर वैयक्तिक परिवेश में आबद्ध रहने का आरोप लगाया है। मेरी समझ में यह ठीक नहीं है क्योंकि वे ऐसे कवि हैं जो व्यक्ति से समाज की ओर बढ़े हैं और व्यष्टि से समष्टि की ओर का यह झुकाव नयी कविता की विशेषता है। नया कवि जो भोगता है, उसे कहता है। अतः जो कहता है उसकी शुरूआत अपने से ही करता है। फिर 'आवाजों के घेरे' की कविताओं में तो वैयक्तिक परिवेश प्रत्यक्षतः सामाजिक परिवेश बन गया है। यही कारण है कि कवि वातावरण-जन्य घुटन से बाहर आने का प्रयत्न स्वयं ही नहीं करता है बल्कि अपने

जैसे सभी को हमदर्दी के साथ मुक्ति के वातावरण में ले आना चाहता है। आलोक की राह पर वह सबके साथ बढ़ना चाहता है—

"सब अँधेरे में सिमट जाओ और सट जाओ
और जितने आ सको उतने निकट–आओ
हम यहाँ से राह खोजेंगे ।।

कहने की आवश्कता नहीं कि दुष्यंत विश्वासों के कवि है और इनके यह विश्वास कर्म को प्रेरित करने वाले हैं। वस्तुतः यह वह कवि है जो जीवन को असली रंग में भोगता हुआ उससे नयी राह खोजने को आतुर है और यह आतुरता व्यर्थ इसलिए नहीं कि उसके पीछे आस्था की शक्ति है। हार कर बैठने वाला कवि वह नहीं है, वह तो मरकर भी जीतने की कामना से आकुल है ।

एक कंठ विषपायी

'एक कंठ विषपायी' अंधायुग की परम्परा का ही नाट्य-प्रबन्ध है। ये दोनों ही प्रबन्ध स्वरूप और समस्या में नये भावबोध के समीपी है। दोनों ही कवियों (भारती और दुष्यन्त) ने पुराने कथानक को लेकर या उसी की पीठिका पर नये भाव-बोध को प्रस्तुत किया है और प्रस्तुतीकरण की यह प्रक्रिया इतनी संयत और शांत ढंग से हुई है कि पुराने आधार पर यह नयी संवेदना विश्वसनीय और शक्तिशाली ढंग से प्रेषित हो गई है। भारती और दुष्यन्त दोनों ही अन्वेषणों के कवि हैं। दोनों ही कवियों ने इस मूल समस्या को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिये यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में जीवन को स्वर दिया है। यह स्वर विश्वसनीय इसलिए लगता है कि इसको व्यक्त करने की विधि नाटकीय है और माध्यम काव्य है। काव्य और नाटकीय विधान के समायोजन से आधुनिक बोध को गहराई प्राप्त हुई है।

'एक कंठ विषपायी' चार अंकों में विभाजित है। पहले अंक में 'दक्ष' और उनकी पत्नी 'वीरिणी का वार्तालाप कथा का प्रारम्भिक बिन्दु है। वार्तालाप शंकर को यज्ञ में निमंत्रित न करने को लेकर है। 'दक्ष' शंकर के निमंत्रण पर असहमति व्यक्त करते हैं, किन्तु 'वीरिणी' का मातृस्नेह इस असहमति का निषेध करता है। इसी अंक में सती पार्वती अनाहूत पहुँचती है, दक्ष उत्तेजित होते हैं। वातावरण में तनाव आ जाता है। दक्ष झुक तो जाते हैं किन्तु शंकर की अवहेलना प्रश्न बन जाती है। सती इस अपमान को सहन

नहीं कर सकती और उन्हें यज्ञ में प्रथम स्थान दिलाने की जिद करती है जिसे दक्ष 'यह कहकर कि मेरे आयोजन में शंकर का कोई स्थान न होगा' क्रोध व्यक्त करते हैं। इसी बिन्दु से कथा दूसरी ओर मोड़ लेती है। दूसरे अंक में सती के भस्म हो जाने के बाद का ध्वस्त यज्ञस्थल, उससे उत्पन्न परिस्थितियाँ और शंकर का भृत्यों के प्रति आक्रोश व्यंजित है। यहीं सर्वहत नाम का पात्र जो दक्ष के पक्ष का है, सारी स्थितियों का भोक्ता बनकर अवतरित होता है। तीसरे अंक में 'शंकर' का निर्वेद और प्रिया-वियोग व उससे आ खड़ी समस्याओं व प्रतिक्रियाओं का अंकन है। 'शंकर' का निर्वेद कथा की अविच्छिन्नता को बनाये रखने में सक्षम है। कवि ने उपयुक्त अवसर पर शंकर को उपस्थित किया है। वे सारी कथा के केन्द्र-बिन्दु हैं। कथा का सूत्रपात शंकर को लेकर है। मध्य में उनकी अनुपस्थिति और अपमान भावना है और आगे विकास की स्थिति में वे जाहिर होकर रंगमंच पर आते हैं। तीसरे अंक में ही शंकर से वरुण और कुबेर का मिलना उनकी उत्तेजना को और बढ़ा देता है; किन्तु शंकर के मोहान्ध हृदय में आक्रोश जन्म लेता है तभी सती का शव उनका ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। शंकर के सम्बन्ध से ध्यान देने की बात यह है कि वे युद्ध के प्रेरक-भर हैं, युद्ध में साझा नहीं करते। चौथे अंक में युद्ध की भूमिका तैयार होती है। इन्द्र सेनापति के वेश में ब्रह्मा से अनुमति माँगते चित्रित किये गये हैं; किन्तु वे युद्ध को सामूहिक आत्मघात समझते हैं। शंकर की युद्धोन्मत्त सेनाएँ धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं; पर ब्रह्मा सेना को शान्त होने का आदेश देते हैं। ऐन मौके पर युद्ध टल जाता है : स्थिति शान्त हो जाती है।

कथा पूरी तरह मूल चेतना से जुड़ी हुई है। उसका प्रारम्भ, मध्य और अवसान निश्चित और संघटना लिए हुए है। विचारोत्तेजक होकर भी यह कृति एक सम्बन्ध-सूत्र में गुथी हुई है। हाँ आंतरिक जीवन की प्रधानता के कारण इसमें घटनाओं से ज्यादा मनोभावों पर बल है। शंकर, ब्रह्मा और सर्वहत–सभी इस बल को प्रकट करते हैं। पौराणिक कथा और पात्र सभी आधुनिक बोध से जुडे हुए हैं। आज हमारा जो संकट है, हम जिन परम्पराओं को दुर्गन्धयुक्त पाकर छोड़ते हुए नई परम्पराओं की स्थापना कर रहे हैं तथा आधुनिक जीवन में जिस सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध कर नये मूल्यान्वेषण के लिए सक्रिय हैं वह सब आलोचित कृति में अनुस्यूत है। प्रश्न यह है कि कृति की मूल संवेदना क्या है ? रचनाकार सृजन के क्षणों में किस मनःस्थिति

में रहा है ? मेरा विचार है कि कवि के मानस में आज की सभी परिस्थितियाँ रही है और रही इसलिए हैं कि वह युग के कटु अनुभवों को भोग रहा है। फिर 'अंधायुग' का संदर्भ भी उसके सामने था। युद्ध का भय, सामान्य जनता की पीड़ित चेतना, परम्पराओं की सँड़ाध से बाहर आकर मुक्ति की साँस लेने की कामना और युद्धोपरान्त की ह्रासशील मनःस्थितियों को शृंखलित करने की आकांक्षा आदि कुछ ऐसे प्रश्न है जो दुष्यन्त के मन में रहे हैं। केवल युद्ध या केवल परम्परा से मुक्ति का प्रश्न ही अकेला इस कृति के सर्जन का हेतु रहा हो, यह असम्भव-सा लगता है। कथा में पर्याप्त आधुनिकता है। जर्जर रूढ़ियों और परम्पराओं से चिपटे रहने में कोई भलाई नहीं दीखती है। हमें नये और नैतिक सामाजिक मूल्यों का अन्वेषण कर जीवन को सार्थकता देनी है। वर्तमान जीवन की विकृतियाँ, पूँजीपतियों की मनोवृत्ति, शासकीय मदान्धता, मृत्यु की सत्यता और युद्धादिक सन्दर्भों के कथागत नियोजन से कृति को आधुनिकता प्रदान की गई है। फिर परम्परा से मुक्ति की कहानी होने से भी इसकी आधुनिकता स्वयं सिद्ध हैं।

परम्परा से चिपके रहने का अर्थ है : परिवर्तन की अस्वीकृति और उसे सनातन मानने का अर्थ है—नये मूल्यों से कतराना। किन्तु नये की प्रस्तुति जरूरी होती है। यों भी परम्परा यदि लक्ष्मण-रेखा हो तो भी वह लाँघी ही गयी थी, भले ही। संदर्भ कुछ भी रहा हो। 'एक कंठ विषपायी' में परम्परा भंजन का कार्य शंकर ने किया है। वे परम्परा-पोषक भी रहे हैं, किन्तु तभी तक जब तक मोह उन पर हावी रहता है। अतः शंकर की परम्परा भंजकता और परम्परा पोषकता का सही अर्थ स्थिति-विशेष का ही आयाम है। उसकी विवेचना स्थिति-विशेष के सन्दर्भ में ही की जानी चाहिए। चौथे अंक की भाव-सामग्री समकालीन सन्दर्भों में भी देखी जा सकती है। युद्ध की समस्या इस अंक में प्रमुख है। युद्ध हो या न हो का प्रश्न यहाँ भी सामने है। ब्रह्मा युद्ध की अनिवार्यता को नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में युद्ध स्वयं में उपलब्ध सत्य नहीं है; फिर इसी अंक में जनता की नारेबाजी, सैनिकों का मनोबल, सेनानायकों की युद्ध-प्रियता और जनता की भीड़ का शासकों के द्वार पर धरना देकर शासन बदलने की माँग, इन्द्र, वरुण और कुबेर की उत्तेजना—तीनों का एक साथ युद्ध करेंगे, नहीं डरेंगे का आह्वान, भीड़ का ब्रह्मा यह सिंहासन छोड़ो तथा ब्रह्मा का यह कहना कि असली शासक प्रजा है, तुम हो—मैं तो परामर्शदाता हूँ, मुझे इसका तनिक भी मोह नहीं आदि

संदर्भ प्रजातंत्रीय शासन की स्थिति का ही आभास देते हैं। एक तरह से यह प्रजातंत्रीय संदर्भ सामयिक राजनीति की भूमिका पर किया गया 'प्रोपेगण्डा' लगता है। इसमें हलकापन है और यही वजह है कि ये संदर्भ काव्य की मूल संवेदना का रूप धारण करने के कारण बचकाने लगते हैं।

पात्रों में आधुनिक संदर्भों के प्रतीक पात्र सर्वहत, शंकर और दक्ष हैं। दक्ष अभिमानी और कूटनीतिक पात्र है। यज्ञारम्भ इस कूटनीति का प्रारम्भिक चरण है, जिस पर खड़े होकर वे शंकर के गौरव; उनकी महत्ता को चुनौती देते हैं। वे जिद्दी आवेशी और आक्रोशी हैं। शंकर अपने प्रारम्भिक रूप में परम्परा-भंजक हैं। उनकी यह स्थिति दक्ष की अनिच्छा से पार्वती के वरण, उसको माता-पिता के विरुद्ध फुसलाने जैसे कार्यों में दिखलाई देती है। शंकर का यह रूप पौराणिक होकर भी आधुनिक बोध के निकट है। यों भी वे पर्याप्त अन्तर्विरोधों में जीने वाले पात्र हैं। इसी कारण वे आधुनिक व्यक्ति के आन्तरिक संकट और विसंगतियों को रूपायित करते हैं। वियोग के दौरान उनकी शोकमग्न विभ्रान्ति, व्यक्तित्व की टूटन और अपने से ही पराजित अनुभव करने का भाव, आधुनिक व्यक्ति के सन्दर्भों के अनुरूप है। अपने देवत्व को दी गई धिक्कार में उनकी आत्म-पराजय, आत्मनिर्वासित और टूटी हुई मनःस्थिति व्यक्त हुई है—

देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़
मैंने क्या पाया ?
निर्वासन प्रेयसि वियोग !!
हर परम्परा के मरने का विष
मुझे मिला
हर सूत्रपात का श्रेय
ले गये और लोग।

शिव का यह प्रश्नाकुल रूप परम्परा से मुक्ति और पुष्टि दोनों को व्यक्त करता है। यह उनके व्यक्तित्व का 'कान्ट्रेडिक्टरी' रूप हैं; किन्तु यही तो आधुनिक जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थिति है, जिसे हर आदमी भोगता है। सर्वहत, चिरपीड़ित जनता का प्रतीक है। वह युद्ध की विभीषिका और तत्प्रसूत परिणामों को भोगती हुई जनता का प्रतीक है। उसके माध्यम से कवि ने शासकों की हृदय-हीनता पर व्यंग्य किया है। यही कारण है कि शासन की पीड़ा में पिसती—कराहती जनता का जीवन साकार हो उठा है—

आप लोग शासक हैं
और शासकों को कहीं
रक्त की कमी हुआ करती है
ओह ! अब समझा
शासकों की स्मरण-शक्ति दुर्बल हो जाती है
छोटी-छोटी बातें उन्हें याद नहीं आती हैं ।

यों वह दक्ष का नौकर है, किन्तु सारी स्थिति का भोक्ता भी है । यदि जनता का प्रतीक सर्वहत है तो फिर ब्रह्मा के दरवाजे पर युद्ध माँगती हुई जनता क्या उससे भिन्न है ? मेरी समझ में वह जनता का प्रतिनिधि है और फिर चाहे जनता किसी की भी हो, वह युद्ध के परिणामों को भोगती ही है। अतः जिन लोगों को यह कमजोरी लगी है, वह केवल सर्वहत को दक्ष तक सीमित रखने के कारण । यज्ञ का विध्वंस हो जाने पर सर्वहत की दिग्भ्रमित स्थिति, अकुलाहट, पीड़ा और विवशता को देखा जा सकता है । यह ठीक वही स्थिति है जो कुंठित और पिसे हुए व्यक्ति की होती है । वह दुखान्त घटनाक्रम के बाद की स्थितियों को भोग रहा है—जनता को ऐसी स्थितियाँ भोगनी ही होती हैं । यही उसकी विवशता है—

क्योंकि यह विधाता के नियमों की विडम्बना है
चाहे न चाहे
किन्तु शासक की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है
उसे गलित मूल्यों का दण्ड भोगना पड़ता है
और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ
मैं प्रजा भी हूँ

शासकों के दमन-चक्र की चक्की में पिसती हुई प्रजा भूख और भोग की स्थितियों को सहती है । आज की समस्या भूख की समस्या है । इसका हल अभी तक आदमी के हाथ नहीं लगा । सर्वहत के द्वारा रचनाकार ने इस बोध को भी वाणी दी है । वह ब्रह्मा और विष्णु से रोटी माँगता है, वरुण और इन्द्र पर विक्षिप्तता में झपटता है । ये क्रियाएँ भूखे आदमी की स्थिति की ही व्यंजक हैं । वह खुद भूखा होकर सारी दुनियाँ को भूखा समझता है । वास्तव में सर्वहत युद्धोपरान्त विकसित ह्रासशील मूल्यों का भग्न-हृदय है; विकृति उसमें है—वही विकृति जिसे सारा समाज भोग रहा है । भूख सब जगह है;

उसमें अन्तर हो सकता है। कोई पेट की भूख से पीड़ित है तो कोई अधिकार-लिप्सा से, किन्तु जीवन की भूख प्रायः कम ही लोगों में देखी जा सकती है—

यों भूखा होना कोई
बुरी बात नहीं है
दुनियाँ में सब भूखे होते है
सब भूखे........
किन्तु जीवन की भूख
बहुत कम लोगों में होती है।

युद्धजन्य विनाश और उससे प्रसूत परिस्थितियों के दंश को सहता हुआ सर्वहत पीड़ा का जीवित रूप है। सर्वहत के सहारे ही युद्ध की समस्या भी उठाई गई है। कहा जाता है कि युद्ध हमारा भोगा हुआ सत्य नहीं है, किन्तु यह दलील बे-बुनियाद है क्योंकि इसे हमने भोगा है। फिर आज की वैज्ञानिक दुनियाँ में जब अन्तर्राष्ट्रीयता का सवाल उठाया जा रहा हो, तब इस तरह की बात कहना बेमानी है। पश्चिमी देशों ने जिस संकट को अनुभवा है; वह एकदम हमसे कटा हुआ तो नहीं है, फिर रचनाकार देशीय सीमाओं से बाहर भी देखता है। शिल्प की दृष्टि से भी तो यह कृति कमजोर नहीं है; हाँ उसकी भाषा पूरी तरह नयी कविता की भाषा नहीं लगती है। उसमें कहीं-कहीं बनावटीपन है—चेतना से अलग रहने का भाव है। साथ ही उसमे गद्याभास भी पर्याप्त है—कहीं-कहीं तो 'अंधायुग' से भी ज्यादा। इसके बिम्ब प्रतीक और उपमान तनाव की स्थिति में या उस जैसे ही किसी वातावरण में यदि आकर्षक हो गये हैं तो संवादों के दौरान वे ही कहीं-कहीं बासी और फीके भी लगते हैं। शैली में आयी नाटकीयता और कथनों के तीव्र आघात से भी प्रेषणीयता बाधित नही हुई है; यह अच्छी बात है।

०००

नरेश मेहता

'वोलने दो चीड़ को'
'मेरा समर्पित एकान्त'
'संशय की एक रात'

नरेश 'दूसरे सप्तक' के कवि है तथा नयी पीढ़ी के कवियों में अधिक सफल और स्पष्ट कहे जा सकते है। गत दशक में उनकी तीन नयी काव्य-कृतियाँ सामने आयी है। 'वोलने दो चीड़ को' संग्रह की कविताएँ रस और आनन्द की पीठिका पर प्रतिष्ठित है। इस काव्य–संग्रह के विचार, शिल्प और सौन्दर्यवोध परम्परा से जुड़े हुए हैं, फिर भी उसमें आधुनिक वोध की सम्भावनाओं को नकारा नहीं जा सकता। यही कारण है कि जीवन के संघर्ष-स्वर भावोत्तेजना और वैचारिकता काव्य के शरीर में ढल कर सामने आई है। इन कविताओं में कहीं उलझाव नहीं, वे जाल की तरह उलझती नहीं हैं वरन् मन को भेदती हुई वहुत गहरे पैठ जाती है। अनेक कविताओं की सहजता और निश्छद्मता मन को मोह लेती है। 'चाहता मन', 'कमल वन', 'वोलने दो चीड़ को', 'एक क्षमा–याचना', 'रक्त हस्ताक्षर 'दिनान्त की राज भेंट', 'अनुनय', 'सन्दर्भ भटकी यात्राएँ', 'शाम का एक चित्र', 'किन्तु मैं लड़ूँगा ही', 'जितने जल उतने ही संशय', 'वूढ़े मसूड़ों का जलूस' और 'एकान्त भविष्य लगता है' संग्रह की श्रेष्ठ कविताएँ हैं। यद्यपि कवि पर रीतिवादी शैली की छाप है, किन्तु अनुभूति की आत्मीयता में वह खो जाती है। नरेश की कल्पना शक्ति वड़ी सजग है। यों नरेश पर कोई लेविल नहीं चिपकाया जा सकता है, किन्तु यदि आवश्यक ही हो तो उन्हें रोमानी भावनाओं का ऐसा यथार्थवादी कवि कहा जा सकता है जो सौन्दर्य छवियों के एलवम में यदाकदा व्यंग्य विद्रूप और जिन्दगी की विसंगतियों के चित्र भी लगा देता है।

संग्रह में अधिकांश कविताएँ प्रकृति सौन्दर्य और प्रेम की भीनी और मदिर अनुभूतियों की सहज और बेलाग अभिव्यक्तियाँ हैं। 'चाहता मन' की अनुभूति में जो आत्मीयता है; वह स्मृति बिम्बों के साहचार्य से अधिक आकर्षक हो गई है, बह गया वह नीर। जिसको पदों से तुमने छुआ था कौन जाने धूप उस दिन की कहाँ हैं! जो तुम्हारे कुन्तलों में फूली धुली धोली लग रही थी। 'दिनान्त की राजभेंट' कवि-मन पर पड़े प्रभाव की प्रतिक्रिया है और प्रयोगों की नवीनता से और भी नवीन हो गई है। प्रकृति की छवियों से सजी 'दिनांत की वंकिम छवियाँ' अप्रस्तुतों की भीड़ के बीच भी अपनी पहचान आप होती हैं। यही वजह है कि "नील कुहर की मच्छरदानी सिर पर लादे पगली वदली बंजारिन" का बिम्ब विकृत और आहत नहीं हुआ है। 'कामना' कविता में वंसतागम, जिन्दगी की शून्यता को भरने का माध्यम बना है तो 'माघ भूले' का सौन्दर्य भी मारक है। 'सोनपर्वी दिन' का सुनहला सौन्दर्य यदि उत्सव-भाव का प्रतीक है तो दूसरी ओर कर्म और गतिशीलता का वाहक भी। 'शाम का एक चित्र' बिम्ब प्रधान रचना है। प्रस्तुत संग्रह में फागुन पर कई कविताएँ है। यों भी उनके साहित्य को देखें तो लगता है कि कथा-साहित्य में भी उन्होंने फागुन के बोलते हुए चित्र दिये है। यहाँ भी फागुन के वैभव, उल्लास और सौन्दर्य को लेकर लिखी गई सभी कविताएँ उनकी प्रकृति-निरीक्षण क्षमता का बोध कराती है। कभी तो यह फाल्गुनी मास उन्हें स्तवक की तरह लगता है, कभी अप्सरा की आँख की तरह भरा-पूरा और कभी तट के फूलों से भरा हुआ। फागुन की प्रतीक्षा; महिमा और सौन्दर्य के ये बिम्ब ताजे और अछूते हैं। कवि इनके प्रति समर्पित हो गया है।

प्रकृति के बिम्बों में डूबा हुआ कवि का मन निराश नहीं, उल्लास और उत्सव का भाव उसमें है। एक जीवन्त आस्था और उसके भीतर एक भविष्य है जो उसकी हर उदासी, हर पीड़ा और हर अकेलेपन को कभी सूरज की किरणों से, कभी वहती हवा से और कभी फाल्गुनी सौन्दर्य से भरने की कोशिश करता रहता है। उदास संध्या को उत्सवित बनाने की कामना कभी पूर्ण भी हो जाती है और कभी नहीं भी होती है। कभी उसे यह भी लगता है (हालाँकि ऐसा अपवाद स्वरूप ही हैं) कि उसकी उदास संध्या उदास ही रही है क्योंकि संसार में कहीं प्रसन्नता नहीं है।

मैं इस उदास संध्या को
इन पीले पत्तों को लौटा दूँगा

क्योंकि मैं इसे उत्सव नहीं कर सका
मेरे पास एक उदास संध्या थी, लेकिन किसी के पास
उत्सव नहीं था ।

सूर्य की किरणों से भी कवि ने आस्था का भाव ग्रहण किया है । किरणें प्रसन्नता लाती हैं, किन्तु शाम की उदासी उसकी उपस्थिति को नकार देती है । इतने पर भी कवि प्रतीक्षित है । वस्तुतः नरेश प्रेम सौन्दर्य के कवि होने के साथ ही साथ प्रतीक्षा, कामना और आस्था के भी कवि हैं । इसके अतिरिक्त संग्रह की कुछेक कविताओं में कवि की वैचारिकता भी व्यक्त हुई है । कुछ संदर्भों में कवि ने सांसारिक विभीपिकाओं, परिस्थितियों के उलझाव और धरती पर फैली दलदल का संकेत दिया है । (कमलवन) तो कहीं मनुष्य के मन के संशयों और द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति भी प्रतीकात्मक शैली में की गई है । जल का आधार लेकर कवि ने मानव की द्विविधा, षडयंत्रकारी भावना, नृशंशता और भयावह स्थितियों को आकार दिया है । कल तक/जो रक्षा जल था/उस खाई जल में छायाएँ/तल जा बैठी हैं/हम नहीं/हमारा संशय उनमें प्रतिछायित है/ किन्तु इस प्रकार के संशय और षडयन्त्र से लोहा लेने के लिए हमारे हाथों में खड्ग तो है, संकल्प नहीं है । फिर विकल्प के क्षणों में जो संशय हमारे भीतर जमा होता जा रहा है, कैसे समाप्त हो सकता है ? संकल्प निष्ठा का ही दूसरा रूप है और आज के मानव के हाथ से यह रूप छूटता जा रहा है । (जितने जल उतने ही संशय) ।

एकाध कविता में साहसिकता और ऋत्विज अशेप आस्था का स्वर बहुत तीव्रता से उभरा है । ऐसे स्थलों पर कवि ने मानव की विवशता और उसकी कृपापाशित हो जाने की भावना को चुनौती दी है । 'रक्त हस्ताक्षर कविता पीढ़ी-दर पीढ़ी चली आती असंगतियों और उनसे उत्पन्न विवश स्थितियों पर करारी चोट है । कवि विवशता के वंश को वसुधैव मानता है क्योंकि "हमारे कुल में सन्तान के वदले शिलाएँ जन्मती रही हैं" । विवशता में जीना कोई जीना नहीं है, किन्तु आज तो हर सन्दर्भ विवशता का परिणाम वनता जा रहा है । अतः कवि का कहना है कि यदि अव तक इतिहास छोटा था और यदि हमारे पूर्वज इस राह पर चलते हुए विवशता को कंधा दिये यहाँ तक ले भी आये तो क्या ? तुम तो :

पुत्र मेरे—
हमारा मनु ही पृथक है
अपने वंश में गौतम नहीं होता ।

अपनी विवशता के स्वत्व की भिक्षा
अन्य की देकर न तुम छोटे कहाना।
इतिहास ओछा था
हम नही !!

विवशता और कृपापाशित जीवन अभिशाप है : मनुष्य के छोटे और संकीर्ण होते जाने का सबसे बड़ा सबूत है। यहाँ कवि इस अभिशप्त जिन्दगी से तंग आकर ही ऐसी साहसिक और बेपर्द बात कह सका है। ऐसा लगता है कि कवि कतिपय कविताओ मे सत्यान्वेषी बनकर नये मूल्यो की स्थापना का अभिलाषी है। अस्तित्व की चिन्ता और आस्थावादी मूल्यो की प्रस्तुति में विश्वास ही कवि से यह कहलाता है :

यहाँ वहाँ लोग ही लोग है
मैं कहाँ हूँ ?
तुम्हारे पैरो के नीचे
मेरा नाम कही दब गया है
उठा लेने दो
मेरे लिए वह मूल्य है।

या फिर—

"आओ हम सब अपने-अपने नाम खोज निकालें
भीड़ो की असावधानियो से
कुचल गये है क्योकि वे मूल्य हैं
अपने को जानने के लिए—कि
हम कब लोग होते है
और कब नही !!

जो अकेलापन जिन्दगी के 'नर्वस सिस्टम' को ही आघात पहुँचाये वह कभी भी निर्माणकारी नही हो सकता है। ऐसा एकान्त शिलालेख है, उसमें शून्यता और रिक्तता का दर्द है और दर्द आदमी को किन्ही संदर्भों में छीजने के लिए विवश कर देता है। आस्थावादी कवि नरेश ऐसे अकेलेपन को क्यो सकारते ? अतः वे तो उस एकान्त की प्रतीक्षा करते हैं जो पवित्र और विशाल है :

'मुझे हर प्रतीक्षा वाला एकांत
भविष्य लगता है।'

कहीं बिम्बों और सौन्दर्यानुभूति के जाल में घिर कर हल्की भी हो गई है। वस्तुतः नरेश मन:स्थितियों के कवि हैं। उनमें पूरे भावों का सामायोजन नहीं है। खण्ड अनुभूतियों के जितने संश्लिष्ट बिम्ब वे दे पाते हैं उतने कम ही लोगों के काव्य में मिलते हैं। यही वजह है कि कई बार कविता पढ़ते समय लगता है कि हम कविता के वर्ण्य संदर्भ को खुद ही किसी स्तर पर जी रहे हैं। समसामयिक जीवन की विडम्बनाओं के बिम्ब भी बड़े सरल और वास्तविक हैं। आज काम कोई करता है, श्रेय किसी और को मिलता है। यह स्थिति बड़ी कष्टप्रद है। नरेश ने इसे 'विडम्बना' शीर्षक में चित्रित किया है। 'सम्पाती' जो सत्यान्वेषी का प्रतीक है, वह जब पंख जल जाने पर या किसी भी कारण वश लक्ष्य से लौट आता है तो दूसरा जो सत्य की व्याख्या करता है वह सत्यान्वेषण का श्रेय ले लेता है। 'लोगों ने तपस्वी सम्पाती को नहीं मुझे ऋषी कहा। 'इतिहास के दावेदार' में आधुनिक जीवन और उसके प्रतीक व्यक्ति की कथा है। संकल्प-पावन-संकल्प और आस्था का स्वर यहाँ भी काफी गहरा है। उसमें कृत्रिमता नहीं, सत्य का स्पर्श है। दूसरे खण्ड की 'समय देवता' जैसी लम्बी कविता, जो दूसरे सप्तक में भी छप चुकी है, एक पुष्कल उपलब्धि है। नयी कविता के इतिहास में लम्बी कविताओं के प्रवर्तन का श्रेय भी इसी कविता को है। प्रारम्भ से अन्त तक कविता की अन्विति, उसके भाव और शिल्प दोनों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती है। इसमें एक ओर रीतिवादी आग्रह है तो दूसरी ओर आधुनिक बोध भी। कवि की मानवतावादी दृष्टि की सूचक यह कविता सभी देशों और राष्ट्रों की संस्कृति की व्याख्या करती हुई समय की महत्ता बतलाती है। इसमें प्रकृति के विविध देशीय बिम्ब हैं, मानव चेतना के सन्दर्भ हैं। समय ही सबसे बड़ा देवता है और वही चौबीसों घन्टे मानव के हर कर्म की जाँच-पड़ताल करता रहता है—एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में :—

१. यह यौवन की भूमि सोवियत
जहाँ मनुज की, उसके श्रम की पूजा होती

२. दूर छिपकली सा वह टापू है जापान देश का
जो कि मर चुका एटम बम से।

३. समय देवता !
यह तिब्बत है
यहाँ मनुज लामा होता है

४. दक्षिण दिशि में देव
देखते हैं वह धरती के सिकुड़न सी
लम्बी रेखा ?
राजनीति की फसल सरीखी
खड़ी हुई दीवाल चीन की ।

इस कविता में कल्पना का गांभीर्य और वैराग्य तो है ही, शिल्प यथार्थ के रंगों से सज कर और भी आकर्षक लगता है ।

संग्रह का शिल्प प्रतीकों और अप्रस्तुतों की दृष्टि से बड़ा समृद्ध है । कवि के शिल्प में प्रयोगगत नवीनता है और वह नवीनता कोरी नवीनता नहीं है, उसमें औचित्य का अंश भी पर्याप्त है । अधिकांश प्रतीकों का स्रोत प्रकृति है : जल, नदी, सागर, शाम, दूर्वा, अश्विनी, फुहार, मेघ और दिन । 'जल' नरेश के यहाँ प्रायः चेतना का और नदी प्रवाहशीलता–निरन्तरता का प्रतीकत्व लेकर आये हैं । अप्रस्तुतों के नये प्रयोग भी सार्थक हैं :—

१. पट खुलते ही सौभाग्य-सा बरस जाता है दिन
२. जर्जर फेंफडे सी जलहीना धरती
३. दिन भर तो नहीं, किन्तु मेघ बरसे संध्या को
जैसे सन्तान मिले बरसोंपरान्त वन्ध्या को

[यह उपमान अपनी प्रदीर्घता के कारण बिम्ब का कार्य भी कर रहा है, इसकी संवेद्यता भी मोहक और प्रभावशाली है]

४. ईसाई भिक्षुणी–सी धूप
५. धूप, सृष्टि पर पूजा सी झुकी
६. पादरी के भीगे चौगे–सा आकाश
७. पतंग के कागजों-सी दीवारें सुखाते मकान
८. मोर–पंख सी सजी रमणियाँ
९. पूरब में हड्डी के रंग वाला बादल लेटा है पेड़ों के ऊपर
१०. रीछ सरीखा खड़ा हुआ है यह काँगों का काला जंगल

कुल मिलाकर शिल्प की दृष्टि से भी यह संग्रह नरेश की प्रयोगशीलता को रेखांकित करता है । इसमें संतुलन और औचित्य का समायोजन है ।

'संशय की एक रात'

आज के संघर्षगामी युग में मानव की व्यवस्था, निराशा, घुटन और प्रश्नाकुल मन:स्थिति ने इतना जोर पकड़ा हैं कि मानव जीवन संपन्नता से

विपन्नता की ओर सरक आया है। नयी कविता के कवियों ने मानव जीवन की इस संत्रस्त परिस्थिति और मानवीय संघर्ष को वाणी देने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। इस संघर्ष और संत्रस्त परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि कवि पुराने आदर्शों को छोड़ नई भीड़-भाड़ और अस्तव्यस्तता को काव्य में आकार देने लगा है। बौद्धिक जागृति ने भी पुराने आदर्शों से चिपके रहने से मानो इन्कार कर दिया है। 'संशय की एक रात' और 'कनुप्रिया काव्यों में इस बौद्धिक चेतना को देखा जा सकता है। इसमें नरेश ने राम को आदर्श और रामत्व वाले रूप से परे एक प्रशाकुल और विवेकी मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। इस खण्ड काव्य की समस्या न तो 'सैक्स' की समस्या है, और न समाज के किसी अंग से संबंधित भूख की समस्या है वरन् वह तो युद्ध की समस्या है। 'कुरुक्षेत्र' में जैसे युधिष्ठर युद्धोपरान्त नरसंहार से दुखी है, वैसे ही 'संशय की एक रात' के राम के मन में यह दुख युद्ध के पूर्व ही समा जाता है। युद्ध का प्रश्न ही कवि के मन को अनुक्षण सालता रहा है। इस कृति मे राम-कथा का जो स्थल चुना गया है। वह प्रायः घटनाहीन था, किन्तु कवि ने उसे अपनी उर्वर कल्पना से काव्यमय रूप प्रदान कर दिया है। आधुनिक भाव-बोध के साथ संग्रथित करने के लिये राम-कथा के इस प्रसंग से अधिक उपयुक्त और द्वन्द्वमय स्थल दूसरा हो ही नही सकता था। सेतु बँध चुका है, राम-रावण युद्ध की तैयारी हो चुकी है; लेकिन राम के मन में यह संशय जागता है कि क्या बंधुत्व, मानवीय एकता धर्म-स्थापन और मानवीय विकास युद्ध के विना संभव नहीं है। वस फिर क्या था, राम के मन में एक के वाद एक प्रश्न पर प्रश्न उठते चले जाते हैं। उनके प्रश्न/कुल मन में वार-वार परिताप, पश्चाताप वढता जाता है। वे यह सोचते हैं कि एक व्यक्ति का वनवास सारे समाज के लिए अभिशाप क्यों वन गया है और मेरी व्यक्तिगत समस्याएँ ऐसे इतिहास का क्यों निर्माण करें? इन प्रश्नों के वीच राम का व्यक्तित्व केवल पराजय और अनुताप का ही व्यक्तित्व रह जाता है। राम का यह अपूर्ण व्यक्तित्व और द्वन्द्वमय चरित्र उनका अकेले का नहीं है, वह तो सम्पूर्ण मानवजाति का अधूरा व्यक्तित्व है। राम के इस संशयालु और प्रश्नाकुल मन के माध्यम से सम्पूर्ण मानव-पीढ़ी के मन की शंकाओं को उजागर किया गया है। एक शब्द में राम का संशय व्यक्ति मात्र का संशय है। राम सोचते है कि यदि मैंने युद्ध किया तो इस सब का उत्तरदायी मैं होऊँगा/अतः ऐसा युद्ध, ऐसी विजय सब मिथ्या है।

वस्तुतः 'संशय की एक रात' मूल्यों और मान्यताओं के ऊहापोह को प्रस्तुत करने वाला काव्य है। मेहता नये बोध के कृतिकार हैं। अतः वर्तमान की मानसिक उधेड़बुन, शंका, संदेह और अनिश्चय तथा विरोधी विचारों और अवधारणाओं के संघर्ष तथा तज्जनित विसंगतियों को प्रतिरूपित करने वाली यह रचना उनकी चिन्तना को भी प्रस्तुत करती है। राम-कथा के प्रसंग में ये सभी विसंगतियाँ निरूपित हैं। फलतः इस काव्य में परस्पर संघर्ष, विपरीत मूल्यों और मान्यताओं के संघर्ष को वाणी दी गई है। युद्ध और शांति, व्यक्ति और समाज इन दो जोड़ों को लेकर ही मान्यताओं और आदर्शों की टकराहट की प्रस्तुति का कारण भी आधुनिक भावबोध ही है। नरेश की इस कृति का संदेश यही है कि मूल्यामूल्य का विचार करते समय युद्ध और शांति, व्यष्टि और समष्टि की बात न करके संशय और कर्म में से किसी एक का चयन अनिवार्य है। कवि ने संशय और शंकाओं के घटाटोप से निकल कर राम के सहारे 'कर्मवाद' का प्रतिपादन किया है। कर्म ही मानव का वरेण्य मूल्य है। लक्ष्मण और हनुमान भी इसी कर्म का समर्थन करते हैं। आधुनिक युग के संदर्भ में कर्म ही मूल्य बन सकता है।

इस खण्ड काव्य में जो वातावरण चित्रित है वह राम से जुड़ा हुआ है तथा उसमें घटित सभी संदर्भ राम के प्रश्नाकुल व्यक्तित्व के ही अंश प्रतीत होते हैं। प्रारम्भिक सर्ग में सिन्धु के तट पर का वातावरण राम की वियोगी मनःस्थिति को भलीभाँति प्रस्तुत कर सका है, उसमें वातावरण जितना सघन है, राम के मन में अनुभाव भी उतने ही संश्लिष्ट हैं। चिन्तन ज्यों-ज्यों गम्भीर होता गया है, समस्या ज्यों-ज्यों उलझती गई है, त्यों-त्यों वातावरण में खिचाव आता गया है। राम के अतिरिक्त विभीषण के मन में भी द्वन्द्व हैं। उनके टूटे व्यक्तित्व को यही बात बार-बार झकझोरती है कि क्या युद्ध ही मानवीय शुभाशुभ कर्म की नियति है? विभीषण की दृष्टि में युद्ध दर्शन है, अपने अधिकारों के अर्जन का अन्तिम मार्ग है। काम सामूहिक अंधता है और संशय वैयक्तिक अंधता। अतः अंधता से मुक्ति के लिए काम करना आवश्यक है, चाहे वह युद्ध ही क्यों न हो? राम इसलिए युद्ध नहीं चाहते कि कि सीता हरण उनकी व्यक्तिगत समस्या है, फिर व्यक्तिगत समस्या के निवारण के लिए इतना रक्तपात, इतनी भयंकरता और मन को कँपा देने वाला वेदन किस काम का? हनुमान की दृष्टि में सीता अकेले राम की

समस्या नहीं, वह तो साधारण व्यक्तियों की अपहृत स्वतंत्रता है। अतः उस स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए युद्ध अनिवार्य है। इतने संगी-साथियों के सहयोग देने पर भी राम का संशय ज्यों का त्यों बना रहता है। उनके संशय में लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, विभीषण और यहाँ तक कि उनके पिता की आत्मा व जटायु की आत्मा भी उन्हें युद्ध की अनिवार्यता बतलाती है; लेकिन इस शर्त के साथ कि राम को जो युद्ध लड़ना है वह न तो अपने आप लड़ा जाने वाला युद्ध है, न अनास्था से लड़ा जाने वाला युद्ध है बल्कि वह तो असत्य के विरुद्ध उठाया गया अनिवार्य कर्म है। अन्त में राम अनेक विकल्पों में से गुजरते हुए और युद्ध को न चाहते हुए भी सभी साथियों की सहमति से युद्ध का निर्णय कर लेते हैं। राम का प्रश्नाकुल मन बहुजन हिताय, अपने अधूरे व्यक्तित्व को सब के लिए समर्पित कर देता है। यह निर्णय उनकी अस्वीकृतास्वीकृति का परिणाम है। उनके मन की यह स्थिति ऐसी ही है जैसे कोई व्यक्ति अन्दर से टूक-टूक हो जाये, बिखर-बिखर जाये, किन्तु बहुमत का साथ देने के लिए उसे वह भी करना पड़े जो वह मन से नहीं चाहता। राम का निर्णय अनेक ऊहापोहों के बाद का निर्णय है। राम संशयों के बावजूद एक महिमा का बोध कराते है। वे आधे मन और दूसरे अधूरे व्यक्तित्व से ही युद्ध को स्वीकारते हैं। मानव-विभूति की चिन्ता उन्हें अंत तक पीड़ित किये हुए है। यही कारण है कि राम निर्णय के बाद भी शांति का अनुभव नहीं करते और भावी युद्ध का मानचित्र उनके मानस में पहले ही साकार हो उठता है।

"मध्यरात्रि के इस निर्णय से
जाने कितने सूर्य
आज ही
कल के लिए मर चुके
जाने कितने अनागतों दिवसों की
घायल हँसियाँ
रोती रही रात भर।
मुझ में कल का युद्ध
आज ही संभावित हो चुका

रक्त सने हो गये आज ही
हाथ-माथ ये ।"

राम का यह निर्णय उस विकल्प के बाद का निर्णय है, और मेरी समझ मे वह विकल्प ही महत्वपूर्ण है क्योकि वही राम सही रूप मे है, जिसमे उन्होने यह कहा था ।

"समर्पित हे यह
धनुष, वाण, खड्ग और शिरस्त्राण
मुझे ऐसी जय नही चाहिये
वाण-विद्ध पाखी-सा विवश
साम्राज्य नही चाहिए
मानव के रक्त पर पग धरती आती
सीता भी नही चाहिए
सीता भी नही ।"

वर्तमान के यथार्थ को विवशतापूर्वक स्वीकार करने के बावजूद राम आदर्शो की वैसाखियो के सहारे जी रहे है । हाँ, लक्ष्मण और हनुमान की दृष्टि वर्तमान के यथार्थ पर, उस क्षण पर टिकी हे जो आधुनिक वोध से सम्वद्ध है । हनुमान तो मानव की लघुता को नये ढग से व्याख्यायित करते है । लक्ष्मण लघु होकर भी कर्म को निरूपित करते है क्योकि लघुता मे भी कर्म करने 'सार्थक भावना' तो हो ही सकती हे । "किसी अदृश्य अघे हाथो की तुलना मे भी मनुष्य लघु हो सकता है, फिर की कर्म उसका स्वत्व हे और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सकल्पित वुद्धि और अपराजेय निष्ठा आवश्यक है । लक्ष्मण मे यह निष्ठा है, लघुमानव की अदम्य जिजीविषा हे ।

लक्ष्मण के चरित्र मे जो विश्वास की झलक है, उसकी पृष्ठभूमि मे जन-विश्वास की भावना निहित हे । राम विकल्पी है, लक्ष्मण सकल्पी । विभीषण के मन मे कही कोई दरार है, द्वन्द्व है जो लका पर होने वाले आक्रमण को लेकर है । कहना यही हे कि नरेश मेहता के इस काव्य मे पात्रो की स्थिति मानवीय हे, जिनमे विवेक है प्रश्न हे । यह कवि की एक ऐसी भावपूर्ण कलाकारी है, जिसमे वुद्धि और हृदय का सम्मिलन है। आधुनिक

जगदीश गुप्त

'हिमविद्ध'

जगदीश गुप्त नयी कविता के प्रतिष्ठापकों, सच्चे व्याख्याताओं और उसके सबसे करीबी कवियों में से हैं। 'नयी कविता' के सम्पादन और सर्जना के क्षणों में वे पूरी तरह प्रतिबद्ध लगते हैं। उनके 'नाव के पाँव' संग्रह में कवि की कल्पना और चित्रकला दोनों का संगम हुआ है। यही वजह है कि उसकी कविताएँ मन को कहीं गहरे छूती हैं। नयी कविता के भाव वोध से संपृक्त होकर भी कवि की प्रत्येक कविता में जो चित्रात्मक सौन्दर्य है, वह समूचे भाव जगत को अभिव्यक्ति देता जाना पड़ता है। 'शब्द-दंश' की कविताएँ कवि के ही शब्दों में 'अपने आपको पाने की प्रक्रिया है'। इन कविताओं में नयी कविता की कई विशेषताएँ एक साथ उजागर हुई है : असुन्दर में सौंदर्य की खोज, मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा लघिमा से महिमा की अभिव्यक्ति और यथार्थ अनुभूति के शब्द चित्र ! 'हिम विद्ध' का कवि भी नयी कविता का कवि है और यह सही है कि वह हिमानी प्रकृति से आसक्ति रखता हुआ भी नया है, उसको संवेदनाओं में नित्य प्रति भरते जाने वाले विम्ब उनके शिल्पगत परिपार्श्व को स्पष्ट करते हैं।

'हिम-विद्ध' प्रकृति-काव्य है। यह आकस्मिक नहीं है क्योंकि जगदीशजी के पास भावुक की कल्पना और चित्रकार का शिल्प है और इन दोनों से जो विम्ब वनते गये हैं, वे नयी कविता के प्रकृति काव्य में अद्भुत हैं और रेखांकित करने योग्य है। इससे पूर्व के संग्रहों में भी प्रकृति छवियों के जीवन्त

चित्र मिलते हैं। यहाँ प्रकृति उदात्त, विराट, पावन और कोमल-स्निग्ध-समृद्धि के भावों का संवहन करती है। इन कविताओं में हिमानी प्रकृति की आँखों देखी टटकी छवियों की अनुभूतिपरक प्रतीतियों के शब्द-बिम्ब है। इनमें कहीं प्रकृति की जड़ता में चेतनता का आभास है तो कहीं पवित्रता और मांगल्य भावों के बोलते बिम्ब हैं। यह तो सही है कि 'हिमविद्ध' का स्वर अन्य स्वरों से अलग है। एक ओर नयी कविता का यह परिप्रेक्ष्य है जिसमें आदमी की कराहट है, उसकी पीड़ा का दंश है, जीवन की विसंगतियों का फैलाव है और है भीड़ में खोते जाने पर भी अपने को पहचनवाने का लोभ या कहें आकांक्षा। हिमानी की प्रकृति से जुड़ते हुए गुप्त जी की आलोच्य कविताएँ एक ओर उनकी भावुक तन्मयता को उकेरती हैं तो दूसरी ओर उनके रीतिवादी और आधुनिक शिल्प के मेल को भी। इनके शिल्प में रीति कवियों के से रूपक है, उत्प्रेक्षाएँ व उपमाएँ है तो दूसरी और सर्वथा ताजे अछूते और मासूम अप्रस्तुतों का आत्मीय प्रयोग भी है। इन प्रकृति बिम्बों में ठंडापन कहीं नहीं है, सर्वत्र एक चेतनता का सर्द और उष्ण प्रवाह है :

१. 'दूध के अध उगे दाँत-सी
कोर हिमश्रृंग की
फूटी फिर
उस स्लेटी बादल की ओट से'

२. सारा आवेग-सिन्धु। पारे सा
इधर-उधर फिरता बहा-बहा।

३. जाने कब बादल की सीप ने
नभ के उस अँधियारे कोने तक
मोती सी चाँदनी उलीच दी

४. शिखरों पर टिके—
स्याह बादल की परछाँई —
आँखों में काजल सा पार गई

५ रूई के गालों से रुके हुए बादल।

६. आँख सी उजली धुली यह रात

७. ताँत सी बजउठी सारी चेतना

ग्रौर भी वहुत से ग्रप्रस्तुत हैं, विम्वोद्भावन में समर्थ पंक्तियाँ हैं जो कवि के सांस्कृतिक पक्ष को—सौन्दर्यमय मंगल पक्ष को उजागर करती हैं। उन कविताग्रों में एक मंत्रपूत पावनता है, एक ग्रनाघ्रात सौन्दर्य है ग्रौर ग्रचुम्वित ग्रनुभूतियाँ हैं। कहीं-कहीं रीतिवादी संदर्भ ने भी शिल्प को ग्रलंकृत किया है, किन्तु उससे कृत्रिमता का ग्राभास नहीं, शब्दों ग्रौर ग्रप्रस्तुतों की भीड़ में खोये भाव नहीं, सव कुछ सपाट ग्रौर प्रत्येक पंक्ति के साथ चेतना में उतरता गया है। दो ही उदाहरण काफी होंगे :

साँझ के सेंदुर लिये ग्राकाश में
मरक ग्राया क्षुधित वादल व्याल
लपलपाती दीर्घ विद्युत जीभ जिसकी
तुहिन शिखरों पर विसुध सोयी हुई
स्वप्न डूवी हर किरन को
चाट जाना चाहती है।

ग्रौर

वादलों की झील के उस पार
खिला शिखरों का कमलवन
भोर ने भर मूठ कुंकुम किरन-केसर
इस तरह फैंकी—
वनों के गहन पुरइन पात सारे रंग उठे।
ज्योति की वहुरंग, झिलमिल मछलियाँ
झील के तलहीन वादल नीर में
वहुत गहरे, वहुत गहरे तिर गयीं॥

कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि कवि हिमानी प्रकृति को देखकर भावुक हो उठा है, उसमें सांस्कृतिक संदर्भ विम्वित हो उठा है ग्रौर कवि ने सारे सौन्दर्य को ग्रपने निजी कंधों पर ढोया है—ग्राँखे वन्द करके तल्लीनता की मासूम मुद्रा में। कवि का प्रकृति के साथ हुग्रा यह सहचरण उसके राग-वोध का उद्वोधक है।

इसका अर्थ यह नहीं कि जगदीश जी यथार्थ से कतराकर हिमानी प्रकृति की छाया में अपने को खोजने गये हैं। वस्तुतः यथार्थ जगत् और मानवीय संवेदनाओं का एक जगत यह भी तो है। यह जीवन से पलायन नहीं यथार्थ संपृक्ति है जहाँ मन के सारे घाव, सारे दंश शीतलोपचार पाते हैं। यों भी जीवन में सभी कुछ व्यंग्य और विडम्बना तो नहीं है और न दुख व रिक्तता ही उसकी सम्पूर्णता के वाहक कहे जा सकते हैं। यों नये संदर्भ ने भी कवि को छुआ है। अन्तिम चार कविताएँ कवि के निजी संवेदना पक्ष के यथार्थ को भी व्यक्त करती हैं। कवि का स्वाभिमान, उसका चिन्तन और राष्ट्रीयता का संदर्भ इन कविताओं में मिलेगा। 'मैं वह क्यों नहीं हुआ' और स्वाभिमान का कथ्य इसी भूमिका पर है। जैसे जीवन का एक पक्ष वह है तो दूसरा पक्ष मानवीय-आस्था का पक्ष यह भी है जो 'हिम-विद्ध' में आकार पा सका है। इस दृष्टि से 'हिमविद्ध' नयी कविता के समस्त घावों और अभावों के ऊपर से गुजर जाता है, किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि यह कविता कहीं न कहीं, किसी विन्दु पर आस्था की ओर अग्रसर है। यदि आस्था की यह संवेदना जगदीशजी में हिमानी प्रकृति के माध्यम से व्यक्त होती है तो अज्ञेय में 'असाध्यवीणा' और 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' की शैली में। यों कमोवेश में यह संदर्भ सभी का है, मार्ग कोई भी हो, उससे फर्क नहीं पड़ता है। हिमानी प्रकृति को कालिदास से लेकर दिनकर तक ने देखा है, किन्तु दृष्टि और बोध का अन्तर स्पष्ट है। इसी प्रकार गुप्तजी की दृष्टि भी सवसे अलग और सवसे निराली है। इस दृष्टि में, इस विम्बांकन में नयी कविता की चेतना और उसका शिल्प प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मिल ही जाता है (एकाध कविता के आधार की बात अलग) दो उदाहरण देखिये :

१. 'पर्वतों के वीच वहती
नदी का आवेश जैसे
अश्रु वनकर विखरने से पूर्व, हड्डियों को ठकठकाता दर्द
रिक्तमन की घाटियों को चीर जाये।'

२. 'सरिता जल में
पैर डालकर आँखे मूँदे, शीश झुकाये,

सोच रही है कब से बादल ओढ़े घाटी
कितने तीखे अनुतापों को
आघातों को सहते-सहते जाने कैसे असह दर्द के बाद
बन गयी होगी पत्थर
इस रसमय धरती की माटी ।।'

आलोच्य संग्रह के प्रकृति बिम्ब अद्भुत हैं। ये कहीं अप्रस्तुतों के सहयोग से कहीं भावोत्तेजना से और कहीं दृश्य के प्रति दृष्टि की तन्मयता से आकार पाते रहे हैं। कितने ही अप्रस्तुत नवीन और अछूते होने के साथ-साथ जीवन के उदात्त और शुभ पक्ष को अभिव्यक्ति देते हैं। जगदीशजी का रंगबोध गहरा है। यही कारण है कि आलोच्य संग्रह में रंग और शब्द चित्र और कविता का गहरा सम्पर्क दिखाई देता है। खुशी की बात यह है कि कवि ने एक पुराने अंचल को लेकर भी जो कुछ दिया वह वही है जो है और जो था।

०००

भवानीप्रसाद मिश्र

'चकित है दुख'
'अँधेरी कविताएँ'
'गांधी पंचशती'
'बुनी हुई रस्सी'

भवानीप्रसाद मिश्र दूसरे सप्तक के कवि हैं। अब तक उनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'गीत फरोश' से लेकर 'बुनी हुई रस्सी तक' की कविता यात्रा एकसी नहीं रही है, फिर भी कुछेक बातें ऐसी हैं जो सदैव मिश्रजी के, उनकी कविता के, साथ लिपटी रही हैं : व्यंग्य, पीड़ा और आस्था। अँधेरे से निकलकर प्रकृति की खुली गोद में विचरते हुए अपने दायित्व को पहचानना, जिन्दगी को सही अर्थ देना और सबसे ऊपर द्विधात्मक धरातल को छोड़कर सम बिन्दु पर उपस्थित होने की भावना उनकी कविताओं में बार-बार आवृत्ति पाती रही है। 'जिस तरह तू बोलता है, उस तरह तू लिख' का सूत्र लेकर चलने वाला यह कवि शिल्प के क्षेत्र में किसी भी अतिवादी स्थिति का कायल नहीं रहा है। यही वह वजह है जो उनकी कविता को सपाटता, सरलता, प्रवाह और साहसिकता प्रदान करती है। गत दशक में प्रकाशित उनके कविता संग्रहों में उनकी उक्त विशेषताओं के अलावा जीवन के विषय में कही गई अनेक बातें मिलती हैं।

'चकित है दुख' ६५ कविताओं का संग्रह है : अधिकाँश सही व अर्थवान और कुछेक महज़ कविता के नाम पर लिखी गई कविताएँ। कवि की अगंभीर गंभीरता से कई बार कोई बड़ा तथ्य हाथ लगता है और कई बार हाथ खुले के खुले रह जाते हैं, मन पर मानों रिक्तता का बोझ आ पड़ता है। उनकी सहज और एकदम बोलचाल की शैली भी कई बार रिक्तता—पाठक और कवि के बीच

की दरार को भरने में असमर्थ सिद्ध होती है। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि 'चकित है दुख' का कवि सही संदर्भो का कवि नहीं है या उसके पास कथ्य की कमी और शिल्प की संश्लिष्टता नहीं है। ये दोनों तत्व उसके पास हैं, किन्तु कभी-कभी कथ्य और शैली इतनी दरिद्रता व्यक्त करते हैं कि सभी कुछ अर्थ-हीन या बेमानी लगता है। गनीमत यह है कि यह भाव और कथ्यगत दरिद्रता ज्यादा नहीं आ पाई है। वैसे यह संग्रह और अब तक का आखिरी संग्रह—दोनों संग्रह तो खासे अच्छे हैं। यहाँ जो भावना है, उसी की विस्तृति आगे के संग्रहों में देखी जा सकती है।

संग्रह की अच्छी कविताओं में—उन कविताओं में जिनमें व्यक्ति की आज की सही स्थिति, विडम्बना, अकेलेपन और उनसे ही मिलते-जुलते जीवन के छोटे और बड़े प्रश्न उभरे हैं, 'बेचारा वक्त', 'अदेय यह सपना', 'तटस्थ दर्शन', 'निरापद कोई नहीं', 'समय', 'अप्रस्तुत', 'कोई कहे', 'बिखरना', 'नहीं चाहिये', 'इसे जगाओ', 'स्मृति के तन', 'तटस्थ', 'अँधेरी हैं गलियाँ', 'अभि-व्यक्ति', 'पाँव और पंख', इस परिस्थिति को शब्द दो', 'हमारा भाग्य', 'भविष्य के बावजूद', 'खाली और खस्ता', 'मैं जड़ हो जाना चाहता हूँ', 'संक्रान्ति' और 'सुख का दुख' आदि कविताएँ प्रभावित करती हैं। ऐसा लगता है जैसे कवि जिन्दगी के सभी गली-गलियारों को नापता हुआ उसे कोई बड़ा अर्थ देने को उत्सुक है। इसी उत्सुकता की पूर्ति के लिए वह छोटी-छोटी बातों को इतनी गंभीरता दे देता है कि लगता है जैसे सारा अर्थ, सारी शक्ति उसी साधारणता या अगंभीरता में छिपी हुई है। मैंने जिन कविताओं का नाम लिया है उन सभी में कहीं न कहीं जीवन के किसी न किसी स्तर का, संदर्भ का और निरंतर चलते हुए एक क्रम का सिलसिलेवार वर्णन है। वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर कविताएँ कभी-कभी कोई बड़ी बात इतनी लापरवाही से कह देती हैं कि पाठक एकदम उस सत्य पर, उस कथन पर या कहें कथन की उस भंगिमा पर- विस्मित हो उठता है। हमारे खाली हाथों में किसी बड़ी चीज का अहसास होने लगता है, मस्तिष्क पर यकायक विचारों का बोझ आ पड़ता है। इस क्रम में कभी स्थिति का बिम्ब होता है, कभी अप्रस्तुत की नयी पहचान होती है, कभी व्यंग्य का बोध जगता है, कभी सम-सामयिक चिन्तन और जीवन का कोई पक्ष चुपके से जाहिर हो जाता है और कभी जिन्दगी की खींचा-तानी, व कशमकश सहजता और बौद्धिकता की संधिज रेखा पर आ खड़ी होती है।

संग्रह की कतिपय कविताओं में उदासी, एकान्त और अकेलेपन के चित्र हैं, किन्तु कवि दूसरे ही क्षण उनको रौंदता हुआ आशा और विश्वास से भर उठता है। मतलब यह है कि उदासी, अकेलापन और अपरिचय की अनुभूति उसे भी होती है, किन्तु वह जीवन का सत्य नहीं, आगे जाने का रास्ता नहीं और कोई मूल्य नहीं—मूल्यों का निषेध है। अतः वह जीवन को संघर्षमय मानता है। उसी से संघर्ष या युद्ध को स्वीकारता हुआ भी निष्ठा और साहसिक जीवन की वात करता है :

उठो इस एकान्त से दामन छुड़ाओ
महज़ इस शांति से
चलो उतर कर नीचे की सड़क पर
जहाँ जीवन सिमट कर वह रहा है
साहस की दिशा में।

एकान्त और अकेलापन शक्ति का ह्रास है, उदासी का पर्याय है। आज जबकि जिन्दगी कड़वी और तीखी हो गई है तो इस उदासी से क्या काम चलेगा? इसी से कवि तूफान के वीच गाने और हाट से घाट तक जाने की वात करता है। अपने को दूसरों के लिए खटाने से, समष्टि को जीने से ही आदमी की जिन्दगी है। इस जीने में आदमी 'तटस्थ और कूटस्थ' कैसा भी रहे उससे फर्क नहीं पड़ता है। जीवन सुख-दुख की मिली जुली छवियों का संग्रह है। जिन्दगी में आये उतार—चढ़ाव लौट-फेर और नित्य के झमेले ही जिन्दगी को सही अर्थ देते हैं। सार्थकता का विन्दु यहीं हैं। एक रस जिन्दगी जिसमें 'न फूल है', 'न काँटे' और न मेघों का छादन है, वेकार है। दर्द के विना कोई भी जिन्दगी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दर्द को सहना ही कोई वड़ा अर्थ दे सकता है : 'भेजो कोई वड़ा दर्द/ऐसा निरानंद सुख-दुख से अछूता/जीवन नहीं चाहिए/टूटने और विखरने की स्थिति एक सही स्थिति होकर भी हमें क्या दे पाती हैं? ऐसी हालत में टूटने-विखरने का जायजा लेते हुए भी जिन्दगी के संघर्ष, उसके झमेले ही कवि को सत्य लगते हैं—इनका मुकावला ही जागना है फिर इस जागने से ही तो वसन्त का सपना हम पर, हमारी जिन्दगी पर छा जा सकता है :

कि यह टूटना विखरना
कुछ नहीं है
झमेले में पड़ो!

जीवन संघर्ष है

लड़ो ! !

संघर्ष के पक्ष में कही हुई ऐसी उक्तियाँ साहित्य में बेशुमार मिल जायेंगी, किन्तु क्या उनमें इतनी सादगी और इतनी आत्मीयता की शैली भी मिल जायेगी ? शायद नहीं ! असल में मिश्रजी के पास कथ्य है और उसे वे बड़ी सादगी से जिस तरह महसूस करते हैं, वैसे ही कह देते हैं । बेकार का आडम्बर, बेमतलब का शब्द-जाल उनमें नहीं है । उनके शब्द उनसे छल नहीं करते और वे शब्दों से बलात्कार नहीं करते । सादगी पसंद आदमी यह कर भी कैसे सकता है ? मिश्रजी के चिन्तन में समय और जिन्दगी की अपूर्णता का विशेष हाथ है । वे बार-बार समय के बारे में सोचते हैं और बार-बार जिन्दगी का अछूतपन, व्यक्तित्व का विघटन और विभाजन उन्हें कचौटता है । इस दंश को वे सह नहीं पाते हैं । उन्हें सारी जिन्दगी और सारी इन्सानियत क्रूरता और सदोपता का विज्ञापन लगती है । इसी से वे कहते हैं :

निरापद कोई नहीं है

न तुम, न मैं न वे

सबके पीछे बँधी है दुम आसक्ति की !

समय का आयाम बहुत चौड़ा है, उसमें सभी कुछ समा जाता है । जिन्दगी के चिन्तन और सारी खामियों व अच्छाइयों को वह अपने में भर लेता है । 'समय' नामक कविता का कथ्य यही है । इसके साथ ही 'बेचारा वक्त' कविता की गंभीरता देखने योग्य है । जिन्दगी की सारी घटनाओं का जिम्मेदार 'वक्त' उस आदमी को, जो स्वयं दागिल है, पाशित है और जिसकी तर्कणा भौथरी हो गई है उसे, 'बुखार में करवटें बदलता हुआ बेचारा लगे' तो इसे उसकी ईमानदारी का पहला और बड़ा सबूत मानना चाहिए । इसी प्रकार हमारी, हमारे देश की तटस्थ मनोवृत्ति पर भी कवि सोचता है । उसकी दृष्टि में तटस्थता एक विडम्बना है जो हमें कमजोर और कायर तो बनाती ही है, जिन्दगी के रेले से दूर निष्क्रियता और मुर्दनी की स्थिति में ले जाकर छोड़ देती है । आजादी के बाद का हमारा इतिहास तटस्थता की शर्मनाम उपलब्धि है । किनारे बैठकर जिन्दगी का मज़ा लेना, उसमें कोई हिस्सा न बँटाना अपने ऊपर से सब कुछ को यों ही—बिना भोगे, गुजर जाने देना है ।

ऐसे में प्रगति और उन्नति की बात का अर्थ कितना पोला और थोथा रह जाता है ? यह समझने की बात है। इसी से कवि को कहना पड़ा है :

तटस्थ होने लायक कमजोर
तुम अभी नहीं हुए !
लहरें गिनने के दिन भी आ सकते है
तटस्थता की तुम्हारे मन पर कैसी बुरी धाक है !
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर।

क्योंकि :

समष्टि को जीने से सहने से
जीता है आदमी।
अकेला तो सूरज भी नहीं है
उससे ज्यादा अकेलापन तुम चाहोगे ?
मृत्यु तक तटस्थता निवाहोगे ?

कुछेक संदर्भो में कवि अकेलेपन और अजनबीयत की स्थितियों के विम्ब भी देता है, किन्तु वैसे ही जैसे अँधेरे में कहीं कोई किरण चमक कर छिप जाये। 'संभव है 'कभी नहीं' और 'यह पगडंडी' ऐसी ही कविताएँ हैं। कवि का पूरा जोर उठकर जिन्दगी झेलने पर है, उठकर जागने और सही वक्त पर सही काम करने पर है। अँधेरी हैं गलियाँ, इसे जगाओ और 'उठो' कविताओं की मूल चेतना यही है। ये कुछ उदाहरण हैं जो मैंने दिये हैं। वर्तमान जिन्दगी की व्यस्तता, महानगरों की सभ्यता और स्थिति व मध्यवर्गीय मनुष्य की जटिलता और निरन्तर जड़ होती जिन्दगी के खौफ़नाक संदर्भ भी मिश्रजी की कविताओं में मिलते हैं। 'अप्रस्तुत' कविता यदि वर्तमान जीवन के व्यस्तता-बोध को रेखांकित करती है तो 'दुर्घटना- कविता में जटिलता और अँधेरे में दौड़ती जिन्दगी का चित्र है। उजाला हमारी सारी गतिविधियों को उजागर करता है और अँधेरे में, उसके सन्नाटे में आदमी के चाहे-अनचाहे संपर्क और क्रम कैसे चुपचाप घटित होते हैं, यही इस कविता का स्वर है। 'मैं जड़ हो जाना चाहता हूँ' कविता में कवि ईमानदार और सही स्थिति को सामने रखता है। चेतना का यही अर्थ हो गया है और आज का इन्सान चेतना का जो अर्थ समझता है वह जड़ता का ही, हमारे भीतर ही भीतर रिक्त होते जाने का ही पर्याय बन गया है :

चेतना का मतलब है पैदा होओ मरो
चेतना का मतलब है हँसो, रोओ, डरो
चेतना का मतलब है क्रोध करो, घृणा करो
चेतना का मतलब है हिलो मिलो विरोध करो
झूठ-मूठ प्यार करो झूठ-मूठ शरम करो
झूठ-मूठ सत्य कहो झूठ-मूठ धरम करो ।

इस कविता मे जीवन की विविध स्थितियों पर किया गया व्यंग्य बड़ा तीखा है । इसमे आज के इन्सान की विकृति, बनावटीपन, शोषण और स्वार्थी वृत्ति पर व्यग्य है । एक शब्द मे आज हम इन्ही सदर्भो मे चेतन है । चेतना का सही अर्थ—मानव मूल्यो की स्थापना वाला अर्थ हमारे हाथ से छूटकर जिन्दगी की रेल-पेल मे कही गिर गया है । हम उस छूटे हुए अर्थ को न तो पाने की कामना से व्याकुल है और न सही अर्थो मे चेतन बने रहना चाहते हैं । यह जड़ता ही है । इसी से घबराकर कवि कहता है :

मुझे चेतना से घबराहट होती है :
मैं जड़ हो जाना चाहता हूँ
सच कहो तो सब जड़ हो जाना चाहते है ।

ऐसे संदर्भो मे जीते हुए, जिन्दगी का क्या अर्थ रह गया है—सिर्फ मजाक न ! 'सच कितना भी मजा दे'/'झूठ के आगे आधा है'/कहकर कवि जिस स्थिति और आज की मानवीय नियति को साफ़ जबान में कहता चलता है, वही उसकी गंभीरता और बौद्धिकता भी स्पष्ट हो जाती है, व्यंग्य भाव स्पष्ट हो जाता है और मानवीय नियति भी, उसकी विवशता भी :

जिन्दगी एक बड़ा मजाक है
मगर जिसने किया है यह मज़ाक
ठीक मज़ा भी उसी को आ रहा होगा ।
हम मजाक खाके कराह रहे है
वह मज़ाक करके गा रहा होगा ।

ऐसी ही कविताओं में कवि कभी-कभी गंभीर बात कहत-कहते एकदम अगभीर बात भी कहता गया है । यह गंभीर की अगंभीरता और अगंभीर की गभीरता मिश्रजी को विशेष प्रिय है :

कोई है कोई है जिसकी जिन्दगी दूध की धोई है ।
दूध किसी का धोबी नही है, हो तो भी नही है ।

संग्रह में कहीं-कहीं उपदेश का सा स्वर भी है। कहीं-कहीं आदेशात्मक स्वर भी है, किन्तु विरल और अकेला। 'साँसों को सम करो/नम मत करो आँखें/सब जैसा करते हैं/वैसा करो/इस कदर अकेले मत मरो'/। इन्हीं स्थलों पर कवि गायब हो गया है, उसका उपदेशक–आदेशक हावी हो गया है। फलत: ऐसे स्थलों पर निराशा होती है। गनीमत है ये स्थल खोजने पर ही मिले। बौद्धिकता और संयम तथा चिन्तन के बाद के कतिपय निष्कर्ष भले लगते हैं :

घबरा कर भागना अलग है
क्षिप्र गति अलग है
क्षिप्र तो वह है
जो सही क्षण में सजग है (इसे जगाओ)

गाँधी पंचशती :

कवि का बड़ा संग्रह है। नाम से ही साफ़ हो जाता है कि इसमें जिन कविताओं को स्थान मिला है, वे गाँधी से सम्बन्धित हैं, उनके विचारों और कर्मों की उस शृंखला का लिपिबद्ध काव्यात्मक इतिहास हैं जिन्हें वे अपनी छोटी सी जिन्दगी में बड़े कामों के रूप में दिखाते रहे। उसकी अधिकांश कविताएँ गाँधी के विचारों का काव्य-संदर्भ लिये हुए हैं। आज हम और हमारा देश जिस विस्फोटक बिन्दु पर, जिस गहरी खाई के मुहाने पर खड़ा है, वहाँ बड़ा खतरा है और खतरा ही क्यों एक भीषण मौत नाच रही है। इस तरह उस खतरे से सावधान रहना ही काफ़ी नहीं है, कुछ ठोस समाधान जरूरी है। गाँधी का व्यक्तित्व उस खतरे को भाँप गया था तभी तो उस लँगोटीधारी ने नंगे बदन रहकर भी जो बातें कहीं उनका नशा समूचे देश पर छा गया। पर सभी जानते हैं कि नशा तो गहरा होकर भी हल्का और क्षणजीवी होता है। आजादी पाने का एक नशा था, पा लेने पर खुशियाँ मनाने का एक और नशा भी था और आज हम आजादी के पच्चीस वर्ष बाद तक उस नशे में नहीं आ सके जिससे मानवता की प्रतिष्ठा हो सकती है। मानवीय अस्तित्व का वह खौफनाक खतरा टल जाता जो पिछले वर्षों से हमारे ऊपर मँडराता रहा है, तो मानवता बनी रह सकती थी। सह-अस्तित्व, साथ-साथ जीने-मरने, प्रेम भाव का विकास और सही अर्थों में लोकतंत्र का विकास आज तक नहीं हो सका। क्यों ? इसका उत्तर कई तरह से इन

कविताओं में मौजूद है : कभी व्यंग्य से, कभी सीधे थप्पड़ मारने की शैली है और कहीं मक्खन की तरह मुँह में घुलती जाने वाली या कहें कि चिकनाई पैदा करने वाली शैली में। आक्रोश और धुँआधार व्यक्तियों की शैली से ये कविताएँ कोसों दूर हैं।

गांधी के सिद्धांतों के ही अनुरूप ये कविताएँ घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और कटुता को छाँटती हुई निर्भय और समंजस जीने की ओर बढ़ती हैं। इनमें व्यक्ति का अकेलापन नहीं समाज की सहअस्तित्व और करुणा वाली भावनाओं का व्यापक संदर्भ है : 'इनमें मेरा कुछ नहीं, सिर्फ मेरा होने से इतने बड़े देश और इतनी बड़ी दुनियाँ का क्या बनेगा ?' गांधी ने कर्म को जिस तरह महत्व दिया उसी तरह कवि ने कहा है :

'खून को रगों में काम बनकर दौड़ता रास आ जाये।
तो बेशक बंजर हर इंच धरती पर चट्टान पर परती पर
मधुमास आ जाये !'[१]

पर हम ऐसा कहाँ करते हैं ? हम तो परस्पर निराशा के बीज़ बोते हुए अपने वर्तमान और भविष्य दोनों को नष्ट किये दे रहे हैं। हममें जड़ता की गर्द भरती जा रही है। फलतः

'पत्थरों से भरे बोरों की तरह हम हो गये हैं भारी
और खुलें अगर तो सिर्फ चोट पहुँचायें।'[२]

संसार में नित्य होती हुई उथल-पुथल का कोई भी उत्तर शासकों के पास नहीं है, फिर जनता इसका क्या उत्तर दे ? सभी अपनी-अपनी धुन में, अपने में सिमटे हुए मर-खप रहे हैं। सत्य का मुँह काला हो गया है, झूँठ का बोलबाला है। ऊपर से नीचे तक इस प्रश्न पर सभी चुप हैं। गांधी की मान्यताओं को हमने जिस अधूरेपन से सहेजा उसी तरह सहेजे हुए को भी पूरे मन से छोड़ दिया है। जिन्दगी की आपाधापी का अर्थ और सारे प्रश्नों के वाजिव उत्तर सबके पास हैं, किन्तु सब दायित्व से कतराते हैं—परिस्थिति का मुकाबला करने को तैयार नहीं हैं। आज तो गांधी के देश का आदमी यही कहता पाया जाता है :

---

१. गांधी पंचशती : पृष्ठ ३५८
२. वही, पृष्ठ ३५०

'जबाब मेरे पास सब बातों का है
मगर मैं उत्तर क्यों दूँ ?
मैं उत्तरदायी जो नहीं हूँ ।'[१]

आज हमारे देश की जो हालत है और आदमी जो गैरजिम्मेदाराना हरकत करता है उसकी व्यंजना कितनी बेलाग और सपाट है। व्यंग्य भी विनोद भी और गंभीर को अगंभीर बनाकर कहने की प्रवृत्ति सभी कुछ तो है यहाँ। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'गांधी पंचशती' हो या 'चकित है दुख' हो सब जगह मिश्रजी का अपना रंग है और वह फीका नहीं है। इतनी सरलता से, इतनी बेपर्दगी से इतनी बड़ी बात जिसमें देश की मनोवृत्ति का पूरा बिम्ब उभर आये, कहाँ मिलेगी ? इसी तरह आज़ादी के बाद हमारे देश में जिस निर्भयता का विकास हुआ है, वह ओछी निर्भयता है। उसकी परिधि सीमित है, उसके अर्थ अधूरे और अपने पक्ष को ही प्रस्तुत करने वाले हैं। आजाद होने का हमने जो हीन अर्थ लिया है, वह हमारे व्यक्तित्व के ह्रास और एक अर्थ में देश की टूटन का प्रतीक है। 'गांधी पंचशती' में इस ह्रास, टूटन और ओछी निर्भयता, गलित मूल्यान्वेषण और असहयोग की भावनाओं पर कवि ने काफ़ी अच्छे व्यंग्य किये हैं। एक जगह कवि कहता है :

'किसी से मत डरो का मतलब बेधड़क चोरी करो नहीं है
करो या मरो का मतलब मारो या मरो नहीं है।'[२]

संग्रह बड़ा है, उसका कथ्य गांधी तक ही सीमित नहीं है, वह गांधी के देश, उसके हर इन्सान और जिन्दगी के हर कार्यकलाप से जुड़ा हुआ है। मिश्रजी ने 'गांधी' के बहाने या कहें एक साथ ही दो पुलों को पार किया है : एक तो गांधी की स्तुति और उनके सिद्धान्तों की प्रस्तुति का पुल है और दूसरा गाँधी के देश; उसकी जनता के—उस जनता के जो आज़ादी में जी रही है, कार्यों व मनस्थितियों के ईंट-गारे से बना पुल है। लेकिन उल्लेखनीय यह है कि दोनों पुल दूर-दूर नहीं है : एक से दूसरे तक जाने का साधन भी उसने जुटा दिया है या कहें स्वयं जुट गया है। आज के इन्सान की मन:स्थिति का, उसकी दुविधा का यह बिम्ब देखिये :

---

१. गाधी पचशती : पृष्ठ २६६
२. वही, पृष्ठ ३१३

'जीवन भर लम्बी शाम
न तकलीफ़ है न सुविधा है। हर क्षण एक दुविधा है
न गा पाता हूँ खोलकर कंठ न रो पाता हूँ खोल कर प्राण।
एक साथ है मेरे मन में सूरज का शोर और तारे की चुप्पी।''[1]

संक्षेप में—बड़े संग्रह की बात संक्षेप में, यही है कि इसमें एक व्यक्ति के माध्यम से, सारे देश को उसकी खामियों और अच्छाइयों के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह संग्रह पूरे देश का इतिहास भी है और भूगोल भी।

अँधेरी कविताएँ :

'चकित है दुःख' की कविताएँ पढ़ने से कवि के कृतित्व के सम्बन्ध में जो आशा का बिम्ब बनता है वह 'अँधेरी कविताओं' के अँधेरे में खोता हुआ छिन्न-भिन्न हो गया लगता है। यह तो ठीक है कि कवि ने अपने पहले की शिल्प सीमा को तोड़ने की कोशिश की है और वह दीन दुनियाँ की खबर रखता हुआ निराशा और उदासी भी झेलता है। अपने व्यक्तित्व को दूसरे ही धरातल पर देखता है और 'सातवें मौसम' की तलाश करता है, नयी देह धारण करता है। इतना ही क्यों उसे प्रकृति का सौन्दर्य भी बेकार मालूम होता है। जिन्दगी की तेज धार पर चलते हुए मिठास और सुख उसे रास नहीं आते हैं। संग्रह की आधी से ज्यादा कविताएँ ऐसी हैं जिनमें एक ही बात भिन्न-भिन्न कोणों से कही गई है। यहाँ तक भी ठीक है, किन्तु जब कवि किसी नये मनोभाव का या किसी स्थिति विशेष को अंकित करते-करते बीच-बीच में पाठकों को सावधान करता चलता है—ये अँधेरे की कविताएँ हैं, इनमें मेरी उदासी है, सुख और उल्लास कहीं रहे ही नहीं है, सब कुछ समाप्त हो गया है आदि आदि तब लगता है कि कवि उदासी और अकेलेपन को ओढ़ रहा है—ठीक उस अधूरी चादर की तरह जिससे बदन ढकने की कोशिश में वह और उघड़ता जाता है। वह कहता तो यह है कि अब जिन्दगी में शून्यता और आवाक् रहने की स्थिति आ गई है, किन्तु उसके पीछे जो भाव हैं, पृष्ठभूमि में जो हल्कापन है उससे वह अनुभूत स्थिति नहीं लगती है :

अवाक् देखने की
देखते रहने की घड़ियाँ

१. गांधी पंचशती पृष्ठ ३२०

मगर जब आ गयी है
तब वह बतायेंगे करके
लगभग चुप्पी गायेंगे
भर देंगे हम शोर के ऊपर सूनापन
दूना मन कर देंगे हम शोर के ऊपर सूनापन....

अथवा

और और की मगर लीला ऐसी
कि अब नहीं फबता
काले के सिवा कुछ

स्पष्ट ही कविताओं में जो एकांत सूनापन है, निराशा की कालिमा है वह हृदय से फूटी हुई कम है, वर्तमान संदर्भों में उसे विज्ञापित करने का भाव ज्यादा है। यों कहीं-कहीं उदासी, अकेलेपन की स्थिति, पीड़ा की अनुभूति आत्मीय भी है, पर ऐसे स्थल उँगलियों पर गिने जाने योग्य हैं। ऐसा लगता है कि इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ हड़बड़ी की कविताएँ हैं, वे जल्दी-जल्दी एक रौ में लिखी गई हैं। यही वजह है कि उनमें भाव और शिल्प की अन्विति नहीं है। वे उखड़ी हुई हैं, उनमें उतरे हुए छिलकों का सा सूखापन है। जहाँ कहीं शून्यता, उदासी और अकेलापन अनुभूत है वहाँ वह प्रभावित करता है। जो मन कभी शरीर के लिए रथ था, वही जब टूट जाता है, मनोरथ भग्न हो जाते हैं तो : 'अँधेरा घिरता है/मेरा मन डाल के टूटे पत्ते सा/नीचे गिरता है/और आवाज सुनता हूँ मैं/डाल से अपने टूटने की'। ऐसी स्थिति में सब कुछ समाप्त न होने पर भी सब कुछ बीता हुआ, खाली-खाली लगता है :

नसें तो नसें/हड्डियों तक में धड़कता लगता है/
मुझे अपना दिल/
हर क्षण लगता है/
समाप्त तो हुआ नहीं है सब कुछ/
मगर समाप्त होता जरूर चला जा रहा है/

अथवा

और फिर अँधेरा घिर गया
मेरा यह ख्याल/उस घने अँधेरे में
कहीं गिर गया/और अब ढूँढे नहीं मिल रहा है

आँगन से आसमान तक/
सन्नाटे की तरह/स्तब्ध हो गये हैं
बुद्धि के पंख मन के आकाश में/
बहुत ऊपर उठकर/मँडरा रहा है मेरा अस्तित्व/

संग्रह में कई कविताएँ ऐसी हैं जिनमें अँधेरे से, घुटन से निकलकर और मौत से जूझते रहने पर भी अकेलेपन और उदासी को काटते हुए आस्था की ओर जाने का संकेत मिलता है। 'चिनगारी जिन्दगी है/ज्वाला मौत है/मैं अपनी ज्वाला से तंग हूँ/तुम तक आ रहा हूँ/' :

'तुम मुझे एक कण शक्ति एक क्षण चिनगारी
एक किरण कल्पना एक कंपन नये अंकुर का देना'

निश्चय ही कवि को दो 'मृत्युंजय शब्दों' का बल है तभी तो उसे इतनी अकेली और अँधेरी जिन्दगी में भी 'काश-कुश कुछ नहीं' 'गड़ते गड़ाये' की भावना का बल है। जिन्दगी कैसी भी हो, उस पर कवि की निष्ठा गहरी है। यही कारण है कि जब किसी पक्षी की तरह हँसी वन में उड़ती रहती है और नीली नदियों की खुली अँजुली में जब फूल झरते हैं तब एकाकी क्षणों में भी उसे ऊब और उदासी हास्यास्पद प्रतीत होती है। संघर्षों के बीच से रास्ता खोजने वाले मिश्रजी का यही स्वर वास्तविक स्वर है। ऐसे ही स्थलों पर उनकी अभिव्यक्ति सशक्त और कथ्य विश्वसनीय लगता है :

'खिसलता रहता हूँ मैं/दीवार पर टँगा-टँगा/
ऊपर के काँच से नीचे के काँच में/
ताकत देता है फिर भी/
अधूरे इस चाँद के डूबने का दृश्य/
हास्यास्पद लगता है/अपने ऊबने का दृश्य

यह आस्था, यह हिम्मत और यह संदर्भ टूटने के बीच से उभरा है। इसमें शक्ति है, उदासी से बाहर आने की छटपटाहट है और है जिजीविषा। इस तरह की पंक्तियाँ संग्रह की कविताओं में जगह-जगह नत्थी की हुई हैं। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि उदासी और अकेलापन बेमानी है, उसका भी अर्थ है और गहरा अर्थ है, पर न जाने क्यों मिश्रजी की उदासी कई जगह उनके अन्तस् की छवि नहीं लगती है। यों संग्रह की कई कविताओं में मुक्ति का आभास है, खुलापन है और अँधेरे से बाहर आने का भाव है। 'रोना इसी का

है' कविता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है : 'क्यों नहीं रह सकते हम/परस्पर फूल और आकाश की तरह'/ । या फिर 'पाने और खोने की प्रक्रिया से/उदासीन हो चुका हूँ मैं'/ 'अव मैं/न कोई क्षण पाना चाहता हूँ/न खोना/' का असम्पृक्त भाव कवि की प्रौढ़ता को व्यक्त करता है। यह असम्पृक्तता वोध खुलेपन का ही दूसरा रूप है।

मिश्र जी ने 'दर्द में हमेशा ही कोई वड़ा अर्थ पाया है। इस संग्रह में भी दर्द की पहचान है, किन्तु वह कवि को तोड़ नहीं देती, वल्कि जिन्दगी जीने की अनथक शक्ति देती है। दर्द की अनुभूतियों का संकेत भी यहाँ निराशा का संकेत नहीं है, वह तो आशा के तन्तुओं के सहारे खड़ा है—खड़ा हुआ है। उनका दर्द उनका सहचर वनकर उनसे ही अपना परिचय देता है :

'तुम सिर्फ मुझे पकड़े रहो—
मैं जो न आकाश न नीड़
न आशा न निराशा
मैं जो घन हूँ/जो शुद्ध अँधेरे का वना हूँ/ ।'

यह अँधेरा, ये आँसू ही किसी नयी तस्वीर की शुरुआत होते हैं :

'तंग गलियों की वदवू/और अँधेरे को
इकट्ठा कर रहा है वह/मेरी किसी नयी तस्वीर के लिए ।'

इसके अतिरिक्त संग्रह में जिस मुक्ति और खुलेपन के भाव हैं, उन्हीं से सम्बद्ध निर्द्वन्द्वता का भाव, अपने पाये हुए में संतुष्टि का और जो हो जाय वह ठीक, जो न हो वह भी ठीक का भाव भी कई जगह ठीक उभरा है। यह ठीक भी है क्योंकि लालसाएँ या पूरे वनने की हर कोशिश अधूरे वने रहने की अनिवार्य शुरूआत है :

'अधूरी सी कोशिशों से/
सांगोपांग की जिद/किसी को कुछ नहीं करने देती/'

'अँधेरी कविताएँ' एक विशिष्ट मनःस्थिति से घिरी कविताएँ वताई गई हैं। इससे यही जाहिर होता है कि कवि ने इन कविताओं में पहले मनः-स्थिति का निर्माण किया है—ऐसी कविताएँ लिखने के लिए, और फिर कविता का। वस्तुतः यह कथन कितना हास्यास्पद है। प्रकाशकीय वक्तव्य या प्रच्छन्न रूप से कवि के ही वक्तव्य का यह अंश 'एक विशिष्ट मनःस्थिति से घिरे रहकर लिखी गयी अँधेरी कविताएँ' सिद्ध करता है कि ये कविताएँ मनः

स्थितियों की नहीं है। कवि ने ऐसी कविताओं के सृजन के लिए सप्रयास ऐसी मन.स्थिति का निर्माण किया और वाद में कविता का! मैं समझता हूँ कविताओं की मन.स्थिति ही सच्ची होती है क्योंकि तभी कवि की अनुभूतियों में खरापन आ सकता है। मनःस्थिति वनाकर लिखी गई कविता अन्वितिहीन और अप्रभावक होती है। एक वात अच्छी है कि इस संग्रह में वीच-वीच में वचकानी या हल्की पंक्तियाँ नही है जैसी कि पिछले संग्रह में मिलती है: गंभीर के वीच चलती हुई बात यहाँ नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं तुक की जिद से कुछेक पंक्तियाँ विचारशून्य लगती है:

तुम्हारी कला ठण्डी है।
मैं उसके पास भी नहीं फटक सकता।
क्योंकि मेरे पास/न कमीज है न वंडी है।

जहाँ तक संग्रह की वौद्धिकता का प्रश्न है, वैचारिकता का प्रश्न है, इसमे कवि ने कोशिश की है कि वह सपनों के रंगमहल से वाहर आये, सौन्दर्य की परिधि को तोडे और सही वौद्धिकता और विचारणा की ओर वढ़े। कतिपय कविताओं में 'यह कोशिश मृत्यु, दुख और समय या काल जैसे विपयों पर सोचते हुए जाहिर भी होती हे। सग्रह में 'समय वोध' काफी फैला हुआ हे। समय की निरन्तरता, उसके विविध आयाम, उसकी गति, मूल्यवत्ता, निर्मायिका क्षमता और व्यक्ति के रूप में चित्रित स्थितियों का अंकन कई कविताओं में है।' जितनी देर तुम हो/उतनी देर समय है/निर्माण है पूर्णता है/ शाति है/' जैसे कथन कवि के मंतव्य के स्पप्टीकरण के लिए काफ़ी है। कुछेक कविताओं में मृत्यु की अनिवार्यता और विनाशकारी क्षमता भी संकेतित है। 'काल पुरुप' ऐसी ही रचना है जिसमे काल की सव कुछ को समाप्त करने और नये वीजों के रूप में नव-निर्माण की क्षमता को देखा जा सकता है। यह काल ही तो है जिसमें 'सव कुछ समा जाता है' और यही वह है जो 'बीजों को वदलता है/वृक्षों मे/वृक्षों को वीजों मे'/इसके अतिरिक्त कवि ने अपनी वौद्धिक चेतना या आधुनिक भावना को संग्रह के आखिर की कई कविताओं में यह कहकर व्यक्त किया है कि 'अव जिन्दगी की कशमकश मे तेज रफ्तार में सौन्दर्य; मिठास और सपनों की दुनियाँ खो गई है; अव न तो सौन्दर्य लुभाता है और न ऋतुएँ मन को बाँध पाती है। यही भाव कई जगह कई शैलियों मे आया है जैसे कवि अपने यथार्थवादी होने का ढ़िंढोरा पीट रहा हो या यह वता रहा हो कि मै वुद्धिवादी हूँ कोरी कल्पना या चमत्कारवादिता मुझे प्रिय

नहीं है : कथ्य तो ठीक है, किन्तु बार बार कहे जाने से उसका मूल्य कम हो गया है : 'पहले सुख देते थे दृश्य ये/अब नहीं देते सुख/सौन्दर्य अब/राशि-राशि सहन नहीं होता/एकाध किरण सूरज एकाध फूल पौधा/या ज्यादा मिठास कोई/रास नहीं आती अब/' और भी देखिये ।

१. 'खूबसूरती के पुजारी/फूलों से बिधे मन
फिलहाल मुझे न पड़ें ।'

२. 'अब तो ज़्यादातर मैं कहीं/मौसम कहीं होता है/
न मैं पीछे फिरता हूँ/उसके न रोता हूँ उसके लिए/
हमने एक दूसरे को/गया गुजरा मान लिया है/
या कहो उन्होंने मेरा/मैंने उनका सब कुछ जान लिया है/'

निरर्थकता और कुछ न होने पर भी कुछ की अनुभूति व आधुनिक समाज की व्यस्तता पर भी इस संग्रह में कविताएँ है । यही कारण है कि कवि आहटें लेता है उसकी, प्रतीक्षा करता है जो नहीं है । 'नाम का सूरज' व्यस्तता की व्यंजना करती हुई : 'शाम से शाम तक/याद नही आता है तुम्हारा नाम तक/ऐसा उलझ गया हूँ/तुम्हारे नाम का सूरज/मेरे अनुभव की किसी शाम में भी नहीं ढ़लेगा/ ।' की रिक्तता मे 'जाकर समाप्त हो जाती है । संग्रह की आखिरी कविता 'संग्रह के ख़िलाफ़' बहुत अच्छी रचना है । सच तो यह है कि वही संग्रह में निरूपित अनुभूतियों के पक्ष में है । कवि की जो मनःस्थिति उसमें है, वह चारों ओर से अपने को समेट कर एक स्थान पर एक बिन्दु पर केन्द्रित करने की है, किन्तु बाहरी परिवेश का दबाव इसके खिलाफ़ है । कवि इसी दबाव को सहता हुआ यह कहने की विवशता को महसूस करता है :

'हवा और कुत्ते और बूढ़ा आदमी
बत्ती और लैम्पपोस्ट
सब मानो मेरे संग्रह के खिलाफ है
जी नहीं होता इस सबके बीच
लिखते रहने का ।'

उचाट और रिक्तता बोध की व्यंजक ये पंक्तियाँ हवा, कुत्ते और बूढ़े आदमी आदि के प्रतीक से और भी आकर्षक बन गई है । कुल मिलाकर मुझे तो ऐसा लगता है कि इस सग्रह की आधी कविताएँ ही तथ्यार्थ बोधक कविताएँ है, शेष मे एक ही वृत्त है, एक ही स्थिति के अलग-अलग शैलियो मे

दिये गये चित्र हैं। रिपीटीशन, कृत्रिम अकेलापन और आदेशात्मक स्वर से अच्छी कविताएँ भी छिप गई हैं। हाँ भाषा की सहज आत्मीयता व बोलचाल का रूप और प्रतीकों का चुनाव औचित्यपूर्ण और प्रभावशाली है। शब्द और अर्थ दोनों में एक सामंजस्य मिलता है। कथ्य की दृष्टि से एकाध संदर्भ ही नये हैं, ज्यादातर 'चकित है दुख' के ही प्रतिरूपक हैं।

बुनी हुई रस्सी :

'बुनी हुई रस्सी' मिश्रजी का ताजा संग्रह है—इसका मतलब यह नहीं कि वह 'ताजी कविता' का संग्रह है, फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि वह उनका सबसे अच्छा संग्रह है। इसकी कविताएँ जिन्दगी के कितने ही 'डिफरेन्ट मूडस' की प्रतिच्छवियाँ हैं। इसे कई बार पढ़ गया और हर बार एक ताजगी हर बार एक आत्मीयता और हर पल एक भरे पूरेपन के अकेलेपन का अहसास होता रहा। कुछेक कविताएँ पढ़कर तो ऐसा लगा कि कविता कहीं भीतर ही भीतर मुझमें चल रही है—दुहर रही है लगातार मेरी ही आवाज़ में ! कविता का सही चेहरा—सही स्वर और ठीक-ठीक अन्दाज ही यह है कि पाठक को लगे कि वह जो कविता पढ़ रहा है, वह उसकी या उस जैसों की ही है। 'बुनी हुई रस्सी' में जिन्दगी के कितने ही तीखे-मीठे और तेज-तर्राट अनुभव सँजोये हुए हैं। हर अनुभव की प्रामाणिकता की गवाही कविता में ही मौजूद है। अकेलेपन की ये अनुभूतियाँ कितनों को अपने साथ ले आई हैं और कितनों में हर वक्त हर पल आती जाती रहती हैं ? 'चकित है दुख' के बाद यदि यही संग्रह होता तो ठीक था यानी कवि के चिन्तन-क्रम को समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

सबसे पहले इसके शिल्प के बारे में। भवानीप्रसाद जी की भाषा में एक सहज आत्मीयता, एक अनिवार्य परिचितता और एक साहसिक सफाई मिलती है। कहने का ढंग कुछ इतना खास है, इतना निश्छद्म है कि वह उनकी विशिष्टता ही बन गया है। यह साधारणता और यह सपाटबयानी बिल्कुल नये कवियों की विशेषता है, किन्तु मिश्रजी तो साफगोई के साथ ही मासूम आत्मीयता भी लिये हुए हैं। कभी तो वे छोटी सी बात को इतने अहम ढंग से कहते हैं कि उसमें वजन आ जाता है और कभी अहम बात को भी इतने आम ढंग से कहते है कि वह अहम भी बनी रहती और सबका ध्यान भी खींच लेती है। शैली का यह खुलापन और बेपदर्गी कविता की नस-नस में भरी हुई है। उसमें कहीं बिखराव नहीं, कहीं व्यर्थ का फैलाव नहीं। सब कुछ नपा-तुला; न राई—रत्ती कम न ज्यादा। शब्दों साथ के खिलवाड़ यहाँ

नहीं/अर्थ की खींचतान यहाँ नहीं और तो और अनुभूतियों का बनावटी मुखौटा भी यहाँ नहीं। इस संग्रह की कविताओं में भाव और शैली की अन्विति पूरी और बुनी हुई रस्सी की तरह है, न कहीं गाँठ, न कहीं फाँस ! प्रतीक और अप्रस्तुत इतने नज़दीकी और दुरुस्त कि उलझाव नहीं, अर्थ में द्वार तक जाने के लिए कोई दीवार नहीं, कोई खाई-खड्ड नहीं। सब कुछ खुला व मुक्त, किन्तु अन्विति और संदर्भपूर्ण। शब्द इतने बातूनी हैं कि कविता की पंक्तियों पर बैठकर खुद बोलते जान पड़ते हैं। इन शब्दों की अपनी बोली है अपने खयाल हैं। इस मायने में यहाँ उधार और अनुकरण के लिए कोई खाता नहीं है। इतनी स्वाभिमानी शैली और शब्द-योजना कि इन्हें अपनी जगह–अपने अस्तित्व को कोई खतरा नहीं। सब ठीक जगहों पर है, तबादला किसी का सम्भव नहीं। यदि कोई हठधर्मी से करने की कोशिश भी करे तो अर्थ-बोध के दबाव पर फिर शब्द को वापस उसी जगह लाना पडे जहाँ था।

संग्रह की अधिकांश कविताएँ एकान्तबोध और उदासी की कविताएँ हैं। इनमें हर मनस्थिति का अकेला बोध जैसे भोगा हुआ है। अकेलेपन में भी व्यक्ति की अनुपस्थिति यहाँ नहीं है और ठीक इसी तरह उदासी और अवसाद में भी हड्डियों तक को खा लेने वाली पीड़ा का दंश यहाँ नहीं। कवि हर अकेलेपन को, हर उदासी को और हर रीतेपन को किसी अनाम, किन्तु दुनिर्वार भावना से भरता रहा है। उसका एकान्त बोध प्रेम से परोसी गई पत्तल है जिसमें खट्टा-मीठा, तीखा-नमकीन और चरपरा सभी कुछ है। आज के युवा कवि अकेलेपन के नाम पर, निस्संगता के नाम पर जो खीझ, झुँझलाहट और बनावटी सम्पर्कहीनता को कविता में बाँध रहे हैं वह यहाँ नहीं मिलेगी। कवि परिवेश के पल-पल बदलते संदर्भों में जी रहा है, उनसे घिर कर दबाव महसूस करता है, किन्तु उसमें कभी न उठने लायक नहीं हो जाता, अपनी बेबसी पर झुँझलाता नहीं है और अपने परिवेश पर आक्रोश व्यक्त नहीं करता है, बल्कि उस दबाव को चुपचाप महसूस करता है, अपने में भरता जाता है और इस प्रकार अनुभूतियों का संग्रह भर होकर; अनुभूतियों का राजत्व पाकर, उनकी प्रतिक्रियाओं को बड़ी सही, संतुलित और सपाट शैली में कह देता है। वह दो टूट कहने की आदत से कहीं चूक नहीं करता। इसी से वह अकेला होकर भी भीतर-बाहर से जुड़ा है–परिवेश से प्रतिबद्ध है क्योंकि कटिबद्ध है सही बात कहने के लिए :

क्योंकि अनुभव तो हमें
जितने इसके माध्यम से हुए हैं
उससे ज्यादा हुए हैं दूसरे माध्यमों से
व्यक्त वे जरूरत हुए हैं यहाँ.........

या

लगता है अब कोई कविता/मेरी नहीं होती।
कहीं से आती है वह/कम से कम अंशतः।

अनुभवों के 'दूसरे माध्यम' और कविता का कहीं से आना कवि के परिवेशगत दबाव और उसकी प्रतिबद्धता को ही व्यक्त करते हैं। यही अनुभूतियों का राजा होना है और इस राजा होने में ही वह अकेलेपन को समर्पित हो जाता है, फलतः 'याद नहीं आता फिर/इतना भी/ कि यह हूँ इस जगह मैं/और इस जगह मेरी कविता'/यह अकेलेपन की चरम स्थिति है कि कविको अपनी ही कविता तीसरे-चौथे दिन अपनी नहीं लगती और उसे यह भी नहीं भान रहता कि मैं किस जगह हूँ और मेरी कविता कहाँ है। अनुभूतियों का ऐसा ही समर्पित अकेलापन संग्रह की करीब तीन चौथाई कविताओं में व्यक्त हुआ है, किन्तु हर वार नये ढंग से, नये संदर्भ और नये कथ्य में अकेलापन कोई ऐसी मनःस्थिति या स्थिति नहीं है कि उसके भोगने से दुख और त्रास की ही भावना जन्मे, बल्कि इससे कोई ऐसा जन्म भी हो सकता है जो आसमान को नीला और धरती को 'फूलवती' करदे क्योंकि अकेलेपन के बोध के लिए, अनुभूतियों को गहराई देने के लिए परिवेश, समाज या सारी सृष्टि के दरवाजों का खुला रहना निहायत जरूरी है। यों कभी-कभी 'अनूप कुछ नहीं रहा/सूनेपन के सिवा/सूने मन के सिवा'/या 'मन उदास हो जाता है/सैकण्डहैंड जीवन त्रास देने लगता है/' जमानाए-हाल से मुझे न फूल की उम्मीद है न फल की/' जैसी पंक्तियाँ भी कविताओं के बीच-बीच में टँकी हुई हैं; किन्तु इस उदासी और शून्यता का एक सिरा परिवेश से जुड़ा है तो दूसरा खुद की जिन्दगी से। इसीसे ऐसी पंक्तियाँ भी अच्छी लगती है। कहने की जरूरत नहीं समझता हूँ कि आलोच्य संग्रह में परिवेश, समाज और यह सृष्टि कवि की आँखों में तैरते रहे हैं। यही वजह है कि संतरे के पेड़ के नीचे बैठे आदमी की वैचेनी का कारण अपने हर आग्रह और अहसास को स्वतन्त्र और पारस्परिक सम्बन्धों की उपेक्षा या उन्हें अदेखा कर देना है। कवि की दृष्टि में आदमी की जिन्दगी आसान नहीं है, बड़ी कठिन है। अपनी ही रुचियों में डूबे रहना,

परिवेश से कटा रहना आदमी की पहचान नहीं है । कवि की दृष्टि में आदमी को तो :

बहुत खटना होता है
यहाँ आकाश तक बढ़ना पड़ता है
वहाँ पाताल तक घटना होता है ।

आदमी, आदमी की जिन्दगी, उसकी ऊब, उदासी, उसके दर्द और विभिन्न मन:स्थितियों के बिम्ब संग्रह में मिलते हैं । मन की संकल्प-विकल्पमयी स्थिति, उसके चेतन-अचेतन स्तर, उसकी प्रकृति और उसकी अजीब-अजीब प्रेरणाओं का लेखा-जोखा भी कविताओं में है । 'समय' कवि को हर पल कोई न कोई विचार और प्रेरणा देता रहा है । समय मनुष्य की हरेक गति-अगति से जुड़ा है । कवि के हर संग्रह में समय–बोध की तीन चार कविताएँ मिल जायेंगी । यहाँ भी समय को लेकर ५–६ कविताएँ हैं । समय की महत्ता, परिवर्तनशीलता, स्थिरता, विनाश–वृत्ति, क्षणिक उपस्थिति, हर पल का लेखा जोखा रखने वाली विशिष्टता और परिस्थिति के अनुकूल उसकी आचरण मूलकता आदि का संकेत इन कविताओं में मिलेगा : 'बहुत से काम', 'कुछ नहीं हिला उस दिन', 'पत्थर पर बिछी हुई' 'तुमने जो दिया है' और 'गतिहीन समय ने' आदि । समय की हर पल की सतर्कता और उसका आदमी द्वारा सब किये गये का लेखा जोखा रखना, उसके हर काम को शीघ्रलिपिक की तरह टीपते जाने वाली कल्पना यथार्थ भी है और औचित्यपूर्ण भी । समय का कितना अच्छा और सटीक बिम्ब है यह :

'मैं जो कुछ कहता हूँ
समय किसी स्टेनो को तरह
उसे शीघ्र लिपि में लिखता है
और फिर आकर दिखा जाता है मुझे
दस्तखत कर देता हूँ
कभी जैसा का तैसा उसे
विस्मृति के दराज में धर देता हूँ'

समय का आयाम बहुत चौड़ा है । वह कभी किसी रूप में कभी किसी और रूप में और कभी किसी और और रूप में सामने आता है । उसकी गति और प्रकृति की विलक्षणता ही तो है जो कवि को यह कहने पर विवश कर देती है :

'ऐसा होता है समय कभी कितना सोता है
कभी कितना जागता है
लगता है कभी कितना हो गया है स्थिर
कभी कितना भागता है !'
मगर मैं मानता हूँ
समय को अगर कुछ सधा है ठीक से
तो तोड़ना सधा है'............
बन गई है चीजें/जाने कब किसके हाथों
समय तो अब उन्हें/तोड़ने में लगा है।
कभी धीरे टूटती है चीजें/कभी भरभरा कर उसके हाथों,
पल–छिन पहर रातों।'

संग्रह की कविताओं में जिन मनःस्थितियों के बिम्ब है उनमें दुख, उदासी, अकेलापन, जड़ता एकरसता, पश्चाताप, अचकचाहट, भटकन, निष्क्रियता बेबसी और संत्रास व तनाव के बिम्ब बडे साफ़ और सही हैं। इनमें कवि की साहसिक कथन-भंगिमा और सपाट कथन देखे जा सकते हैं। आज जिन्दगी जिन स्थितियों से बोझिल हो गई है, जिस जड़ता से चेतनाशून्य हो गई है और जिस तनाव व संत्रास से उत्पन्न परिस्थितियों से जकड़ी हुई है, वह सब एक साफ-ढंग से इन कविताओं का कथ्य है। ये स्थितियाँ ही जीवन हैं। इन्हीं से मनुष्य के मनुष्य होने का परिचय मिलता है। ये ही नये संदर्भ हैं जो आज के इन्सान की सही तस्वीर पेश करते हैं—इसलिए नहीं कि ये बड़े सत्य हैं या माने जाते रहे हैं, बल्कि इसलिये कि आज यही सब जिन्दगी की जड़ों में भरता जा रहा है। इसलिए कवि या चिन्तक इनसे अलग रहकर या इन्हें कविता से निष्काषित करके परिवेश के प्रति न तो ईमानदार कहला सकता है और न उस बिन्दु पर खड़ा रह सकता है जहाँ आधुनिक जीवन की तस्वीर बनती है। परिवेश से कटकर लिखना वंचनामात्र है—अपने आप अपने को छलना है। भवानीप्रसाद ने बुनी हुई रस्सी में आज के इस परिवेश के दबाव को भोगा है, और वही उनके अकेलेपन में उनसे कहलाता रहा है :

'दुख की बनाई इन मेहराबों के ढंगों पर/निछावर है
मेरा सारा सुख/
कैसी महराबें बना गये हैं मन पर/
मेरे दुख/

जिन्दगी में भरती जा रही शून्यता मन की महफिल की सारी रंगत को ही वीराने में वदल देती है और फिर जिस मनःस्थिति को हम भोगते हैं जिस उतरे हुए नशे की हालत में हम होते हैं, उसमें अकेलापन और रिक्तता ही हमें सहारा देती है। मिश्रजी की 'जानता हूँ' कविता की ये पंक्तियाँ इसी परिवेश की उपज हैं :

अब महफिल नहीं/अकेलापन मेरा है/
यही मेरा विस्तार हैं/यही मेरा घेरा है/
इसमें बाधा आती है/तो लगता है टूट गया कुछ/
कोई और आ जाता है/तो लगता है/
पीछे छूट गया कुछ/

मन पर रिक्तता की पर्ते जब अधिक गाढ़ी हो जाती हैं तो सब्ज बाग भी सूखे और ठिठुरे हुए लगते हैं । 'आसमान झुका-झुका है/प्रकाश आज चुका-चुका है/हवा यों चल रही है/जैसे किसी से जल रही है/यह कैसा सवेरा हो रहा है आज/कि पंछी किरन और हवा के जगाये नहीं जगते'/ । यह स्थिति दबाव की है, मन के बुझने की है और मन का बुझना परिवेश से अलग कहाँ है/वह तो हरी-भरी दूब तक में सिमट गया है : 'हरी–भरी दूब पर पाँव पड़े/ तो लगा जैसे पड़ गया हो पाँव/किसी सोते हुए आदमी के शरीर पर/कई बार हरी दूब पर चला हूँ/लेकिन गला हूँ आज जैसा शर्म से/पहले कभी नहीं हुआ/ परिवेश का दबाव और उससे निकला अकेलापन कहीं केवल मन का अकेलापन है, कहीं वही बादलों का पराग बन गया है और कभी सारी सृष्टि को ही अकेलेपन से भरता रहा है। अकेलेपन से ही सम्बद्ध निष्क्रियता, असम्पृक्ति, एकरसता और जड़ता की मनस्थितियों को भी 'उम्र बढ़ चुकने पर,' 'आराम से भाई जिन्दगी', 'टाँक आये थे,' 'पत्थरों की तरह अचल,' 'क्या कह सकते है' और 'बसन्त हो या पावस' और 'अब किसी बात से' शीर्षक से लिखी गई कविताओं में देखा समझा जा सकता है ।

कुछेक कविताओं में 'अचकचाहट' विवशता, लाचारी और 'चकित करने वाली अनुभूतियों के भी चित्र है ।' स्थिति विपर्यय और मनःस्थिति की जटिलता से उत्पन्न ये अनुभूतियाँ सहज होकर भी विशिष्ट लब्धियाँ है :

'मैं चिल्लाना चाहता हूँ/
मगर मेरी जीभ को जाने क्या हो गया है/

शायद जीभ है नहीं अब मेरे मुँह में/
मेरी तमाम बातों को ऐसा ही कुछ हो गया है/
मैं बहुत कुछ करना चाहता हूँ/मगर कर नहीं पाता ।
जैसे मैं एक संभावना से जो/घिर रही है डरना चाहता हूँ ।
मगर डर नहीं पाता ।'

यहाँ कितनी अनुभूतियों को एक साथ एक ही संवेद्य बिम्ब से उभारा गया है, यह देखने की चीज है । कुछ ऐसी कवितायें भी हैं जिनमें कवि अतीत के मोह को तोड़ता हुआ, अपनी क्षीणता, जीर्णता और थकान की बात करता रहा है; किन्तु यह मानना ठीक नहीं होगा कि कवि यहाँ घबराया हुआ है, उसकी चेतना की थरथराहट मंद पड़ गयी है । यदि ऐसा होता तो कवि यह नहीं कहता :

१. नाचें हम वहाँ/टूटता हो जहाँ
हमारा/दम
आँगन मन का/टेढ़ा न लगे हमें कभी
पाँव उत्साह के/बेताला न ठहरें/

२. अलभ्य इस घड़ी में हम/दर्द से घुले दो एक गीत गुँजा दें
कि मौत थोड़ी ही देर सही/अकचका जाये,
और जिन्दगी हमें हँसते-हँसते/कगार पर से धका जाये,

३. डूबे जब मेरा सूरज/तो छाई रहे उसकी लाली/
शाम के बाद भी/दो चार पहर/

और भी उदाहरण है, किन्तु स्पष्टीकरण इनसे हो सकता है । सच यह है कि मिश्रजी की ये कविताएँ अँधेरी होकर भी इतनी अँधेरी नहीं है । इनमें कहीं जीने की अदम्य लालसा है, उमंग है तो कहीं संघर्षों को ही पूरी आस्था से भोगने का आनन्द है । शायद यही वजह है कि कवि को 'जो गया जो रहा दोनों ही महत लगते हैं/ 'पश्चातापों के बसन्त से खिलते हैं/जब आज की परेशानी में पुराने दिन मिलते है ।' कवि का निस्संग बोध इतना साफ जबान में उभरा है कि मन में कहीं गहरे उतर जाता है । उसे न खोये का सोच है और न अनपाये हुए की चिन्ता ! सोच और चिन्ता दोनों से असम्पृक्त कवि जिस बेपर्दगी से अपनी बात कहता है, वह यथार्थ कि कटु-तीखे सदर्भो को भोगने के बाद की ही सच्चाई है :

१. 'दुख नहीं होता/उलटे एक परिपूर्णता सी/
मन में उतरती है/

२. 'जब किसी बात से मुझे सुख नहीं मिला
तब कोई चीज/दुख भी मुझे कैसे देगी
तुम कहो जो तुम्हें कहना है।'

सारांशतः यही कहा जा सकता है कि आलोच्य संग्रह एक परिवेशबद्ध जागरूक कवि की अनुभूतियों का संग्रह है। अपवाद स्वरूप आये आदेशात्मक और उपदेशात्मक स्वर थोपे हुए निर्देश होकर भी इतनी सही अनुभूतियों के बीच स्वाद ही देते हैं। वैसे आदेश की कविता 'यह करो, वह करो' की कविता मूल्यहीन ही होती है, किन्तु यहाँ आये अपवाद–अपवाद मानकर छोड़े जा सकते हैं: तुम्हारे साथ-साथ, 'चाप की डाली' छाया दो' कविताएँ ऐसी ही हैं। कहीं-कहीं गम्भीर कथनों के बीच में कूदकर आई अगंभीर कथन-वृत्ति (जो पुरानी आदत है) यहाँ भी मिल जाती है। यों पूरे संग्रह में ऐसे विरल कथन गंभीरता और उदासी को तोड़ने के लिए अपनायी गयी शैली भी हो सकती है:

"अपने दुखड़े को तरजीह देता हूँ।
या कहो उससे अच्छा मानता हूँ कमर कसना।
विनोबा कहते थे दिल्ली में बसना:
स्वर्गवासी हो जाने का पर्याय है
और पूछते थे क्यों भवानी बाबू
इस पर तुम्हारी क्या राय है ?"

इसके बावजूद संग्रह की कविताओं में जीवन की अनुभूतियाँ रस्सी की तरह बुनी हुई हैं, कहीं कोई बिखराव या अनावश्यक विस्तार नहीं। हर कविता छोटी और अपने में पूर्ण है। सच है कि उन्होंने अपने हर अनुभव के रेशे को समेट कर रख दिया है—बुनी हुई रस्सी की तरह !

लक्ष्मीकांत वर्मा

'अतुकान्त'

लक्ष्मीकान्त वर्मा नयी कविता के प्रतिष्ठित कवियों में है। उनकी कविताएँ समसामयिक परिवेश और उसकी सारी संगति-विसंगति को व्यक्त करती हैं। कवि की चेतना एक साथ दो स्तरों पर संघर्षरत है : एक ओर तो उसकी भावनाएँ हैं और जहाँ ये हैं वहाँ परिवेश की तस्वीर आँखों के सामने से ओझल हो जाती है और दूसरी ओर परिवेश का दबाव है जहाँ निजी सम्बन्ध या निजी दायरा गायब हो जाता है। ये दोनों स्तर लक्ष्मीकांत जी में भी हैं; किन्तु वे दोनों को मिलाने का कलात्मक प्रयास करते हैं। कुछ लोगों की यह धारणा हो सकती है कि इन दोनों स्तरों का मिलान असंगत है। मैं भी इस बात से सहमत हूँ, किन्तु इस असंगति में, परिप्रेक्ष्य के इस दबाव और निजी दायरे के बीच में अन्तराल को पाटने की कोशिश सिर्फ कोशिश हो तो हो, किन्तु वास्तविकता का एक अहम् छोर भी है। यही तो वह स्तर है जहाँ जीवन के सारे आदर्श, सारी गरिमा और सारे जीवन-संदर्भ खोखले, शून्य और एक जीवित विडम्बना बन कर रह जाते हैं। चेतना के ये दुहरे स्तर कभी व्यंग्य-विद्रूप की शैली में आकार पाते हैं और कभी विद्रोह और आक्रोश के स्वर में। लक्ष्मीकान्त जी की अधिकाँश कविताओं का स्तर यही है। उनकी कविताएँ जिस यथार्थ को बिम्बों और अप्रस्तुतों के तहत अर्थ देती है वह जिन्दगी का रोजमर्रा का नीरस, खण्डित, अरुचिपूर्ण, भयावह और पीड़क यथार्थ है। इसी शृंखला में जिस भीषणता और खाई-खड्डों की गहराई उनकी

कविताएँ नापती हैं, वह मध्यवर्गीय जिन्दगी का, उसके ही आसपास के परिवेश का यथार्थ है। यथार्थ के प्रति गहरी रुचि और असंगतियों का चित्रकार लक्ष्मीकांत अपनी कविताओं को सजाता-सँवारता नहीं है। वह उन्हें नंगे आभूषण हीन रूप में या कहें—असली रूप में ही पेश करता है। उसका जिन्दगी का खुरदरा और अनगढ़, किन्तु दमघोंट पक्ष है। इसी से उनकी कविताओं का रूप 'यूकलिप्टस' जैसा है; लम्बा, सीधा-सपाट और तीखा।

'अतुकान्त' में 65 कविताएँ हैं। इन्हें कई खण्डों में बाँटकर रखा गया है। यों ये खण्ड न भी होते तो भी उनकी प्रेषणीयता बावजूद अनेक कमजोरियों के साफ़ थी। शायद कुछ खास तबके या किसी खास 'मूड्स' की कविताएँ एक जगह रखने का खयाल रहा हो। लेकिन यह खयाल बेकार ही है क्योंकि सारे संग्रह में बिखरी हुई मनःस्थितियाँ यों भी साफ़ है। सारे संग्रह को पढ़ने के बाद कई सवाल एक साथ सामने आते हैं : कथ्यगत संदर्भ, यथार्थ का तीखा अहसास, निजी परिवेश और उसका दबाव, प्रत्येक जमाव को खण्ड-खण्ड कर देने की आदत, निरर्थकता और विसंगति, सत्य की खोज में उसकी एक भोक्ता की हैसियत, बहुत कुछ का निषेध; निजी परिवेश के पीछे से झाँकता हुआ आस-पड़ौस, परिस्थितियों के दबाव से झुककर व्यक्त की गई लाचारी और आत्मलीनता की स्थिति पर हताशा और ऊब से दूर एक संतुष्ट मनःस्थिति, अपने किये हुए पर, भोगे हुए पर, पश्चात्ताप की छाया से दूर तृप्त मनःस्थिति आदि को कई कोणों से कविताओं की आत्मा में देखा जा सकता है। इन कविताओं की भाषा सीधी और एकदम 'डाइरेक्ट एप्रोच' की भाषा है। वह खुरदरी और सख्त है, किन्तु फिर भी वह लाचारी या असमर्थता की भाषा नहीं है। उसमें सही बात कहने वाले सही शब्द हैं, उनका नियोजन अर्थपूर्ण है।

संग्रह की अधिकाँश कविताएँ मध्यवर्गीय जिन्दगी की तस्वीरें हैं। इनमें जिन्दगी की कटुता, उदासी और ऊब के साथ–साथ जिन्दगी से लड़ते उस आदमी का बिम्ब है जो रोजाना कितने ही संदर्भों में घुटता–पिटता व अनेक लाचारियों में जिन्दा रहता है क्योंकि उसे जिन्दा रहना होता है, इसलिए रहता है। परिवेश का दबाव सहते संघर्ष जीवी व्यक्ति और उसके समाज की प्रतीक ये कविताएँ एक गहरे दायरे में लिखी गई हैं। ऊपर से देखने पर इनमें जीवन-गत कटुता, तिक्तता और संत्रास का सकारात्मक स्वर है और यह ठीक स्वर है क्योंकि आज की दुनियाँ में इनसे छुटकारा भी कहाँ है, किन्तु इसी के पीछे

इनसे उबरने की लालसा भी कविताओं से स्पष्ट होती है। इस प्रकार कटु यथार्थ और उबाने वाली स्थितियों के स्वरों का सकार उनसे मुक्ति का स्वर भी हो गया है। जैसा कि मैंने कहा है ये कविताएँ गहरे संदर्भो से सीधे टकराने वाली कविताएँ हैं, किन्तु यह टकराहट एकालाप की शैली में व्यक्त हुई हैं जो एक ओर तो निजी परिवेश से सम्बद्ध है और दूसरी ओर सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ से आबद्ध। एक में वे रमते दिखाई देते हैं और दूसरे में जागरूक। यह रमना और जागरूकता अकेलेपन और अपने में ही डूबते जाने की स्थितियाँ नहीं है। इनका भी सामाजिक पक्ष है।

लक्ष्मीकान्त जी की आत्मलीनता अध्यात्म का कोई संदर्भ नहीं और न इसमें किसी विराट के प्रति समर्पित होने का भाव ही है। यह आत्मलीनता या अपने में सिमटना हर दबाव, हर टूटन और हर बिखराव को भोगते हुए लाचारी की आत्मलीनता है जो तभी तक कायम रहती है जब तक कि वह उनके ऊपर से गुजर नहीं जाता। गुजरने के बाद जो भी बचता है, उसी में वे अपने को, अपने अस्तित्व को और अपने सिर को बचाते दिखते हैं :

मैं आत्मलीन हूँ, रहूँगा आत्मलीन,
बन नहीं सकता आवाज मैं किराये की।
नहीं हूँ भौंपू, प्रतिध्वनि किसी विज्ञापन की
....

अपनी आत्मलीन स्थिति में, करुणा, वेदना, पीड़ा।
उन सबकी जो मेरे साथ-साथ।

या "अपना सिर बचा लिया है/ताकि वक्त जरूरत काम आये/

'अतुकान्त' का कवि निजी परिवेश में सामाजिक परिवेश को कैसे उभारता है, इसके एक नहीं कई उदाहरण संग्रह की प्रारम्भिक कविताओं में भी उपलब्ध है। उनमें जो मध्य–वित्त परिवार का खाका है, आम आदमी की स्थितियों का अंकन है या महीने के शुरू की और आखिरी तारीख की हर्ष मिश्रित वेदना है या स्टोव का ठंडा होना और 'चाय के टिन' के खाली होने का संदर्भ है, वह सब एक वर्ग की स्थिति है, एक समाज की रिक्तता है, जो अकेले लक्ष्मीकांत की नहीं है। 'महज कलम की कुदाली से चाय की खेती' करने में असमर्थता का अहसास करने वाला और 'चाय के टिन के खाली होने को साहित्य दुर्वासा का महाशाप' मानने वाला ही जब कहता है कि "हर पहली तारीख—एक चीख/हर आखिरी तारीख एक भूख/हर मास का अल-

विदा—विदा/हर सुवह एक लीक/घनी शाम का प्रतीक"/या "मेरा अपराध यह है/कि मैंने कारनिस से गिरे हुए गौरेया के चूजे को/फिर कारनिस पर रख दिया है"/तो उसके निजत्व में भी दायित्व वोध और सामाजिक स्वीकार—एक सहज और मुक्त स्थिति का अनिवार्य स्वीकार दिखाई देता है। इस स्वीकार में कवि अपनी पराजय को भी स्वीकारता है और अपनी विवशता और टूटन को भी स्वीकारता है। अनेक स्थितियों से टकराना और विभिन्न समस्याओं और निजी अनुभूतियों की गहराई से की गई अभिव्यक्ति में जिस सत्यान्वेषक की स्थिति को अंकित किया गया है वह महत् है, संदर्भ से कटी हुई नहीं है। उसमें वह सत्यान्वेषक के साथ-साथ भोक्ता भी है :

"तपस्वी तो मैं भी था/घास की तो रोटी मैंने भी वनाई थी/
पर चूहों की नस्ल में/आदमी से विल्ली तक/
महज भटक नहीं पैदा की/
विल्ली ने घास की रोटी नहीं खायी/
वच्चों को मगर खानी पड़ी/
मैं क्या करूँ तपस्वी तो मैं भी था"/

पराजय का यह सहज स्वीकार है। इसमें न आक्रोशी मुद्रा है और न हताशा ही है। इसके विपरीत सम्पूर्ण स्थिति पर एक व्यंग्य और निरर्थकता वोध का आभास भर है, विवशता का स्वीकार भर है। असल में लक्ष्मीकान्त का स्वीकार-वोध वहुत गहरी और तीखी स्थितियों का स्वीकार है। इतना सच, इतनी विषमताओं का विना कुछ रखे उठाये स्वीकार-वोध कवि की ईमानदारी का सूचक है। यह स्वीकार उस समय और तीखा और त्रासक हो जाता है जव कवि कहता है :

मैं कहीं इस भीड़ में खो गया हूँ
मैं कहीं इस परिवेश में पपड़िया गया हूँ
और कहीं इन रोशनियों में अंधा हो गया हूँ
....केवल अर्थहीन लकीर सा
....विवेकहीन तस्वीर सा
...सभ्यता की हर रोशनी में

शायद मुझ जैसे लोग खपते आये हैं
तो सोचता हूँ
यह मैंने क्या किया ?
मेरा घर/एक हरा-भरा गुलदस्ता हो सकता था
लेकिन मैंने यह क्यों चुना ?

एक वात साफ़ है कि "अस्तित्ववोध" कविता में ही क्यों और भी कविताओं में लक्ष्मीकान्त का कवि पछतावे और ऊव का कवि नहीं है। वह शैथिल्य और पस्त मनोदशा का कवि नहीं है। वह खौफ़नाक स्थितियों को स्वीकारता है, उन्हें भोगता है, उनके सामने विवश भी होता है, किन्तु उसे अपनी इस स्थिति के लिए कोई पछतावा नहीं है, कोई शिकायत नहीं है क्योंकि सही का स्वीकार और यथार्थ की विसंगतियों का प्रतिवोधात्मक स्वर उन्हें न पछताने का मौका देता है और न शिकायत या ऊव का। वह हताश मनः स्थितियों में तो है, किन्तु उसका अस्तित्व वोध कहीं टूटता या विखरता हुआ दिखाई नहीं देता है :

"किसी महान् का उच्छिष्ट मैं नहीं
किसी संभाव्य की अनुक्रमणिका नहीं
किसी समाप्ति का समापन चिन्ह नहीं
मैं हूँ अपने ही लघु अस्तित्व से जन्मा
व्यापक परिवेश का साक्षी और साक्ष्य
मेरी लघुता है परमाणु वाही सार्थकता"....

या फिर

"जो भी किया/अच्छा किया/
ऐतिहासिकता को भोगा/इतिहास का भोग नहीं वना"/

इस विवेचन से तीन-चार वातें साफ़ हुई हैं, किन्तु साथ ही यह भी साफ़ ही है कि लक्ष्मीकान्त की सामाजिकता व्यक्ति के धरातल पर आकर जिस रूप में अभिव्यक्ति पाती है, उसका एक विशेष ढर्रा है। इसके साथ जव वे सामाजिक वोध से खुले रूप में या इतिहास से जुड़ने की इच्छा करते दिखाई देते हैं तव (जो वैयक्तिक संदर्भ उनसे छूट गया होता है उसके विना) उनकी

शैली सामाजिकता को बनावटी रूप दे देती है। यही वजह है कि निजी स्तर पर सामाजिकता का गहरा अहसास रखते हुए भी पूरी तरह सामाजिक परिवेश में खडे होने के चक्कर में वही अहसास उनके हाथ से छूटने लगता है, वे भटकने लगते हैं। और तमाम कोशिशों के बाद भी वे कविता में ऐसी स्थितियों के पैवंद लगाते प्रतीत होते हैं। 'इतिहास के दर्पण' खण्ड की कविताएँ प्रायः ऐसी ही हैं/और तो और कुछ गलत कविताओं में भी जब वे श्रीमती बंसल का संदर्भ देकर जो बात कहना चाहते हैं, वह भी कोरा वक्तव्य बनकर रह जाती है, उससे वे जो व्यंजित करना चाहते थे, वह भी नहीं हुआ और कविता बेकार और ठंडी बनकर रह गई है।

नयी कविता में जिस लघुता को महत्ता दी गई थी, वह यहाँ भी मिलती है। लघुता का अहसास और उसे बनाये रखकर अपने अस्तित्व को रक्षणीय मानना तो ठीक है, किन्तु उसे इतना तूल देना कि वही सब कुछ है, वही प्रदीप्त, आभामण्डल और सौर मण्डल है तो लगता है कवि किसी ग्रन्थि का शिकार हो गया है। लघुता की रक्षा ठीक है, उसका स्वीकार ईमानदारी है। लघुता अपरिहार्य है/यहाँ तक भी ठीक है, किन्तु लघुता में 'सर्वभूतेषु' या विश्वचेतना का समावेश छद्म ही लगता है। 'एक लघु अस्तित्व की सार्थक माँग' के अधिकांश स्थल इसी छद्मता से आवृत हैं।

'अतुकान्त' का कवि संघर्ष से साक्षात्कार का कवि है। यही वजह है कि जहाँ संघर्ष या उससे किया गया साहसिक साक्षात्कार, परिस्थितिक जटिलता और उलझाव है वहाँ उसकी अभिव्यक्ति भी साहसिक ढंग से की गई है। यह जरूरी नहीं है कि जटिल परिवेश और उलझी हुई मनस्थितियों के अंकन में शैली भी उलझी हुई हो। मैंने पीछे के पृष्ठों में जिस मध्यवर्गीय विसंगतियों और तज्जन्य त्रासक स्थितियों के चित्रण की बात कही है वहीं यह भी देखने की चीज है कि वे संदर्भ आरोपित और ऊपर से ओढ़े गये तो नहीं हैं। कवि जिस 'टेन्शन' और 'टेम्पर' की बात करता है, वह कहीं किसी स्तर पर अभुक्त या अवाछित तो नहीं है। कविताएँ इसकी गवाह हैं कि इन संदर्भों में कवि जिन्दगी का ऊपरी हवाला ही नहीं देता, वरन् उसका 'एक्सरे' भी प्रस्तुत करता है और उल्लेखनीय बात यह है कि यह 'एक्सरे' ऐसे कोण से लिया गया है, कि उसमें सारी तस्वीर ही साफ़ उभर आई है। मानवीय मूल्यों के विघटन का खाका या उनकी जर्जर स्थिति का इतना भयावह और चकित कर

देने वाला वर्णन इन कविताओं में हुआ है। लगता है जैसे कवि किसी एक जगह बैठा सब कुछ को साफ़-साफ़ देख रहा है। कभी लगता है कि वह खुद उस विघटन का शिकार है और कभी लगता है कि यह विघटन का प्रत्यक्ष रूप है : हर आदमी, हर समाज और हर परिवेश के रूप में। 'मर गया लम्बोदर' कविता में विवेक, श्रद्धा, मानवता, करुणा और धर्म के इसी विघटन की ओर संकेत किया गया है। बुद्धि दिवालिया हो गई और श्रद्धा को कीड़े लग गये, फिर भी कहीं, किसी सीमा में श्रद्धा—अंध श्रद्धा के रूप में जीवित बच गई है और यह बची हुई अंध श्रद्धा सारे समाज को कीड़े की तरह खा रही है, लोग मरते जा रहे हैं और कवि के शब्दों में 'श्रद्धा के कीड़े मगर कम नहीं हुए,/ मरा एक उल्लू/मरा एक कल्लू और कल मरेगा कोई घरेलू'/ ।

इतना ही क्यों धर्म के नाम पर प्रश्नचिह्न लग गया है, राजसत्ता काले दाग से अधिक कुछ नहीं है। सारी व्यवस्था का चेहरा ही विकृत हो गया है फिर बेचारा आदमी मरने और जीने की दोनों ही स्थितियों का भोक्ता बनकर जिन्दगी का विज्ञापन रह गया है :

> आदमी....
> आफिस से लौटते समय का हारा-थका बाबू
> धुएँ से घिरे हुए मकान में
> भूखे परिवार की परम्परा लिये जीवित है।

'कुछ गलत कविताएँ' खण्ड की कविताओं में दो कविताएँ बहुत अच्छी हैं : 'एक गलत मेहमान जो घर का आदमी था' और 'एक गलत परिवेश के सही निष्कर्ष'। इनके अलावा 'एक गलत मसीहा की तलाश में दूसरे सही आदमी को सूली' कविता भी कुछ अच्छे अंशों से युक्त है। इन कविताओं में कवि की 'रियल थिंकिंग' और सही परिवेश के सही नतीजे हैं। कवि का यथार्थ जगत् तीखे अहसास को लिये हुए है। इन कविताओं में कवि ऊब और एकरस संदर्भों को पीछे छोड़ता हुआ मुक्ति की तलाश करता दिखाई देता है, एक 'इनडिपेन्डेन्ट वे' की ओर बढ़ता : सारी बन्दिशों को तोड़ता दिखाई देता है। यही वजह है कि इसमें जीवन की जिन सतही-स्थितियों, यांत्रिकता और निरर्थकता को व्यक्त किया गया है, वह बहुत ही सीधी और खुली भाषा में कही जाने से उल्लेखनीय लगती है। अपने को ही अपने घर में मेहमान समझे/जाने वाली आकांक्षा जिस

घुटन और संदर्भ को व्यक्त करती है वह कवि के भोगे हुए तीखे अहसास की प्रतिक्रिया है। कवि का दर्द यहाँ परिवेश में फैलता दिखाई देता है। उसे यह जिन्दगी ऊलजलूल और निरर्थक लगती है। अपने शहर में रहकर एक मेहमान की स्थिति की आकांक्षा और शहर में रहकर भी उससे दूर रहने की अनुभूति जब गाढ़ी हो जाती है तो कवि को लगता है :

'सारा शहर मुझे समाया हुआ सा लगता है
निर्जीव ममी सा
अपने भीतर एक विशाल मरी हुई संस्कृति
एक गुलामों की परम्परा
और सम्राटों की लाशवाला
पिरामिड़ की पर्तों में दफनाया हुआ सा लगता हूँ
और तब
मैं रोज सुबह अपने घर से निकलता हूँ
और लम्बी यात्रा के बाद
वाया फाफामऊ घर पहुँचता हूँ
ताकि मैं अपने घर में
परदेसी मेहमान समझे जाने की आकांक्षा लिये रोज-रोज
बिना मरे, जिन्दा घर वापस आ जाया करूँ
और मेरे घर वाले, मुझसे यह आशा किया करें,
कि आज नहीं तो कल, मैं उन्हें मेहमान समझूँगा ॥'

इसी तरह गलत परिवेश के सही निष्कर्ष भी बड़े तीखे और सही अहसास की सीधी-सपाट अभिव्यक्ति से युक्त हैं। 'सही वर्ष गाँठ के गलत नतीजे' कविता में दाम्पत्य जीवन की ऊब, सम्बन्धों के खोखलेपन–'एब्सर्डिटी' और एकरस खिचती जिन्दगी की तस्वीर का एक पहलू व्यक्त हुआ है। इन सारी बातों को पढ़कर यही लगता है कि जिन्दगी निरर्थकता और ऊब का ही दूसरा नाम है। मैं समझता हूँ यदि यह लगता है तो यही वर्तमान परिवेश का सही अहसास है। लक्ष्मीकांत की स्थिति इस सबको भोगते हुए भी एक मुक्ति की खोज, एक आस्था की खोज लगती है। उनका रूमानी मन जो प्रायः नये कवियों से कहीं न कहीं चिपका हुआ है, सारी कड़वाहट को पीने के बाद भी

किसी शर्वत की खोज का संदर्भ है। भले ही शर्वत की खोज में वह कुछ भी न पा सके, सिर्फ कोशिश कर सके। ऐसी कोशिश, ऐसे ही किसी शर्वत की खोज, लक्ष्मीकान्त की कविकाओं में कहीं-कहीं दिख जाती है। उनकी 'वँधी हुई मुट्ठियाँ' जो तलाशती हैं वह अस्तित्व-की तलाश होकर भी एक जिजीविषा से 'टेप' की हुई है। 'शांति किसकी' कविता में जिस शान्ति की कामना हैं, वह भी अमर शान्ति का संदर्भ है। उसमें जिन विराट मूल्यों की चाह संकेतित है, वह कवि की आस्था का ही संकेत है: 'और तुम्हारे इस प्रयत्न में/शान्ति मर गयी/या 'मैं भी शान्ति ·चाहता हूँ/लेकिन वह शान्ति नहीं/जिसमें दोस्ती और दुश्मनी का/महज एक खेल हो/तुम वन्दूक को बुरा और तलवार को अच्छा कहने/वम को गाली दो/और जेव में वारूद लिये घूमो/मुझे वह शान्ति नहीं चाहिए जिसमें/नासूरों को रोकने के लिए तुम अंगारों से/इत्र निचोड़ने का नाटक करो'/असल में 'इन रंगों का मिट जाना ही अमर शान्ति है। जो अर्थों में, संदर्भों में, व्यर्थ भ्रमों का ताना-वाना वुनते रहते।' इसी तरह 'दर्द' की अनुभूतियों से प्रेरित होकर लिखी गई कविताओं में भी दर्द के सहारे मुक्त-खुलेपन का भाव अभिव्यक्त हुआ है। कहीं-कहीं अतीत का मोह भी, अपवाद स्वरूप ही सही, दिख जाता है। सामान्यतः ये कविताएँ रोमानी संदर्भों से हटती गई हैं, भावना को यथार्थ या वौद्धिक चेतना दवोचती गई हैं। 'प्रेम–पत्र' भी खाली या अर्थहीन कागज का टुकड़ा भर रह गया है। फिर भी 'रोमान' से कवि एकदम मुक्त नहीं हुआ है, मुक्त होने की कोशिश में प्रयुक्त शैली ही कई वार उसे उधर ले जाती है।

इस प्रकार कवि दोनों संदर्भों को जीता रहा है, भले ही एक को कम, दूसरे को ज्यादा। भाषा कथ्य को सही ढंग से सम्प्रेषित कर सकी है। वीच-वीच में अँग्रेजी शव्दों की खपत भी पूरी तरह हुई है। कुछेक कविताओं में शव्द चमत्कार भर हैं, वे शव्द के साथ अर्थ शून्य भी हैं। सन् ५३ और 'समयः कार्निवाल' जैसी कविताएँ ऐसी ही हैं। एक वात अच्छी है कि कवि शिल्प के चक्कर में भटका नहीं है। कविताओं में एकाध को छोड़कर अनावश्यक विस्तार भी नहीं है, विम्व, प्रतीक और अप्रस्तुत सहज है। रोजमर्रा की जिन्दगी से उठाये गये होने से उनका अर्थ तो गहरा है ही, उम्र भी लम्वी प्रतीत होती है। पौराणिक प्रतीकों और उपमानों का प्रयोग प्रारम्भिक कविताओं में जरूरत से ज्यादा है जो उवाता भी है, और पाठक के लिए समस्या भी वन जाता है। ऐसा लगता है कि कवि पौराणिक कोश लेकर वैठा है और हर संदर्भ

या पात्र को कहीं न कहीं 'फिट' बैठाने के चक्कर में उन्हें चुनने के बजाय बीनने लगा है। लक्ष्मीकान्त एक 'जमे हुए' या 'जमाये हुए' कवि हैं। अतः उन्हें तो समसामयिक परिवेश से ही प्रतीकों को चुनना चाहिए था। पौराणिक संदर्भों की निस्सारता आज की जिन्दगी से सिद्ध है। अतः कई जगह उनका प्रयोग अच्छा और सार्थक है तो कई जगह बेकार साबित हुआ हैं। हाँ, इनके प्रयोग से कवि सहज ही जिस पौराणिक परिवेश की व्यर्थता सिद्ध कर गया है, वह काम की चीज है और थोथे आदर्शों से जिन्दगी चलाने वालों पर तीखा प्रहार भी। यों पौराणिक संदर्भों का उपयोग आधुनिक संवेदनाओं के लिए भी कारगर हो सकता है। बदली हुई परिस्थितियों में इनका उपयोग इसी सिद्धि के लिए हो तो ठीक है, पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत'।

०००

भारतभूषण अग्रवाल

'अनुपस्थित लोग'
और
'एक उठा हुआ हाथ'

अनुपस्थित लोग :

'भारतभूषण', 'तारसप्तक' के कवि हैं, किन्तु अब तक उसके अलावा भी उनके कई संग्रह सामने आ चुके हैं। गत दशक में उनके दो संग्रह : 'अनुपस्थित लोग' और 'एक उठा हुआ हाथ' प्रकाशित हुए। एक ६५ में और दूसरा ७० में। दोनों संग्रह एक दूसरे से सम्बद्ध भी हैं और असम्बद्ध भी। भारतभूषण शुरु से अब तक एक खास 'पैटर्न' पर कविता लिखते रहे हैं। उनके हर संग्रह में कुछ खास तत्व रहे हैं जो हर स्थिति में उनसे जुड़े हुए हैं। प्यार, दर्द, छटपटाहट और निराशा तो छवि के बंधन में भी थी और वही संदर्भ कतिपय फेर बदल के साथ 'अनुपस्थित लोग' में भी है। फ़र्क केवल अभिव्यक्ति का है, स्थितियाँ सबकी सब वही हैं, सिर्फ परिस्थितियों के बदलने से 'रोमांस', रूपाकर्षण और प्रेमाकांक्षा को व्यक्त करने वाली शैली बदल गई है। पहले वे प्रेम और दर्द के लिए एक साथ समर्पित होते और छटपटाते थे, अब दर्द को सहलाते हैं, सहन करने की कोशिश करते हैं। पहले की छटपटाहट और बैचेनी यहाँ आकर प्रेम की सहज मनस्थितियों के बिम्बों में बदल गई है जिससे अहसास का बोध बढ़ा है। प्रेम और सौन्दर्य की छवियों के बिम्ब संग्रह की करीब आधी से ज्यादा-कविताएँ घेरे हुए हैं। कहीं रूप का आकर्षण है, कहीं रूप में डूब जाने के समय का समर्पण है, कहीं स्मरण का दंश है और कहीं एकान्त के क्षणों का अतृप्तिमूलक वेदन है। एक दो कविताओं में प्रकृति

का सौन्दर्य भी सिमटा हुआ है। 'टेर उठी मोर की' ऐसी ही कविता है, पर संश्लिष्टता के अभाव में और चमत्कारिक शैली के सहारे लिखी जाने के कारण बहुत हल्की सिद्ध होती है। आज के युग में जहाँ प्रेम का अर्थ ही बदल गया हो, घिस-घिसाकर जो वासना का पर्याय हो गया हो, ये कविताएँ सही और मार्मिक तो लगती है, किन्तु इनकी परिवेशगत सार्थकता का प्रश्न भी है, वह समस्या भी है, वे प्रश्न भी हैं, वे त्रासक और असंगत संदर्भ भी हैं जो आदमी को कहीं गहरे ही घुन की तरह खाये जा रहे हैं। यह तो ठीक है कि कवि कुछ और कवियों की तरह कृत्रिम आधुनिकता के चक्कर में न पड़कर अपने परिवेश व अपनी ही परिधि में है। उसने कोई बनावटीपन ओढ़ने की कोशिश नहीं की। यह उसकी ईमानदारी का सबूत है, किन्तु यदि यह ईमानदारी है तो निजी परिवेश और उसमें भी रोमानी परिवेश के प्रति बरती गई ईमानदारी है। यह पक्षधरता है, परिवेश से कटकर अपने में लीन होते जाकर पाई जाने वाली अबौद्धिकता है, आत्मलीनता है।

कुछेक कविताएँ तो बिल्कुल बेकार हैं : कविता के नाम पर की गई बकवास हैं। उसमें न कथ्य है न शैली केवल चलताऊ बातें हैं या तुकाग्रह से लिखी निरर्थक और बासी पंक्तियाँ भर हैं : 'मसिजीवी', 'कनाटप्लेस', 'एक साक्षात्कार', 'एक चिट्ठी का टुकड़ा', 'धुकधुकी जब रुकी', 'वे और मैं', 'एक सोच : भविष्य के बहाने' और 'तो' आदि। कविताओं के नाम पर लिखी गई ये पंक्तियाँ कविता तो क्या वक्तव्य भी नहीं हैं। इनमें न तो कविता है और न कविताभास। नहीं मालूम भारतभूषण जी ने क्या सोचकर इन्हें संग्रह में स्थान दिया है। यदि कोई ठोस विचार भी इनमें मिल जाता तो भी संतुष्टि हो सकती थी।

प्रेम और पीड़ा के बाद यदि संग्रह की कविताओं में कोई कथ्य है तो वह है मुक्ति की कामना—खुलकर जिन्दगी बिताने की कामना। 'मुक्ति ही प्रमाण है' कविता में कवि मुक्ति की बात जिस शैली में करता है, वह नयी कविता की शैली नहीं है। मुक्ति ही सौन्दर्य का अन्तिम प्रमाण है' जैसी पंक्ति भी आधुनिक बोध से दूर एक रोमानी संदर्भ प्रस्तुत करती है। 'मुक्ति' भाव को लेकर लिखी गई 'मुक्ति' शीर्षक कविता फिर भी प्रभावित करती है। संग्रह में कुछेक अच्छी कविताएँ भी हैं : 'सही करता हूँ', 'खण्ड हूँ विराट का', 'विदेह' और 'बोलता हूँ' इन कविताओं की अनुभूतियाँ एक अर्थ में भावबोध का एक नया धरातल प्रस्तुत करती हैं। कहीं-कहीं, थकान, ऊब और

उदासी का अच्छा चित्रण हुआ है। जिन्दगी की व्यस्तता और परिवेश की जटिलता से उत्पन्न दवाव और तनाव के संकेतक प्रतीक अच्छे बिम्ब दे गये हैं। (विदेह) अपनी लघुता के प्रति आश्वस्ति का भाव और खण्डशः होकर भी पूर्ण वने रहने की या पूर्ण दिखाने की भावना आरोपित भले ही हो, कवि के वोध का इतर पक्ष तो है ही। (खण्ड हूँ विराट का), 'वोलता हूँ' कविता में तनाव और शून्यता से छुटकारा पाने का भाव है। कवि को पछतावा है कि उसने इन्हें शक्ति क्यों समझ लिया ? वह जैसे इन सवका निषेध कर आस्था की खोज करता है, किन्तु यह खोज ऐसी नहीं जो संघर्षों को झेलते हुए या झेलने के वाद मिली अनुभूतियों की प्राणवत्ता सिद्ध करती हो। यह तो घवराकर, महसूस की गई मनोदशा की याचकी मुद्रा है, कारुणिक स्थिति है। 'सही करता हूँ' में रोमानी प्रसंगों की तड़फन और प्यास तो है ही, अधूरे व्यक्तित्व का स्वीकार भी है।

वस्तुतः 'अनुपस्थित लोग' रोमानी भाव वोध का निजी परिवेश प्रस्तुत करता है। इसमें 'लोग' हैं ही नहीं, समाज, सामाजिक संदर्भ परिवेश या परिवेशवद्ध व्यक्ति कुछ भी तो नहीं है। ६५ का संग्रह होकर भी ६५ का वर्ष या उसके आस-पास के वर्ष भी इसमें नहीं हैं। प्रेम, सौन्दर्य और पीड़ा जैसे शाश्वत विषयों का यह कविता संग्रह भाषा और अप्रस्तुतों की दृष्टि से फिर भी प्रभावित करता है। अप्रस्तुतों का चयन यथार्थवोध के आयाम-प्रस्तुत करता है। कहीं-कहीं तो अप्रस्तुत वहुत ही सटीक हैं। ऐसे सटीक अप्रस्तुतों के प्रयोग में ही कहीं छिपा परिवेश किसी संदर्भ से झाँक जाए तो भी संतोष करना चाहिए।

मेरा उद्गार आज/वर्षा वीत जाने पर उतरी हुई वाढ़ की/
छोड़ी हुई रेत सा ही/ रूखा रस-हीन है/
और मेरा प्यार आज/क्रुद्ध अध्यापक से अकारण पिटे हुए/
निरपराध वालक-सा/शंकित, दमित है/

एक उठा हुआ हाथ :

'अनुपस्थित लोग' में जो कवि का निजी परिवेश था, रोमानी संस्कार थे, वे यहाँ भी हैं, किन्तु अपेक्षाकृत कम है। कवि यहाँ परिवेश के साथ खड़ा दिखाई देता है। उदासी और शून्यता का जो हल्का संदर्भ इससे पहले के संग्रह में था; वह यहाँ कुछ खुलासा हुआ है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य यह है कि कवि को पहले अपनी शून्यता और शक्तिहीनता पर

पछतावा मात्र था, एक थिराव था, किन्तु यहाँ वह उन सभी घेरों को *तोड़ने की कोशिश में संघर्षरत व्यक्ति की भूमिका निभाता दिखाई देता है।* प्रेम, पीड़ा और सौन्दर्य के संदर्भों के कारण दोनों संग्रह सम्बद्ध हैं और परिवेश वद्धता के कारण असम्बद्ध भी हैं। यों भी यह संग्रह अच्छा है, कवि की जागरुकता की भूमिका का परिचय कराता है और एक ऐसे विन्दु पर स्थित है जो उसे वीच की स्थिति में लाकर रख देता है। यह प्रेम, सौन्दर्य और समसामयिक परिवेश के वीच का, गंभीर सन्दर्भों और हल्के सन्दर्भों के वीच का परिचायक है और लगता है कवि की छटपटाती आत्मा ने वह स्थिति प्राप्त करली है या कोई ऐसा रास्ता निकाल लिया है जो उन्हें रोमांटिक वने रहकर भी परिवेश की भूमि नापने के लिए प्रेरित करता है। यही मध्य विन्दु है, मूल्यों की तलाश में हस्तगत मुक्ति है : शांति हैं।

रोमानी संदर्भ को लें तो कवि की हल्की से हल्की और गंभीर से गंभीर मनस्थिति के विम्ब तक यहाँ हैं। इनमें अतृप्ति और साध, भय, पीड़ा और समर्पण के छंद हैं। इतने पर भी यह कहना वेमानी होगा कि कवि यहाँ इनमें डूब गया है। ये सन्दर्भ भर हैं, किन्तु कवि की दृष्टि—उसकी चेतना की आँख तो उसके आस-पास फैले परिवेश यांत्रिक जीवन और थोथे आदर्शों की जड़ता पर लगी हुई है। उसकी पहचान का दायरा वदल गया है और वह उन सभी स्थितियों पर अपनी उपस्थिति दिखाता है जहाँ पहले वह अनुपस्थित था। 'एक उठा हुआ हाथ', 'जहाँ मैं हूँ', 'परिदृश्य : ६७' 'आतिशवाजी', 'उद्घाटन' 'आप मेरा क्या कर लेंगे', 'हर वार यही होता है' और 'चीर फाड़' कविताएँ कवि की उपस्थिति और परिवेश की ओर लगी उसकी दृष्टि का जायज़ा कराती हैं। इनमें समूचे देश, राजनीति, प्रजातन्त्र, समाजवाद, राष्ट्रीयता, होटलों व रेस्तराँ की चमक-दमक, 'इलेक्शनफण्ड' शांति-सम्मेलनों की निरर्थकता, जनतंत्र का अर्थहीन संदर्भ और जिन्दगी की आपाधापी सभी के संकेत हैं। चारों ओर के यातनाग्रस्त जीवन से घिरा हुआ कवि भीड़ में खो गया है और वहाँ खोकर उसने जो पाया वह कहीं कहीं विनोदपूर्ण शैली में होकर भी पाठक को कचोटता है। 'उद्घाटन' का व्यंग्य और सन् '६७ का परिदृश्य' काफी गहरे छूते हैं। उसमें जिस दैनिक जिन्दगी का और देश के जिस प्रजातन्त्रीय सदर्भ का चित्र है, वह कहीं-कहीं वहुत गहरा है। 'शांति सम्मेलनों' की अर्थहीनता, मानवतावाद का वोरों में चिना होना, योजना-भवन की त्रासक वरसात, अनैतिक सन्दर्भों का नैतिक होते जाना, भीड़ का अम्वार और उसमें एक दूसरे पर गिरते पड़ते

हरेक आदमी को बेतहाशा भागते हुए सही रास्ते का पता पूछना आदि कितने ही ऐसे संदर्भ हैं जहाँ कवि कभी व्यंग्य से कभी सपाटबयानी से मन में उस परिवेश को उजागर करता चलता है जो आधुनिकता और प्रगति के नाम पर निरन्तर अपनी जड़ता में कुछ और जड़ता को नत्थी करता जा रहा है। परिवेश व्यापी जड़ता और भागदौड़ के बावजूद निष्क्रियता का अहसास एक बड़ी 'फाइल' बन गया है जिसमें सब कुछ खुद ब खुद नत्थी होता जा रहा है और अब वह इतनी भारी हो गई है कि उठा न सकने की वजह से सिर पर हाथ रखकर बैठने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। भीड़ में घिरकर निरर्थकता के अहसास से कवि दबता जा रहा है और वह महसूस करता है :

जनतन्त्र की टंकी फट गई है/
और शब्दों का एक भयंकर रेला/
अर्राता हुआ सबको निगलने आ रहा है/
किताबों के फुहारे/अखबारों की बौछारें/
भाषणों के परनाले/
बहसों की नदियाँ/ सब उफन रहे है/
हर चीज हर चीज से टकरा रही है/
शब्दों के इस सैलाब में/
योजना की फाइलें/इतिहास के पन्ने/
भविष्य के अनुमान/और विज्ञान के प्रबन्ध/
बहे चले जा रहे हैं/इन्सान या राशन कार्ड/
अपनापन कौन चाहता है/कुछ और बनने की धुन में/
सब बेतहाशा दौड़े चले जा रहे हैं/
एक खिसकते शहर की ओर/
....

एक बहुत बड़ा रास्ता है—समान और प्रशस्त/
जिस पर पूरे पचास करोड़ आदमी खड़े हैं/
झण्डों और नारों से आसमान को चिढ़ाते/
भीड़ के मारे तिल धरने को जगह नहीं है/

जिन्दगी के कोल्हू में पिसते आदमी—दुनियादार आदमी की समस्याओं और उलझनों का हल्का संकेत भी कविताओं में है, किन्तु सबके बावजूद उसकी नियति तमाम उम्र मशीन की तरह चलते रहने के अतिरिक्त और कुछ

नहीं रह गई है । भारतभूषण का कथ्य तमाम विसंगतियों के स्वीकार के बाद भी शांति और मुक्ति की खोज का ही संदर्भ है । उसमें जिन्दगी की गिरफ्त में जकड़े मनुष्य की छटपटाहट और बेंचेनी तो है, किन्तु वह साहसिकता नहीं जिसकी ओर वह कई जगह संकेत देता हैं । इतने पर भी यह तो मानी हुई बात है कि कवि का मुहावरा वदला है उसकी परिवेश के प्रति साझेदारी बढ़ी है पहचान बढ़ी है, भले ही उसे मीठी धुन के न मिलने या उस संसार (अतीत) के फिर ज्यों का त्यों न मिलने पर पछताता रहा हो । (अब वह नहीं मिलेगा) कवि के सारे कथ्य में बराबर किसी मूल्य या किसी आधार वस्तु की अनुपस्थिति से उत्पन्न वैंचेनी का आभास है । 'वह कई बार अतीत और वर्तमान, स्वप्न और वास्तविकता को साथ-साथ रहकर पाठक को 'शाक ट्रीटमैन्ट' भी देता है । मुक्तिबोध से सम्बन्धित कविता में यह स्थिति स्पष्ट है और भी ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि बीच का रास्ता अपनाता दिखाई देता है । संग्रह की भाषा भी पहले की अपेक्षा बदले 'मूड' की भाषा है । हाँ, अँग्रेजी के शब्दों का जरूरी-गैर जरूरी प्रयोग और उन्हें कहीं न कहीं खपाने की लापरवाही से की गई कोशिश कथ्य को बीच से अनजाने ही खो देती है । जहाँ कवि सतर्क है वहाँ प्रभाव है, पर शब्दों का सायास चुनाव खतरे के सायरन के रूप में चाहे जब बज उठा है ।

०००

'विनोदचन्द पांडे'

'विकल्प'
'कृष्णपक्ष'

विनोद पांडे बहुत समय से लिखते आ रहे है। गत दशक में उनके दो संग्रह आये हैः कृष्णपक्ष और विकल्प। 'कृष्णपक्ष' की ८५ कविताएँ सात खन्डों में विभाजित हैं। इस विभाजन का क्रम कहीं सार्थक और कहीं निरर्थक लगता है। सार्थकता और निरर्थकता के बीच भूलता हुआ यह विभाजन कवि की काव्यानुभूति को बिखराता प्रतीत होता है। कृति से गुजरते हुए बार बार यह बात सामने आती रही कि संकलित कविताओं में एकरसता है, उसमें एक सी स्थितियों का अंकन है और उसमें आई इस एकरसता को शैली भी नहीं तोड़ सकी है। चौथे खण्ड की कविताओं की सुप्त चेतना और कथ्यगत ठंडापन भाषा और शैली से मिलकर तो और भी ठंडा हो गया है। पाँचवे खण्ड की कविताओं की अन्तर्मुखता कवि के आत्मान्वेषण का पर्याय प्रतीत होती है। यह आत्मालोचन भी एक हद तक प्रभावित कर सकता था, किन्तु इनमें आई वक्तव्य प्रियता सारे परीक्षण और अहसास को उल्टा कर देती है। 'असंख्य दुख' और 'स्वभाव' का आत्मकेन्द्रण सारी अनुभूति की सघनता को ही विरल कर देता है। इसका कारण काव्यानुभूति ही बनावट में बीच-बीच में जबरदस्ती आई हल्के वक्तव्यों की स्थिति है। यों कविताओं में कहीं-कहीं बौद्धिक संवेदना का स्पर्श भी है। जब कवि कहता है कि 'अपना स्वार्थ न जान सकने के कारण मैं स्वार्थी हुआ और भटका' तो उसके भीतर जगी किसी नई चेतना की करवट को महसूस किया जा सकता है। छठे खण्ड

में कुछ ऐसी कविताएँ हैं जो कवि के भावी संतुलन और बौद्धिक जागरण का संभावित संदर्भ देती जान पड़ती हैं। इनमें 'पुराना एरोड्राम' 'बंसत का आना' और 'नवजात' शीर्षक कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। इनमें कवि की जागरूक चेतना तो है ही नये प्रतिमानों की स्थापना का वह संदर्भ भी है जो बौद्धिक संतुलन और परिवेश के प्रति उसकी पहचान का संदर्भ देता है। सातवें खण्ड की कविताओं में भी मार्मिक अनुभूतियाँ ह, संवेगों का सघन चित्रण है। 'जैसलमेर' और 'जूही' शीर्षक कविताओं में कवि का भावजगत और शिल्पजगत एक संतुलन की भूमिका प्रस्तुत करता है। इस खण्ड की लम्बी कविताएँ कथ्य की दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण वन पड़ी हैं, शिल्प और भाषा के अनगढ़पन के कारण उतनी ही लचर लगती है। 'गुड़ियों की राजकुमारी' और 'ओरस्टेज की मुक्ति' ऐसी ही रचनाएँ है। कथ्य को सम्प्रेषित करने की धुन में शिल्प से कमजोर ये कविताएँ एक ऊब वनकर रह जाती हैं। 'जैसलमेर' शीर्षक रचना एक सफल और सव प्रकार से श्रेष्ठ रचना है। इसका प्रवाह और तदनुरूप भाषा प्रयोग संकलन की उपलब्धि है। 'ओरेस्टेज' के भी कतिपय स्थल कवि की आत्म–लब्धि की सूचना देते हैं। यदि इसमें वीच–वीच में आई वक्तव्य प्रियता न होती तो यह और भी सफ़ल रचना हो सकती थी। जिन्दगी की वीरानगी को किसी महत आस्था से भरने का प्रयत्न या किसी मूल्य का अन्वेषण, भले ही वह अधूरापन लिए हो, कवि की एक स्थिति का सार्थवाह वन गया है। वह महसूस करता है कि अनुभवों का दवाव या उनका स्वीकार कर्मठता के लिए प्रश्न वन जाता है। यह प्रश्नाकुलता और अधर में लटकी हुई स्थिति से थकित कवि का अनुभव किसी समाधान की ओर वढ़ता जान पड़ता है। कवि के ये कथन उसकी आश्वस्ति और कोई समाधान पा लेने के वाद की शांतिपरक खोज के ही पहलू लगते हैं।

"कर्मो के क्रम का अन्त है
शून्य में सुलझ जाती हिंसा ।।

या फिर

"विश्व में नहीं है न्याय
विश्व में है कविता

वक्तव्य या कोरी विचारणा कविता नहीं है। यदि ये कविता में आयें भी तो इनका काव्यात्मक संदर्भ हर स्थिति में अनिवार्य होता है। हल्की कल्पना जैसे कथ्य को छिछला कर देती है, वैसे ही 'वक्तव्य प्रियता' या

विचारों के धुएँ से हुए कंठावरोध की स्थिति में मात्र विचार भी कविता के लिए तो खतरनाक ही होते हैं। मैं समझता हूँ यदि कवि ने अपने विचारों को सही कल्पना का सहारा देकर संवेद्य बनाया होता तो वह अधिक सफल हो सकता था। उसके पास कथ्य है, वह कहने के लिए एक बेचैनी भी महसूस करता है, किन्तु सही भाषा की अनुपस्थिति कविता के मर्म का भी गला घोंट देती है। 'ताओ' और 'मातृकाम' कविताओं में जो शिथिलता है, उसका कारण भाषा की कमजोरी और कल्पना के सही संयोजन का अभाव ही है। यदि इन दोनों कविताओं में विचारों की प्रगाढ़ता के साथ-साथ कल्पना-विधान भी तदनुरूप होता तो इनकी श्रेष्ठता और प्रभावान्विति की तुलना नहीं मिलती।

'विकल्प'

१०० कविताओं का संग्रह है और अब तक के कृतित्व की आखिरी पहचान। विनोद पांडे की कविताओं का कथ्य प्रेम, पीड़ा और उससे ही लिपटी मनस्थितियों से सम्बद्ध है। उनके अब तक के संग्रहों में जिस निजी राग का संस्पर्श था, वह भी 'विकल्प' में पड़कर घटिया किस्म हो गया है। संग्रह को कई बार पलटने के बावजूद कुछ भी ऐसा नहीं लगा जो विवेचन की सीमा में आता हो। सारी कविताएँ व्यर्थ संदर्भों की घिसी-पिटी और कहीं-कहीं तो इतनी निचली भूमिका प्रस्तुत करती हैं कि खीझ भी होती है और निराशा भी। राजनीतिक और सामाजिक संदर्भ पहले तो नहीं के बराबर हैं यदि हैं भी तो ऐसे कि न तो किसी परिवेश को उजागर करते हैं और न किसी स्थिति के प्रति कवि की कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त करते हैं। केवल राजनीति, समाज, प्रजातंत्र और कतिपय ऐसे ही शब्दों का प्रयोग भर कोई मानी नहीं रखता है। रोमानी संदर्भ से भी किसी उल्लेख्य संदर्भ का बिम्ब नही उतरता। शुरु से आखिर तक एक ठन्डापन और बेहद चलताऊ कथ्य और शिल्प कविताओं में मिलता हैं। विनोदजी के पास कुछ लटके हैं और वे भी इतने बेकार हैं कि उनसे न तो कविता ही रह सकी है और न कोई विचार ही सामने आ सके हैं। न कहीं कोई विकल्प है न संकल्प, न यथार्थ है न राग बोध। जो है वह सब एक ही स्थिति का नीरस और उबाने वाला कथ्य है। आश्चर्य है कि यह संग्रह छपा।

०००

डॉ० देवराज

'इतिहास पुरुष'

डॉ. देवराज नयी काव्य-चेतना और उस सारे नवलेखन से सम्बद्ध रहे हैं जो पिछले दो दशकों में सामने आया है। 'इतिहास पुरुष' उनकी अनुपम काव्य कृति है। इसके दो कारण हैं: एक तो इसमें जिस सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का प्रयास है, वह जीवन के गम्भीर मूल्यों से सम्बद्ध है और दूसरे इसका शिल्प चलता हुआ न होकर सुचिंतित और संतुलित है। उसमें न तो कथ्यगत विखराव है और न शिल्पगत कमजोरी ही है। कृति के सृजन के लिए कवि ने सूक्ष्म कला–बोध और व्यापक जीवन–अनुभूति के साथ–साथ इतिहास-दर्शन और इन सवसे सम्प्रेरित और सम्बद्ध गम्भीर चिन्तना का प्रयोग किया है। इतिहास खण्ड तीन खण्डों में विभक्त है: प्रथम खण्ड में जिसे परिचय खण्ड कहा गया है कवि ने 'इतिहास पुरुष' का परिचय बडे कलात्मक ढंग से दिया है। इसमें मानवजीवन के प्रति कवि ने असीम आस्था और उसकी शक्ति के प्रति निष्ठा व्यक्त की है। परिचय खण्ड की सातों कविताएँ जीवन को गम्भीर और जटिल प्रक्रिया को कलात्मक पद्धति से स्पष्ट करती हैं। जीवन के प्रति यहाँ जो स्वीकारात्मक स्वर है, वह भौतिक और लौकिक दृष्टि का दमन दिखाकर आध्यात्मिक चेतना की प्रतिष्ठा का स्वर नहीं है। इसके विपरीत कवि की दृष्टि जीवन के परस्पर विपरीत और विरोधी तत्वों के द्वन्द्व के भीतर से उत्पन्न जीवन-दृष्टि है। 'सहस्र नेत्र', 'सहस्र वाहु' और 'महाशूकर' जैसे प्रतीकों के माध्यम से जो द्वन्द्व-वोध उभरा है और उसे जो परिणति

मिली है वह कवि की मानवास्था के प्रति निष्ठा की प्रतिष्ठा है। इस तरह 'इतिहास पुरुष' पुरातन प्रतीकों और संदर्भो के सहारे प्रस्तुत किये गये नवीन बोध का काव्य है। उसकी आस्था मनुष्य और उसके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कर्मो के लिए है क्योंकि वही मनुष्य सबका नियामक है। भावना, चेतना, प्रज्ञा और क्रिया सब उसी के द्वारा संचालित और प्रेरित हैं। एक शब्द मे मनुष्य ही अपने समस्त निर्माण के लिए जिम्मेदार है और वही इस जिम्मेदारी का निर्वाह भी करता है, वही नियामक और निर्णायक है। "भूतल का प्राणभार, हो रहा, विश्व की तमिस्रा मे ढाल रहा, स्वयंकृती स्वराट, व्यापक मै हूँ विराट !" इस प्रस्तुतीकरण के सहारे कवि ने पुराने संस्कारों को नवीन अर्थ की भूमिका दी है। वह मनुष्य को ही महत्ता देता है और ईश्वर के प्रति अनास्था का भाव उसमें है। संभवतः लघुमानव को प्रतिष्ठा देने के हक में कवि की यह स्थिति नये कवियों से अलग नहीं है। "इतिहास–पुरुष' की ये पक्तियाँ "भोले नर। भूल जा, उस निष्कल, निष्प्रपच, अशरीरी ब्रह्म को, ''''मेरी ही शरण आ, भूल, उसे भूल जा'' कवि की मान–वास्था और उसे ही अपने निर्माण और नियामक के लिए उत्तरदायी ठहराने की सचक हैं।

द्वितीय खण्ड: 'द्वन्द्व–बोध' जीवन और जगत के द्वन्द्वबोध को स्पष्ट करता है। इसमें चित्रित द्वन्द्वबोध मानव का वह द्वन्द्वबोध नहीं है जो नयी पीढ़ी से सम्बद्ध है। इस द्वन्द्वबोध की आधारभूमि भारतीय परिवेश और विशेषकर उसके सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित है। कवि ने किसी आक्रोश, क्षोभ और किसी ऐसी पीड़ा को महत्व नही दिया है जो कि उसकी स्नायविक विकृति की प्रतीक हो। विकृति से दूर सांस्कृतिक भूमिका पर अधिष्ठित यह द्वन्द्वबोध हमारे जीवन के मानवीय मूल्यों से सम्बन्धित है। यथार्थवादी चेतना के सहारे विकसित कवि की दृष्टि इस खण्ड में विविध क्षेत्रीय हो गई है। इस खण्ड की कविताओं में जिन्दगी के विभिन्न संदर्भ और पक्ष एक साथ आकर मिल गये हैं। सिनेमा कलाकार, वैज्ञानिक राजनीतिज्ञ, कवि, दार्शनिक और चिन्तक सभी को एक साथ रखकर कवि ने जीवन व्यापी विकृतियों और मानसिक रुग्णता को भी देखा है। कवि ने अपनी आस्थावादी दृष्टि से जीवन व्यापी मूल्यहीनता, भय, संशय, नास्ति भयपीड़ित जनमानस, वस्तुमुखी भौतिक सामाजिक सभी पक्षों पर दृष्टिपात करते हुए जीवन की दयनीय विकृतियों पर प्रहार भी किया है और चिन्ता भी व्यक्त की है। जिन्दगी में

समाती जा रही मूल्यहीनता और अर्थहीनता के सम्बन्ध से कही गई ये पंक्तियाँ कवि की चिन्तना और चिन्ता दोनों को वाणी देती जान पड़ती है :

मूल्य सूनी दुनिया का देख–देख अर्थहीन
देश काल में प्रसार
मानव की जिन्दगी के दु:सह एकान्त को
कोस रहे कलाकार,
भय, संशय, नास्तिभाव, ऊब अकेलेपन से
नर का अस्तित्व घिरा
....
मन के विकल्प सभी
जीवन का केन्द्र व्यक्ति की बस है वासना....

जीवनव्यापी मूल्यहीनता, संशय, भय, निषेध, अकेलापन और विकल्पों से घिरा मनुष्य जिस द्वन्द्व को झेल रहा है, वह अहम् तो है ही, विसंगतियों का प्रेरक भी है। कवि सभी को देखता है, समझता है और इन सबसे उबरने के लिए जिस आस्था की खोज के निमित्त सक्रिय है वह कृत्रिम नहीं है, एक लक्ष्य है और एक जीवन–दृष्टि है। द्वन्द्व के गहराते जाने का कारण–अहम् कारण कवि की दृष्टि में वासना का प्रसार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि ने इस द्वन्द्व के आधार को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है और प्रतिपादित किया है कि वासना को केवल विकार मात्र मानना ठीक नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि अश्लील और अनैतिक का प्रतिष्ठापक है। उसकी दृष्टि श्लील–अश्लील और नैतिक–अनैतिक से परे जिस वासना को–काम तत्व को स्थापित करने में लगी रही है, वह स्थापना सांस्कृतिक भूमिका पर हुई है। वह कहता है :

तेरी ये वासनाएँ
सोनपायी देवों को भीम–कर्ण हलधर
लहू में प्रवेगमान
उगीं–पलीं, मत उनसे लज्जित हो, नहीं
उन्हें हरगिज अपूत मान,
....
सत–शिव की साधनाएँ
तेरी सब वासनाएँ

इस खण्ड में कवि ने मनुष्य को उसकी लघुता में भी तुच्छ नहीं माना है। कवि ने उसकी लघुता को विराटता और स्वायत्तता प्रदान की है। जीवन में व्याप्त द्वन्द्व से परे 'इतिहास-पुरुष' जिस व्यापक दृष्टिकोण को वाणी देता है वह इतिहास-पुरुष के संदर्भ में ही देखी जा सकती है। 'तेरी सब व्याधियों का ओ मानव ! एक मात्र मैं ही निदान.......मति तेरी गति तेरी, धर्म, कर्म सब तेरा....मेरी ही गोद में" । जैसी पंक्तियों में इस बात का आवर्तन है। 'द्वन्द्वबोध' खण्ड में यदि कोई बात खटकती है तो वह कवि का उपदेशक और प्रबोधक है जो युवा पीढ़ी के लिए असह्य है, समसामयिक चिन्तन में बेकार सी चीज़ है। यदि यह प्रबोधन कविता में घुलकर,' यथार्थ के संदर्भ में उद्घाटित होता तो वह खण्ड और भी ग्राह्य और सवेद्य हो सकता था। साथ ही ऊब और एकान्त बोध की जिन स्थितियों से आज का युवक घिरा हुआ है और घिरने के कारण वह जिन अन्तर्विरोधों और विसंग-तियों में जी रहा है, वह जीवन का सत्य है, उसे झुठलाना और वह भी एक प्रबोधन शैली में, असंगत लगता है। यह असंगति जिसका सूत्र कवि के प्रबो-धन रूप से निष्पन्न है; कवि की चेतना की नवीनता पर प्रश्नचिन्ह भी लगा देता है और यही कारण है कि यह गले में सीधे नहीं उतरता है। जब कवि कहता है कि मनुष्य में 'ऊब और अकेलापन, संशय और लघुता का भाव क्यों जगे ?' तब लगता है कि वह आज के जीवन की बड़ी सच्चाई को ही झुठला रहा है और मनुष्य को विराटता प्रदान करता हुआ भी पलायनी वृत्ति को ही संकेतित कर रहा है। अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक, संघर्षों में से रास्ता खोजने का हामी और तमाम अन्तर्विरोधों में जीता हुआ भी आज का युवक या युवा पीढ़ी जिस बिन्दु पर खड़ी है उसके लिए यह संकेत और संदेश निरर्थक है और परिवेश की उपेक्षा के बाद ही स्वीकार किया जा सकता है। यह स्थिति और उपेक्षा नये कवियों को सह्य नहीं । साथ ही जिसमें वे परा-श्रित हों, आस-पास की दुनियाँ से बेखबर रहकर कोई क्षेत्र चुनने को बाध्य हों, स्वीकार नहीं है।

तीसरे खण्ड 'प्रज्ञापारमिता' में कवि ने सूक्ष्म मनस्थितियों से लेकर विश्व-वैराट्य के विविध संदर्भो-विरोधी स्थितियों तक का चित्रण किया है। कवि सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में 'इस खण्ड का निर्माण कवि ने आत्मा के आलोक, मानस के परिमल पराग तथा प्राणों के प्रदीप्त पावक से किया है। क्षण जीवी मनुष्य में वह ऐसी अदम्य जिजीविषा तथा अखण्ड शक्ति भर देता है,

जिसके अमृत संजीवन स्पर्श से वह काल चक्र के विपर्ययों के आघात से अविचलित रहकर सद्सत्, ह्रास–विकास, हानि–लाभ की उद्धतफन, जिह्मगति तरंगों को चीरता हुआ आत्म–विश्वास निष्ठा तथा निर्भीकता के साथ महत् जीवन के मंगलमय लक्ष्य की ओर अबाध गति से अग्रसर होने का बल प्राप्त करता है।" पंत जी का यह कथन महत्वपूर्ण है, पर साथ ही वह भी ध्यान देने की बात है कि कवि की चेतना यहाँ एक तटस्थ द्रष्टा की या निस्संग कलाकार की है। उसमें युगजीवन की प्रतिबद्धता या संसिक्ति नहीं है। कवि का यह दृष्टिकोण उसे अभिजात्य से मंडित तो कर देता है, किन्तु उसमें युगजीवन की अपेक्षा सी हो गई है। युग से असम्पृक्त रहकर केवल अभिजात्य खोजने का लक्ष्य अपने आप में गरिमामय और विराट होकर भी एकपक्षीय तो है ही। यों उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण उनके अनुसार तो ठीक ही है। वे जीवन द्रष्टा कवि हैं, पर उनका द्रष्टा जितना तटस्थ और निरपेक्ष है, वह समकालीन संदर्भों में कहाँ खड़ा होता है ? यह बताने की जरूरत नहीं, सोचने की बात है। मनुष्य की लघुता, उसकी सारी गतिविधियों और उसके सारे क्रिया–कलापों को विराट–चेतना में : 'इतिहास–पुरुष' में समायोजित करने का प्रयास प्राचीन और नवीन, चिरपुराण और चिरनवीन का संधिस्थल है।

संकलन की तीन कवितायें, ऋष्यशृंग, 'क्लियोपेट्रा का पत्र सीता के नाम' और 'नूरजहाँ' आख्यानक कविताएँ हैं। इनमें जो पात्र और संदर्भ हैं, उनमें उनके पुराणप्रथित और ऐतिहासिक रूप की ही रक्षा करने का प्रयास स्पष्ट झलकता है। कवि का आधुनिक बोध यहाँ सजग नहीं है और शायद यह उसका अभिप्रेत भी नहीं है। 'क्लियोपेट्रा' में कहीं–कहीं आधुनिक संवेदना का आभास झलकता है। क्लियो के माध्यम से कवि का यह कथन नवीन बोध का संस्पर्श करता जान पड़ता है :

> "है यह जीवन–जीवन का अहमास तीक्ष्णतर,
> शांति बड़ी है, किन्तु शांति से भी महान् है
> क्षुब्ध मनुज चेतना–जहाँ बिम्बित भुवनों की
> सारी हलचल, सभी शान है।"

'नूरजहाँ' कविता में भी कवि ने नूरजहाँ के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की सुरक्षा करते हुए उसके बौद्धिक परिपार्श्व को उभारा है। उसके जीवन के उतार–चढ़ाव और उसके मानसिक पक्ष के भीतरी पहलू को उजागर करने में

कवि ने बड़ी सतर्कता से काम लिया है। उसके शिथिल और अवसन्न जीवन का यह विम्ब देखिये जिसमें कवि काफ़ी सतर्क और मनोवैज्ञानिक हो गया है। जैसे नूरजहाँ के मानस की सारी उदासी और सारी क्रिया-प्रतिक्रिया इन शब्दों में वँध गयी है :

शायद जिन्दगी, एक अँधेरी और दिलचस्प भूल भुलैया है,
और प्रेम एक खूबसूरत ख्वाब।
और लैला मजनूँ का वृतान्त एक दिलपसन्द अफ़साना,
....या फिर यह कि शहन्शाह जहाँगीर और मलिका
नूरजहाँ ने
प्रेम के अमृत-आवेश को ठीक-ठीक नहीं जाना ?
सच यह कि तुमने पूरी मुझसे नहीं, मेरे रूप-यौवन की
शराब से प्यार किया,
और मैंने तुम्हारी आड़ से इतिहास के अल्हड़ प्रवाह की
लहरों से जी खोलकर खेल-खिलवाड़ किया !
सती नहीं हुई,
जो तुम्हारे साथ तय किये हुए रास्ते पर
मैंने ही छोड़े थे
अवाक्, विस्मय, ममत्व और भय से
देखने को रुकी रही-देखती रह गयी !

'इतिहास-पुरुष' का शिल्प एक आभिजात्य और गरिमा से संयुक्त है। भाषा और शैली में नवीनता होते हुए भी उसका शिल्प गरिमामय है। कहीं-कहीं उपमान और प्रतीक रीतिवादी भी हैं और पुराने भी, किन्तु उनका संदर्भगत प्रयोग फिर भी औचित्यपूर्ण लगता है। कहीं-कहीं तो पूरी की पूरी कविता रीतिवादी उपमानों के सहारे विकसित हुई है। इस पर भी यह नहीं माना जा सकता कि उसकी चेतना सस्ती और अतिरिक्त भावुकतापूर्ण है। उसकी भावुकता पर शिल्प का संयम चढ़ा हुआ है। कहीं-कहीं विम्ब बड़े संश्लिष्ट और जीवन्त हैं। कल्पना का सहारा लेकर कवि ने जहाँ दो विरोधी स्थितियों और विकल्पों का चित्रांकन किया है, वहाँ विम्ब बड़े ताजे और संश्लिप्ट हैं। उनकी संवेद्यता ग्राह्य और चेतन है :

'ये ऊँचे शैल शिखर
जिनके सफेद स्वच्छ बिलौरी फर्श पर

आ उषा अप्सरी
नये ज्योति भँवरों में किरणपगी नाचती'

या

स्मृति तेरी कोमल ज्यों पंखुड़ी गुलाब की
ओसकण छाँह पाली
और यह अटूट बिन्दु–क्षणों वाले काल की
नदी अथाह, काली

और भी :

वह मोहक प्रेयसी
स्मितियों के स्वर्णरजत प्रभादीप लिये साथ
बढ़ती संकल्पभरी
घने जलद–बालों के बीच इन्दुकला जैसा
छिपा–खिला चेहरा
चेतना सरोवर में घुस पाता नयी रूप–
लहरों का सेहरा,

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'इतिहास–पुरुष' के बिम्ब ताजे और संश्लिष्ट हैं। सम्पूर्ण कृति में मानव व्यक्तित्व के प्रति प्रदर्शित आस्था और चेतन विश्वास इतनी सघनता से चित्रित हुआ है कि ऐसा लगता ही नहीं कि संसार में कहीं उदासी, अवसाद, अकेलापन, अनास्था, कुंठा और क्षुब्ध मन-स्थितियों की स्थिति है। वस्तुत. यह अतिरिक्त आस्थावाद है। आस्था–मानव व्यक्तित्व में निष्ठा ठीक है, पर उसकी उपलब्धि के लिए जिन द्वन्द्वों, अन्त-विरोधों और दंशक स्थितियों से गुजरना पड़ता है, वे यहाँ सजगता के साथ नहीं उभरी हैं। उनका निषेधमात्र उनकी स्थिति का संकेतक नहीं हो सकता है। कोई भी विपरीत स्थितियों में नहीं रहना चाहता है, किन्तु यदि यही जीवन की वास्तविकता और एक अपरिहार्य संदर्भ हों तो इनसे बचा भी कैसे जा सकता है ? इनसे बचकर एक नयी आस्था की खोज अप्रतिबद्ध व्यक्ति की खोज है और मध्ययुगीन निस्संगता की वह स्थिति है जिसकी समकालीनता का प्रश्न भी सामने है।

०००

रवीन्द्रनाथ त्यागी

'कल्पवृक्ष'
'आदिमराग'

'कल्पवृक्ष' सन् ६५ मे प्रकाशित हुआ। यह ७६ कविताओं का संग्रह है। इसकी अधिकाश कविताएँ शिल्प और कथ्य के तालमेल की कविताएँ नही है। शिल्प के नाम पर इसमे चौंकाने वाले अप्रस्तुत और प्रतीक अवश्य मिल जायेंगे, किन्तु उनके द्वारा कवि जिस वस्तु को अभिव्यक्त करना चाहता है, वह नहीं हो सकी है। कथ्य के आधार पर इन कविताओं में दारिद्र्य ही अधिक मिलेगा। इसके दो कारण है : एक तो यह कि कवि कविता का प्रारंभ जिस जागरूक क्षण में करता है, वह कवितान्त तक बना नहीं रह सका है। कविता एक आवेश या स्फूर्ति के साथ शुरू होती है, किन्तु वह अन्त तक पहुँचने से पहले ही अपने हल्केपन का परिचय देने लगती है। दूसरी बात यह है कि अधिकाँश कविताओं मे शिल्पगत फिसलन है। कविता का शिल्प कथ्य के अनुरूप नहीं है। उसमें लापरवाही है और साथ ही एक ठडापन। सारे संग्रह में करीब आठ—दस कविताएँ ही ऐसी हैं जिनके बारे में कुछ कहा जा सकता है। झंझावात, स्टेशन पर वर्षा, अपने कवि के प्रति, आत्मघात, पहाड़ी रास्ता, विदा की शाम, रिक्शेवाले, बड़े आदमी का बजट और 'विद्रोह के क्षण' आदि अच्छी कविताएँ हैं। इनमे प्रेम, प्रकृति और जीवन के कुछेक संदर्भो को वाणी मिली है। प्रेम कवि की दृष्टि में अँट नही सका है। कुछ छोटी—मोटी अनुभूतियाँ ही यहाँ है। प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण सीधी और सपाट भाषा में हुआ है, किन्तु अप्रस्तुतों के अतिशय प्रयोग से उसकी सौन्दर्य

क्षमता दब सी गई है। बसन्त, चाँद, सुबह–शाम और रात्रि आदि को विषय बनाकर लिखी कविताओं में कहीं तो भोलापन है और कहीं वे कविता के लिए कविता के आधार पट पर लिखी गई हैं।

पहली कविता को ही लें स्पष्ट होता है कि उसमें जो मूल भाव है वह परिपक्व होने से पहले ही कविता में अवतरित हो गया है। कवि की अनुभूति संतुलित और परिपक्व होने से पहले जिस आवेशी क्षण में कविता में उतर गई है, उससे उसकी प्रौढ़ता खतरे में पड़ गई है। अभिव्यक्ति के लिए की गई यह लापरवाही और जल्दबाजी अच्छे कथ्य को भी बट्टे खाते में डाल देती है। 'दुर्दिन' 'कन्वोकेशन', 'खेत पके' और 'रात-रात भर' आदि कविताएँ इसी लापरवाही का नतीजा है। इनमें कविताओं की शुरूआत जिस अच्छे ढंग से हुई है, उतनी संश्लिष्टि और अन्विति कविता के अंत तक सुरक्षित नहीं रह सकी है। 'दुर्दिन' कविता में जो मार्मिक अनुभूति है, वह भाषा की असमर्थता के कारण निहायत फीकी हो गई है। ऊपर जिन कविताओं के नाम लिये गये हैं वे इसी शृंखला में आती हैं और अभिव्यक्तिगत लापरवाही का प्रमाण है। यों भी संग्रह की छोटी कविताओं में कोई दम नहीं है। न तो कोई मार्मिक संकेत हैं और न किसी सौन्दर्य की अनुभूति की प्रतिक्रिया ही इनमें है। एक उदाहरण काफी होगी :

लो, चाँद निकल आया
यहाँ से देखो पूरा दीखता है
ताड़ के दो पेड़ों बीच ..
बस और क्या कहूँ तुमसे।

'एक स्मृति' कविता अच्छी हो सकती थी, किन्तु उसमें अनुभूति की तीव्रता का अभाव उसे आघात पहुँचाता है। वह इसी से एकदम बेजान हो गई है। असल में अभिव्यक्ति के प्रति बरती गई लापरवाही से कई कविताएँ जो अच्छी बन सकती थी, बिल्कुल बेकार सिद्ध हुई हैं। एक विशेषता सारे संग्रह में जरूर हैं और वह यह कि अधिकांश कविताओं का प्रारम्भ बड़ा प्रभावशाली और जानदार है। कुछेक का प्रारम्भ देखिये :

१. कभी कभी सामने के फ्लेट की जिन्दगी
मुझे अपनी ओर खींचती है····

२. साँस की रफ्तार के तूफान में उड़ती हुई
एक गठरी चाम की

हड्डियाँ वे ढेर सारी
चद बूँदे खून की :

३. पाच बज गये, दफ्तरो के पिजरो से
हजारो परिन्दे (जो मुर्दा थे)
सहसा जीवित हो गये ...
पाँच बज गये....

'रिक्शेवाले' कविता मे मजदूरो की जिन्दगी का जो विम्व शुरू मे था, वह अत तक पहुँचते–पहुँचते विखर गया। 'विदा की शाम' और 'पहाड़ी रास्ता' कविताएँ अच्छी हैं। 'पहाड़ी रास्ता' मे वसन्त और प्रतीको के सहारे मनुष्य की नित्य रिक्त होती जिन्दगी का साकेतिक चित्र वडा सघन है। उसमे जिन्दगी की वीरानगी और अर्थहीनता का सकेत बड़ा मारक हे। "मैं कभी वसत था, पर मेरे चरण रुके, किसी एक पेड़ के पास, और वस वहाँ खड़े–खडे, मै पतझर हो गया।" कथ्य की व्यजना को विम्व ने जो मूर्तता प्रदान की है, वही कविता की प्राण चेतना हे। 'विदा की शाम' मे जीवन की उदासी और सूनेपन का सदर्भ भी प्रभावित करता है। सुवह की ताजगी शाम होते न होते विदाई के कारण दिन ढले की वारिश और मोमवत्ती पर सिमटते पतगे जैसे प्रतीको से चमक उठी ह और उदासी का पूरा विम्व स्पप्ट हो गया है। सारी उदासी जैसे वरामदे मे सिमट गई है . अकेले वरामदे मे। सग्रह की पहली कविता मे कवि की भावुक चेतना थी और दूसरी मे वही एकदम विपरीत स्थिति मे वदल जाती हे : 'झंझावत' मे शिल्प सगठन ह, एक सघनता है। 'झझावत' की ये पक्तियाँ देखिये जिनमे कथ्य का चेतन विम्व शिल्प के साथ मिलकर कितना सार्थक हो गया है। सारा परिदृश्य ही विम्वित हो उठा है .

रात की सड़को पर तूफान जा रहा ह
उसके भागते कदमो की प्रतिध्वनि
मेरी खिड़कियो के शीशे चटखा रही ह
उसके भय से
रात की मासूमियत किसी गुनाह मे गल गई हे
अँधेरा–अँधेरे से लड़ रहा ह :

किन्तु इसके अत मे नत्थी की गई यह पक्ति कि 'एक विदेशी कविता से कुछ प्रभावित' कविता की समग्रता पर प्रश्न चिह्न लगा देती हे। फिर भी

कविता अच्छी है। संग्रह की 'अपने कवि के प्रति', 'आत्मघात' और 'छुट्टी' शीर्षक कविताओं में कवि की आत्मचेतना–ग्रस्तता दिखाई देती है। कवित्व इसीलिए गायब हो गया है। यों संग्रह की अधिकांश कविताओं में बहुत सी अच्छी पंक्तियाँ हैं। पूरी की पूरी कविता के रूप में तो ८–१० कविताएँ ही ऐसी हैं जो कवि के कथ्य और शिल्प के बीच संयम और संतुलन की गवाह बनकर आई हैं। 'बिजनेस' जैसी कविताओं का व्यंग्य अच्छा है। उसमें बात सादे ढंग से कही गई है, पर प्रभाव मार्मिक है। 'कल्पवृक्ष' कविता भी अच्छी बन पड़ी है। उसके कथ्य की सम्प्रेषणीयता शिल्पगत सतर्कता से और भी अधिक ग्राह्य बन गई है। इसका कथ्य युद्धीय वातावरण और उससे ही सम्बद्ध कई प्रतिक्रियाओं से सम्पन्न है। कवि ने उसे गहरे अनुभव किया है और इसी से उसकी सच्चाई समझ में आती है। युद्ध की भयंकरता और उसके परिणाम कितने खौफनाक होते हैं, उनका संकेत इस कविता में है और कवि की यह प्रतिक्रिया भी एक संवेदनशील कवि की प्रतिक्रिया है :

लाखों आदमी यों ही मर जाते हैं
बिना अपनी इच्छा के ? वह कैसा कल्पवृक्ष है
जिसके फूलने के लिए, चांद, बसन्त, संगीत, यौवन सबका
खाद दे दिया जाता है।
और फल ? फल के नाम
लड़ाई में मरे लाखों नामों की सूचियाँ
स्तन कटी गर्भवती माताओं की सूचियाँ
जले खलिहान, उजड़ी इमारतों की सूचियाँ
और निकली आँखों और ऐंठी जीभों के चित्र
मरने से पहले के मरने के चित्र, फिर
प्लेग और मौत
युद्ध की मौत और युद्ध के बाद की शांति की मौत !

'आदिमराग' कल्पवृक्ष की तुलना से अच्छा संग्रह है। इसकी कविताएँ 'फोर्सफुल' हैं। इनमें जो बिखराव है, वह जिन्दगी के दाहिने हाथ पर खड़ा होने से इन्हें और भी शक्ति प्रदान करता है। 'कल्पवृक्ष' की असंगतियाँ यहाँ संयत हो गई हैं। प्रकृति का सौन्दर्य उसके मानव-सम्बद्ध बिम्ब, जीवन का संस्पर्श, व्यक्तित्व संपन्नता और जीवन के चंचल और स्थिर या निरन्तर जड़ होते जाते संदर्भों की टीस, बेचैनी और उल्लास, आदि सभी कुछ इस संग्रह

की कविताओं में बिखरा पड़ा है। शिल्पगत ताजगी, नवीन बोध और जिन्दगी की प्रेरणाओं को व्यक्त करने वाली सादा और वेपर्द भाषा इस संग्रह की विशेषताओं में से हैं। ६८ का यह संग्रह रवीन्द्रनाथ त्यागी का उल्लेखनीय संग्रह है। इसमें कवि बौद्धिकता की ओर बढ़ता दिखाई देता है। यही वजह है कि प्रकृति का सौन्दर्य आकर्षक होने के साथ-साथ किसी न किसी मानवीय संदर्भ से जुड़ा हुआ है। उसे जो चाँद कभी खिड़की से झाँकता बड़ा मोहक लगता था और उसकी स्मृतियों को और गहरा जाता था, वही अब 'अब तुम्हारी याद आने के लिए जरूरी नहीं चाँद' के बोध से सम्पृक्त हो गया है, जो सुवह, दोपहर और शाम उसके लिए एक अतिरिक्त आकर्षण के बिन्दु थे, वही अब जिन्दगी की व्यस्तता में बदल गये हैं। सभी कुछ जैसे अपना आकर्षण खो बैठा है : 'सुबह है हजामत का वक्त, दुपहर फाइल खुली छोड़ने का, शाम की गुलेल पर मुझे कोई फैंकता वापस, रात को सोता घोड़ा खड़ा-खड़ा' ऐसी पंक्तियाँ कई कविताओं में जमी बैठी हैं। यों कई जगहों पर सौन्दर्य के भरे पूरे विम्ब भी हैं, किन्तु अधिकांश मानव की स्थिति और परिस्थिति से अनिवार्यतः जुड़ हुए हैं। 'पतझर की पत्तियों जैसी धूप, गिरने लगी हमारे ऊपर, बर्फ से लदी झील, काँपने लगी धीरे–धीरे'।

नये शिल्प में वँधी इन कविताओं में यत्र-तत्र उदासी, ऊब, पश्चाताप और भय व अकेलेपन की अनुभूतियों के विम्ब भी मिलते हैं। कवि ने इन विम्बों को अप्रस्तुतों की नयी भूमिका पर तैयार किया है। ऊब की मनस्थिति का यह विम्ब और उसके लिए कवि की प्रतिक्रियात्मक मनःस्थिति का आलेख इससे अच्छा और क्या हो सकता था :

"ऊब की अलगनी पर, लटकती रहीं दो चीजें,
एक इतवार, दूसरे एक नंगी लड़की"

और स्मृतियों की कतार में खड़ा यह विम्ब जिसमें अवसाद और पीड़ा का दंश वोलती तस्वीर बन गया है, कितना सही और यथार्थ है :

चन्द्रमा का फूल खिला, वाँकुरी चाँद
मेरे सीने पर से, यकायक कोई घुड़सवार उतर गया,

जिन्दगी की जीर्णता और उससे उत्पन्न अवसाद भाव को कवि ने एक ऐसे अप्रस्तुत से संवेद्य बनाया है जो सहज ग्राह्य बन गया है। इसमें अतीत और वर्तमान की स्थितियों की कैसी बेजोड़ तुलना है :

अरसा पहले, मैं इस रास्ते से आया था,

तब मेरी जवानी, धोबी के धुले कपड़ों की तरह ताजी थी—
बुर्राक—
आज यह दफ्तरी कालर, कई दिन का पहना.....'।

समय की तेज दौड़ती रफ़्तार में जैसे सपनों की दुनियाँ—वह संसार जो उल्लास और चमक से भरा—पूरा था, वर्तमान परिवेश और उसकी व्यस्तता में आकर कितनी नीरस, गंदी और उबाने वाली हो गई है, यह तथ्य काव्यात्मक ढंग से उक्त पंक्तियों में बँध गया है। भविष्य के संदर्भ से कवि जिस विश्वास और नयी चेतना से भर उठा है, वह जब होगी तब होगी फिलहाल तो 'मन की नदी में कई बाँस डूबता दिन कमरे मे बन्द, हम कुछ न कुछ जरूर कर गुजरेंगे—प्यार या हत्या' की भावना से ही आन्दोलित उठा हैं। संग्रह की कविताओं में जिन्दगी की अस्थिरता, दुख का फैलाव, भूख, प्यास, बीमारी क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, लालच, व्यभिचार और पश्चाताप की अनुभूतियों को बड़ी सीधी और सरल भाषा में कहा गया है। करीब-करीब हर कविता में कवि जिन्दगी के और करीब आता गया है। आज की जिन्दगी में मनुष्य इन्सानियत से कितना दूर होता जा रहा है, उसके चारों ओर बढ़ती भीड़ और उदासी, जिन्दगी के ऊपर छाये अनगिनत अभिशाप और उनसे उत्पन्न निरर्थक स्थितियों को कवि ने सांकेतिक और प्रतीकात्मक शैली में पूरी सफाई से उतार दिया है। स्थिति कुछ ऐसी हो गई है कि मनुष्य के पश्चाताप और भय उसे बदनवारों और झाडफानूस की तरह लटके दिखाई देते हैं। इन्सान की चेतना जैसे मर गई है और उसकी स्थिति कुछ-कुछ ऐसी हो गई है :

'दूरियों का कफ़न ओढ़, तुम्हारा
चेहरा सो गया मुझ में।
पहिले मैं जेल और दफ्तर था,
फिर कब्रगाह भी हुआ।'

इस तरह की भयावह और कँपा देने वाली कितनी ही स्थितियों का संकेत 'आदिम राग' की कविताएँ देती हैं। स्पष्ट ही कवि पहले से अधिक जागरूक हो गया है। वह जिन्दगी को निकट से देख रहा है, किन्तु इन सभी स्थितियों का अंकन सांकेतिक ही है, इनमें कवि की साझेदारी उतनी नहीं है जितनी कि साठोत्तरी परिवेश में जन्मे कवियों में मिलती है। फिर भी कवि परिवेश के प्रति जागरूक तो है ही और इस जागरूकता में ही भविष्य

की संभावनाएँ भी छिपी हुई हैं। वह रोमानी परिवेश के निजी धरातल से हटकर सामाजिक धरातल पर आ गया है क्योंकि वह उदासी के कवच को जहरीली नील तरल में खुशी-खुशी भिगो चुका है। इतना ही क्यों वहतो यह साफ़-साफ कहता है :

तट के सबसे अकेले वृक्ष पर
अपने प्यार को मैंने
कील से ठोंक कर लटका दिया।

भाषा की सादगी और अप्रस्तुतों और प्रतीकों की विश्वसनीयता से मिलकर इस संग्रह का शिल्प वेजोड़ हो गया है। इसमें दैनिक जीवन के कितने ही सही संदर्भो को नये अप्रस्तुतों से अभिव्यक्ति मिली है, यह कृति की कमो-वेश सभी कविताओं से जाना जा सकता हैं। विखरी जिन्दगी को 'फोर्सफुल स्टाइल' में अभिव्यक्ति देने वाले कवि का शिल्प उसकी प्रगति और जिन्दगी को उत्कटता से देखने का प्रमाण है। मजे की बात यह है कि यह 'फोर्सफुल स्टाइल' सादा शब्दावली से ही तैयार किया गया है।

‘अजितकुमार’

ये फूल नहीं

अजितकुमार बहुत समय से नयी कविता लिखते आ रहे है। ‘ये फूल नहीं से पहले कवि के दो संग्रह और प्रकाशित हो चुके हैं। ‘अकेले कंठ की पुकार’ सन् १९५८ में और ‘अंकित होने दो’ १९६२ में। पहले के दोनों संग्रह उनके पूरे कच्चेपन और उसी में से फूटते प्रौढ़पन का अहसास दिलाते हैं। ‘अंकित होने दो’ की अधिकांश कविताएँ अच्छी हैं। वे मन ही मन दुहरती रहती हैं। उनमें एक भोली और निश्छद्म भावना का वेग है, सब कुछ को यों ही मासूमियत भरे ढंग से कहने के बाद की तृप्ति है। ‘ये फूल नही’ में भी यह निश्छद्म वृत्ति है और सबसे बड़ी बात यह है कि वे एकदम छलाँग लगाकर किसी आधुनिकता का वर्णन नहीं करते है। सहजता और ईमानदारी के साथ अपनी बात को कहने के विश्वासी ‘अजितकुमार’ न तो अतीत से एकदम कटे हुए है और न वर्तमान के हर जीवन्त क्षण या हर उस बिन्दु से सम्पृक्त है जो आज की युवा कविता में जरूरी गैर जरूरी ढंग से नत्थी होता जा रहा है। उनका युवा-बोध जीवन्त कवि का बोध है, उनकी आधुनिकता उनके ही ढंग की है। यही वजह है कि उनके कृतित्व में यदि एक ओर अतीत के लिए मोह है तो दूसरी ओर किन्हीं संदर्भो में उससे मुक्ति की माँग भी है। वे उसी संदर्भ से चिपके है जो हर बार उनके मानस में छाया रहता है या छाया रहा है। उतरे हुए ज्वार के पीछे छूट गई सीपियाँ चुनते-चुनते, मेरा मन भटककर उन स्मृतियों को टटोलने लगता है, जो मेरे जीवन में चढ़ते हुए

ज्वार के साथ जुड़ी है।' अजित की यह स्वीकृति उनके वर्तमान में ही अतीत होते जाने का एक कारण है। यह अलग बात है कि वह उससे चाह कर भी इसी तरह नहीं भाग पाता और इस तरह संग्रह की कविताओं में वह उसी कशमकश, उसी द्वन्द्वभूमि पर झटके खाता हुआ दिखाई देता है। 'नवागन्तुक' कविता की पृष्ठभूमि यही है। यों और भी कविताएँ है जिनमें कवि वर्तमान से पीछे की ओर लौट-लौट पड़ा है। उसे मधुवन, कलियों और पँखुरियों का सौन्दर्य किसी नयी स्फूर्ति से ही भर देता है।

अजित के इस संग्रह में एक ओर तो जीवन का वह रागात्मक संवेदन है जो उसकी सौन्दर्य-चेतना को स्पष्ट करता है और दूसरी ओर वर्तमान जीवन की उदासी, पीड़ा और अपरिचय भी है जो व्यक्ति को नित्य-प्रति खाये जा रहा है, वह संदर्भ भी है जो शोषण, स्वार्थ और व्यभिचार के सहारे खड़ा होने के कारण कवि की यथार्थ भावना को भी प्रमाणित करता है। रागात्मक संवेदन और यथार्थ जगत की वास्तविकताओं का सम्मिलित स्वर संग्रह की कविताओं में है। कही प्राकृतिक सौन्दर्य की छवियाँ हैं तो कहीं प्रकृति के निश्छल और प्रकृत रूप के बिम्ब है। उसके मन में कहीं गहरे वहुत गहरे एक आस्था की किरण है जो उनसे यह कहलाती है :—

मैं आशाओं से जीवित हूँ
मैं ठगा-ठगा सा देख रहा हूँ जितना सूनापन,
वह सब जादू से, क्षण भर में,
बन जायगा मधुवन

पता नहीं इस आस्था का प्रामाणिक आधार क्या है ? किन्तु यह आस्था बड़ी हल्की आस्था है। इससे कथन की वायवीयता ही सिद्ध होती है। ऐसा नहीं लगता कि कोई जिन्दगी को भोगने वाला या उसमें रहने वाला संघर्षशील व्यक्ति यह बात कह रहा है। फिर जादू से सूनेपन को मधुवन में बदलने की बात निरर्थक सी प्रतीत होती है, उसमें प्रभाव कम चलताऊपन ज्यादा है। 'हवा के झौंके' कविता की अनुभूति मार्मिक हो सकती है, किन्तु वह वर्तमान संदर्भों से कटी हुई होने के कारण कवि के अतीत मोह और रोमानी दृष्टिकोण की ही प्रतीक है। इसी तरह हवा के झौंकों का नहलाना तो ठीक है, किन्तु रह रहकर उसी की अनुभूति का मन में उभर-उभर आना कवि की परिवेशगत 'निस्संगता की गवाही है। ऐसी पंक्तियाँ संग्रह में कई जगह हैं। कवि ने इस तथ्य को स्वीकारा भी है। इसमें तो कोई शक नहीं

कि ये अनुभुतियाँ सहज, मार्मिक और मादक प्रभाव छोड़ती हैं, किन्तु क्या अब कविताओं से विकास का समय है ? क्या आदमी या संवेदनशील कवि इतना निस्संग हो सकता है कि स्मृति क्षणों के आधार पर कविता का पट बुने और फिर उसके औचित्य की सिद्धि के लिये खुद ही दलीलें भी दे। अजित का काव्य विकास ऐसे ही क्षणों में ठहरा सा लगता है।

जैसा मैंने कहा है अजित की काव्य-चेतना का एक सिरा यथार्थ से भी सम्पृक्त है। इस सम्पृक्ति में वह थकान, उदासी, अकेलापन, ऊब, पीड़ा और सांसारिक यंत्रणा, निरन्तर गहराती जाती रिक्तता की बात करता है, किन्तु वह बात भर है। किसी भी कविता में पूरा परिवेश आकार नहीं पा सका है। कहीं भी कवि उक्त स्थितियों का भोक्ता बनकर नहीं आया है। यह तो मानी हुई बात है कि केवल नाम गिनाने से या कविता में इनका संकेत देने से ही कवि कर्म समाप्त नहीं हो जाता। कवि से अपेक्षा की जाती है कि वह जो भी अनुभव करता है, उसे ऐसी कलात्मकता और अन्विति से प्रस्तुत करे कि वह काव्य भी लगे और उसकी वास्तविकता में भी किसी को शक न हो। आलोच्य संग्रह में कवि कई जगह ऐसा लिख देता है जिसमें अनुभूति की परिपक्वता का अभाव तो लक्षित होता ही है, वे शब्द या पंक्तियाँ जबरदस्ती लिखी गई लगती हैं :

प्राप्त हो गया, वह सब जिसका मैं पात्र था—
निर्वासन ! निर्वासन ! उस पर मेरा, नितांत मेरा अधिकार
हुआ,

'दुनियाँ' शीर्षक कविता की पीड़ा भी ऐसी बनावटी लगती है। शब्दों के उल्लेख भर से पीड़ा का कोई स्वरूप ही नहीं उभर सका है। इसी तरह ये पंक्तियाँ भी कितनी बेजान और भाव की हत्यारी है, यह देखा जा सकता है :

लेकिन यह घर
उफ ! यह कितना अँधेरा,
कैसा बंद-बंद उजाड़, मनहूस।

'उफ़', 'हाय', 'अरे जैसे प्रयोग कोई करिश्मा या जादू मंत्र नहीं है कि इनसे पीड़ा और उदासी के बिम्ब उभर सकें। उनके लिए काव्यानुभूति की संश्लिष्टता अपेक्षित होती है और वह कम से कम इस संग्रह में तो नहीं है। इससे तो पहले के संग्रह ही ज्यादा प्रभावकारी हैं। उदासी और अवसाद की अभिव्यंजक इस शैली को हिन्दी कविता बहुत पीछे धकेल चुकी है और अजित

का : एक संभावनाओं के कवि का इससे लगाव उसकी भाव–दरिद्रता के अति–रिक्त और क्या हो सकता है ? 'विन्टर थोट्स', 'गश्त', युग–भेद और 'पूँजी' जैसी कविताओं में भी अन्विति का अभाव है, विखरे भावों का वेमानी सा एकत्रीकरण है। 'विन्टर थोट्स' शीर्षक की अँग्रेजियत समझ में नहीं आती। यदि वह भी कैसे ही मान ली जाये तो इस कविता के कथ्य् का भी प्रश्न है। इतनी ठंडी और वेजान शिल्प की कविता संग्रह में दूसरी नहीं है 'सड़क', 'महानगर' 'कहाँ' 'भ्रमवश', 'सुलभ', 'स्वीकृतियाँ' 'जप-तप', 'लय', 'झरना एक आलाप', 'ये फूल नहीं' 'कभी देखा है ?' और 'कब्रिस्तान से लगे एक घर को देखकर' आदि संग्रह की अच्छी कविताएँ हैं : कृत्रिमता से दूर हैं, अन्विति और शिल्प संयम का उदाहरण है और इनका अधिकांश भाग कवि के आस-पास के परिवेश से जुड़ा हुआ है। इनमें कही व्यंग्य है, कहीं जिन्दगी का खोखलापन है और कहीं-कहीं निरंतर जड़ होती जा रही जिन्दगी के चित्र हैं। कहीं दिल्ली की दुनियाँ है, कहीं वहाँ के मानवीय सम्वन्धों का प्रतिरूप है और कहीं 'भूख से दम तोड़ती जिन्दगी है तो कहीं महानगरों का व्यस्तता वोध है। कहीं जिन्दगी की वे सर्द स्थितियाँ ह जहाँ मनुष्य 'ठंडे मन से, उदासीन होकर जी रहा है, कहीं वदले हुए संदर्भ हैं, कहीं शून्यता है और कहीं ऊब और वैचेन जिन्दगी के चित्र हैं। कहीं–कहीं अकेलेपन, व व्यंग्य के सहारे अभिव्यक्ति जड़ता व रिक्तता की स्थितियों; के विम्व खासे अच्छे वन पड़े हैं :

१. सभी चुप-चुप !, अकेले,
किसी अनुपस्थित हाथ को, शून्य में टटोलते हुए,
२. खीसें निपोरता एक व्यक्ति, भुनाता हुआ, पाता हुआ,
वदले में धर्म और शक्ति,
३. जिसे समझे थे भगत, नाम उसके ही लिख गया है सारा जगत
वही इसे जपता है, वाकी तो सारा जमाना–महज तपता है,
४. चीजे अव सिर्फ, गुजरी हुई चीजों को,
गुंजाकर, चुक जाती हैं।

आज यह जिन्दगी धुँधली, सीलन भरी और उदास व अकेली स्थितियों को जन्म देने वाली और अधिकाधिक टेढ़ी-मेढ़ी होती जा रही है। कवि को इस वात का अहसास है। (ये फूल नहीं) यही ऐसे कतिपय ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि की अनुभूतियाँ शिल्प से मिलकर अपनी सघनता और वास्तविकता की छाप छोड़ती हैं। कुल मिलाकर अजित का यह संग्रह उनकी काव्य-यात्रा के

विकास के आगे प्रश्न चिन्ह ही लगाता है। सारी कृति में कथ्यगत अनुपस्थिति के कारण शिल्पगत परिपक्वता भी नहीं आ सकी है। सचाई यह है कि जिन्दगी के विविध संदर्भो का तीव्रतम और गहरा अहसास कवि को नहीं है। यह जिन्दगी के किनारे-किनारे टहलता हुआ ही कुछ फल तोड़ लाया है और कह यह रहा है कि 'ये फूल नहीं हैं'। अनुभूति की तीव्रता, परिवेश का दवाव और जिन्दगी का सही अहसास कवि को स्वतः ही अभिव्यक्ति में सक्षम वना देता है। शब्द स्वयं आकर वोध से लिपट जाते हैं। यह वात तो ठीक है कि कवि ने जो भी अनुभूत, अर्द्ध अनुभूत कहा है उसमें सादगी है, निश्छद्मता भी है, किन्तु शिल्पगत संयम और गंभीरता की कमी के कारण—'अनुभव को पतला वनाने के प्रयत्नों के ही कारण वह नहीं छूता है।

○•○

'विपिनकुमार'

नंग पैर :

विपिनकुमार अग्रवाल की कविताएँ नयी कविता के अंकों में बराबर प्रकाशित होती रही है। उनकी कविताऐं आधुनिक-बोध की कविताएँ हैं। ऊपर से पढ़ने में वे सतही और खिलवाड़ सी लग सकती हैं, किन्तु ऐसी हैं नहीं। उनकी गहराई हमें छूती है। वे कम कहते हैं, किन्तु तीखा और यथार्थ होता है। इसके लिए वैज्ञानिक बोध उनकी सहायता करता है। वर्ण्य-विषय की साधारणता से तीव्र और प्रभावकारी संकेत देना उनकी काव्यकला का अनिवार्य गुण है। बनावट और आरोपित स्थितियों से दूर विपिन की शैली में एक संतुलन और संश्लिष्टि से प्रेरित भाव-बोध का अहसास बराबर दिखाई देता है। उनमें अभिव्यक्तिगत आवेश नहीं, आक्रोश की मुद्रा नहीं है। फिर भी उनकी कविताएँ प्रभाव की जिस घनता और विलक्षणता से युक्त हैं, वह मार्के की चीज है। सीधे और रोजमर्रा के काम की शब्दावली का सहारा लेकर अनुभूति की संवेद्यता को बढ़ाने का काम उनकी कविताऐं बखूबी करती हैं। 'नंगे पैर' उनकी कविताओं का उल्लेखनीय संग्रह है। उनकी अब तक की प्रकाशित सभी कविताएँ इसमें नहीं है। कुछेक अच्छी कविताएँ कतिपय पत्र-पत्रिकाओं में भी बिखरी पड़ी हैं और विवेचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसी कविताओं में 'मोटर, लाल बत्तियाँ और अभिमान,' 'जरूरत से ज्यादा,' 'अभागा' और 'अभी' आदि कविताओं का शिल्प और नवीन संदर्भ उनकी आधुनिकता का परिचायक है। कई बार ऐसा होता है कि हमारी अनुभूति का चरम क्षण इतने आवेग के साथ कौंध जाता है कि उसे ज्यों का त्यों संवेद्य बनाना कवि के वश के बाहर हो जाता है। उसकी सही संप्रेषणीयता के लिए

शब्दों की तलाश वेमानी और अनुभूत अनुभव को वोझिल भी कर देती है और उसे दवा भी देती है। यह स्थिति आधुनिक कवि के लिए वड़ी असह्य और दंशक होती है। विपिन भी इस स्थिति से गुजरते हैं और असंतोप का अनुभव करते हुए अपने सर्जनात्मक अनुभव को संश्लिष्टि प्रदान करने के लिए प्रयत्नरत दिखाई देते है। वह क्षण जिसकी दंशक स्थिति वैचेनी को जन्म देती है; कवि की 'जरूरत से ज्यादा' कविता में व्यक्त हुई है और यही 'मोटर लाल वत्तियाँ और अभिमान की इन पंक्तियों में :

वजाय रोशनी के
छाया से
जो वात कहले
उसकी पहुँच ज्यादा है।

विपिन का प्रस्तुत संग्रह भी कवि के कितने ही सर्जनात्मक अनुभवों को सघन से सघनतर रूप में और एक पूर्णता के साथ व्यक्त करता है। उल्लेखनीय यह है कि कवि ने कम से कम शब्दों और कम से कम पंक्तियों में अपनी अनुभूतियों को संवेद्य वनाने की कोशिश की है। अनावश्यक विस्तार और शब्दों व संदर्भो की फिजूलखर्ची किये विना ही वह अपने कथ्य को संवेद्य वनाने का भरसक प्रयत्न करता रहा है। 'अभी' नामक कविता जो आलोच्य संग्रह की ग्यारहवीं कविता है, कवि की 'एफिशियेसी' का प्रमाण है। इसमें वस्तु और शिल्प की परवाह न करता हुआ कवि सीधे ढंग से अपनी अनुभूति को शब्दों में वाँधता है। यहाँ न तो शिल्प के प्रति सतर्कता है और न उसका विषय ही विशिष्ट है। वह अपनी अनुभूति को उसकी समग्र संवेद्यता के साथ कुछ इस ढंग से कहता है कि पाठक भी उस अनुभूति का एक सजग भागीदार—'कान्शस पार्टनर' वन जाता है :

फैंकी हुई चकई की डोर-सी, तनी सड़कें
न जाने कव लिपट जायें।
अपने दाँव की इन्तजारी में खड़, हरे पेड
कव वाहें चढ़ा अपने कत्थई हाथों से
वीते वसंत को दुलराते रह जायें
कौन जाने हम तुम, वहुत खुश
कल हँसने में शर्मायें।

संग्रह में जो कविताएँ हैं वे वहुत दूर तक इस वात को प्रमाणित करती हैं कि कवि अपनी अनुभूतियों में विना कुछ भी जोड़े-घटाये 'ओरीजनल' रूप में पाठकों तक भेजता है। अतिरिक्त भावुकता और अनावश्यक शब्द-संयोजन उसकी प्रकृति के विपरीत है। 'सेल्फ कन्ट्रोल' उनमें है, कथन की अतिशयता उसमें नहीं है। सीमित कथनकौशल और कविता गत संगति पर उनका हमेशा ध्यान रहा है। इसका यह अर्थ लगाना वेकार की वात होगी कि कवि की अनुभूतियों का क्षेत्र संकीर्णता और परिसीमन से युक्त है। असल में उनमे व्यंजित अनुभव तो वहुत हैं और काफी गहरे भी हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति आंतरिक संघटना की पूरी हिमायत करती है। संग्रह को पलटने से जाहिर होता है कि कविताओं में जो कथ्य है वह उतना नहीं या उतना चेतन नहीं जितना कि समझा जाता है। कवि कथ्य से ज्यादा सही और हूवहू अंकन में, चाहे जो स्थिति हो, परिस्थिति हो या कोई मनः स्थिति हो, विश्वास रखता है। फिर भी संग्रह की कविताओं में जगह–जगह जीवन-वोध वर्तमान जीवन की विसंगति, जड़ता, ऊव और अकेलेपन की वोधक पंक्तियाँ हैं। कही सौन्दर्य के विम्व है तो कहीं प्रेम की अनछुई क्वारी अनु–भूतयाँ हैं, किन्तु सवके चित्रण में कवि वरावर वनावटीपन और आरोपित स्थितियों से दूर रहा है। यहाँ सव कुछ उसका अनुभूत है, उसके भीतर निरन्तर गुजरती स्थितियों के संदर्भ हैं। इन कविताओं में कहीं व्यंग्य हैं' कहीं छोटे से वाक्य से सारी अनुभूति को सीधे सपाट कथनों से संवेद्य वनाने का प्रयास है। 'मन्दिर' नामक कविता की अनुभूति किसी शिल्पी की रचना नहीं है, फिर भी उसका मर्म कितना साफ़ और वेलाग है :

देखो यह पूजा का स्थान है
यहाँ शोर मत करो
देखो यह फर्श पर चाँदी के रुपये गड़े है

यहाँ इस नजर से मत देखो
देखो यहाँ अगरवत्ती जल रही है

नहा धोकर भीतर पाँव धरो
तुम कौन हो, ओ–रामदीन, अन्दर वढ़ो

और तुम, हाँ तुम्हीं से कह रहा हूँ, सुनते नहीं
क्या तुम साले भगवान हो ?

जिन्दगी में जो जड़ता और एक तरह की अर्थहीनता है, उसका चित्रण 'अभिनेता' कविता में है। "उठकर बैठा तो अपना वदन बेहद चिपटा लगा, अरे यह तो साँस लेने से भी नहीं फूलता, अलग होने की हर कोशिश नाकामयाब होती जा रही है।" 'दुपहर' कविता में व्यस्तता बोध और उसके बाद की शून्यता—सन्नाटा जो बाहरी जगत् में जितना है, उतना ही भीतर भी है, सीधे सीधे कह दिया गया है। बीच-बीच में असह्य सुनसान, अफवाह सा—फैल जाता है।" पंक्ति में सारे अनुभव पिरो दिये गये हैं। कवि की मितभाषिता और संश्लिष्टता के सहारे व्यक्त कितना ही अव्यक्त अनुभूतियाँ अकेली पंक्ति में देखते ही बनती हैं। 'सहजन का पेड़' और 'पैठ' कविताओं का कथ्य—संदर्भ भी जिन्दगी के कितना करीब है। और तो और उनमें कवि की अनुभूतियों में सिमटा हुआ मनुष्य कितनी संश्लिष्टता से उभरा है, यह देखने की चीज़ है। आज के आदमी की स्थिति का कितना सही चित्र है यह: 'पिछड़े हुए देश, उजड़े हुए शहर, लालटेन जलाते कस्बे, या बिना स्टेशन के गाँव हो,.... पेड़ हो, जेल में लगे दरवाजे हो।' कहकर मनुष्य के भीतर की स्थिति को जिस ढंग से व्यक्त किया गया है, वह अद्भुत है। यहाँ मनुष्य की जड़ता, उदासी और रिक्तता तो है ही, 'बिना स्टेशन के गाँव' कहकर आदमी की उस निरर्थकता को भी कह दिया गया है जिसकी अनुपयुक्तता देखकर कोई भी उसकी ओर देखता तक नहीं है। निरन्तर उपेक्षित मानव का संदर्भ केवल कुछ सार्थक शब्दों से विश्वसनीय लगता है। इसी तरह 'व्यक्तित्व' कविता में मनुष्य का जो परिचय है, वह सभी कुछ किसी न किसी की नक्ल है। उसका अपनापन अपना परिचय कहीं नहीं है। सब दूसरों से उधार लिया हुआ है :

सभी कुछ तो किसी न किसी की
नक्ल है, लगता है महज़
अपनी गठन को तुम 'मैं' कहते हो !

इसी तरह 'सुनो' कविता में मनुष्य की हर पर्त को उघाड़ता हुआ कवि उसके असली चेहरे को बेनकाब कर देता है। मनुष्य की जिन्दगी किसी न किसी सहारे है, वह बेकार ही अपने हाथों को हवा में हिलाता रहता है। जिन्दगी की कृत्रिमता ने उनकी यह हालत करदी है।

'तुम अपने चेहरे पर सदा बारह बजा रहे हो
तुम एक पल प्रति मील दौड़कर भी खड़े हो

तुम नाहक अपने को
अब भी आदमी कहने पर अड़े हो !"

'सिलसिला' कविता जिन्दगी की निरन्तर होती पुनरावृत्ति और व्यर्थता को संकेतित करती है तो 'अब बस' कविता में मनुष्य की वर्तमान जीवनगत विसंगति पर और अपूर्णता व अधूरेपन पर कही गई ये पंक्तियाँ कितनी पूर्ण और सार्थक हैं :

इस जनम में तो, आधा डूबता हूँ आधा कूदता हूँ,
आधा गिरता हूँ, आधा निकाला जाता हूँ
आधा खड़ा रहता हूँ, आधा चलता हूँ ।

'हिसाव' कविता में सघनता और मितभापिता से अमित अनुभवों की अमित व्यंजनाएँ हैं । ढेर सारे अनुभव : गरीवी, अकेलापन, निरूपायता और आत्मग्रस्तता छोटी सी कविता में सिमट गये हैं । यहाँ विस्तृति नहीं, फैलाव नहीं फिर भी जिन्दगी के कितने ही संदर्भ एक साथ सिमट गये हैं । भावातिरेक से बचते हुए, अपने अनुभवों को केन्द्रस्थ करते हुए और क्षण भर में जिन्दगी के विविध अनुभवों को 'अन्डरस्टेटमेन्ट्स' से–मित कथनों से....अधूरे कथनों से नहीं, कवि संवेद्यता प्रकट करता है :

अपने कमरे को वन्दकर
दीवारों पर भयानक आकृतियाँ खींचकर
जहाँ वातायन नहीं है वहाँ से
वाहर देखने का प्रयत्न कर
फर्श पर खड़िया से चौराहा बना
उसके वीच खड़ा
विना कोहनी का कोट पहने
मैं दुखी अपाहिज अकेला गरीव
कबसे हिसाब लगा रहा हूँ
हजार आँखें रोयें एक बार
और एक आँख रोये हजार वार
तो कौनसा दुख ज्यादा है ?

'युगवोध' में मानवीय पीड़ा का दंश है : 'अँधेरे में गुपचप मर गया मेरा युग ।' 'जीवनी' में चुके हुए आदमी का, 'मैं' कविता में जीवनव्यापी रिक्तता और अर्थ-हीनता का, 'स्टिल लाइफ़' में निर्जीव जीवन स्थितियों और

सूनेपन का तथा '29वीं वर्षगाँठ पर' में एकान्त बोध और दुनियाँ के प्रति उसका एकसा विश्वास व्यक्त हुआ है। 'स्थिति' में आज के मानव की परि-स्थिति का अंकन है और कवितान्त में कवि सारे सूनेपन को अपने में समेटता हुआ प्रतीक्षाकुल हो उठा है, किन्तु तुरन्त ही वह सोचता है : 'मैं और मेरा आसपास, कौन खरीदेगा, मुझे प्रदर्शनी में टाँगना मत, मैं तुम्हारी गृहस्थी हूँ।' 'के प्रति' में जिन्दगी की ऊब और एकरस स्थितियों का मार्मिक अंकन है। सारे परिवेश की व्यस्तता और उसके बाद अनायास प्राप्त लाचार और एकरस स्थिति में रहने की अभिशप्त जीवन-कथा बड़ी सादगी से उभरी है। 'अदाँत' में जिन्दगी की उस तामझाम का आलेख है जो कोशिशों के बाद जुटाई जाती है, किन्तु फिर भी वह हमारी जिन्दगी का आम हिस्सा न होकर एक निरर्थक और बनावटी सिद्ध होती है। संग्रह में और भी अनेक कविताएँ हैं जो विपिन के इस बोध को व्यक्त करती हैं। उसकी छोटी-छोटी कविताओं में ही सारा परिवेश सना जाता है। उसकी एक अनुभूति में अतीत-वर्तमान और सारा इतिहास एक साथ मिलकर अनुभव की अद्वितीयता को संवेद्य बना देता है। इतनी सघन और विस्तृत अनुभूति के लिए भी कवि ने न किसी अलंकरण को अपनाया है और न किसी कल्पना के भावातिरेक का सहारा ही लिया है। केवल थोड़े से शब्दों के सहारे सारी अनुभूति मूर्तित हो उठी है क्योंकि उसकी अनुभूति संघटित है : उसे कवि ने पूरी तरह पचा लिया है। 'न्यूयार्क पर तीन दृष्टियाँ' कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ इसका जीवित प्रमाण हैं। एक दर्शक की तरह उसका यह अनुभव क्षण कितना सघन से सघनतर है।

अजब जंगल है—
धूप के कतरे को तरसती
होड़ लेती, उठती मीनारों का
बड़ा घना जाल है
मकड़ी के जालों का।
जानवरों के नाद से भी भयानक है
यह शोर—बिना गले की आवाजों का !
कैसा दम घुटता है,
हर कदम पर जान का खतरा है
यहाँ—
न सूरज है !

न चाँद है !
न हवा है !

इसी कविता में आगे वढ़ता हुआ कवि का अनुभव समग्र यान्त्रिक और प्राविधिक सभ्यता की 'एव्सर्डिटी' को इतिहास और पुराण प्रतीकों का सहारा लेकर व्यक्त करता है। समूचे वर्णन में आन्तरिक संघटना और मितभाषिता को देखा जा सकता है : 'गगनचुम्बी मीनारें खड़ी हैं, शिव की जटाओं सी, एक ही विश्वास पर, भविष्य में निहित है। फिर से मानव का जन्म' यह कविता संग्रह की महत्वपूर्ण कविता है। संग्रह की अन्तिम लम्बी कविता' नंगे पैर, एक बड़े 'कैनवास' को लेकर लिखी गई है। उसमें कितने ही सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व सांस्कृतिक संदर्भो से एक परिदृश्य तैयार हुआ है। यह कविता व्यक्ति में समष्टि के संपुजन की कविता है। यह समष्टि और परिवेश की सारी खोखली स्थितियाँ, निरर्थक प्रयासों की पूरी तस्वीर है जिस पर न कला का रंग है और न कलाकार के शिल्प का, सव कुछ ज्यों का त्यों कविता में है। छोटी-छोटी अनुभूतियों का वेगानापन कविता में संकेतित है। एक ही कविता में पाँच कविताओं को अपने में समेटे सारे समाज, आस-पड़ौस और समूचा देश अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ विम्वित हो उठा है। इस देश की जिन्दगी, जिन्दगी जीने का ढंग, जिन्दगी के वेहिसाव दर्द, उलाहने, ईर्ष्या, द्वेप, और घृणाभाव, लड़ाई-झगड़े और 'सिर फुटौवल' के साथ-साथ यहाँ की कृत्रिमता और निर्जीव सजीवता पर किया गया व्यंग्य वड़ा तीखा है। देश का वर्तमान परिदृश्य अतीत के संकेतों से जैसे और गाढ़े रंग में खिल उठा है। वर्तमान में जिन्दगी की मनहूसियत, अकेलापन, अपरिचय और ऊव कविता में समाविष्ट है। कतिपय पंक्तियाँ देखिये :

1. जिन्दा रहने के लिये, कम से कम क्या चाहिए
एक बार, एक सादा कागज, एक कलम और एक
अकेलापन।
इस देश के लिये इतना काफ़ी है वैसे सच पूछो तो
इनके वीच माँगों की पूरी फेहरिश्त है !

हमारा देश कृत्रिम से कृत्रिम होता जा रहा है। हम विदेशी मेहमानों के लिये जितना करते हैं, उतना ही अपने निरन्तर जड़ होते जाते इन्सान की ओर से वेफिक्र हैं और आवश्यकतानुसार हम इस जड़ता को दिखावे के लिये

पत्नियों से ढँकते हैं, मुकुट पहनते हैं। वास्तव में मनुष्य अँधेरी सीलन भरी गुफाओं से निकली खण्डित मूर्ति भर रह गया है :

2. एक लाल आये, फिर एक लाल आये,
अब आयी हैं लली, जिनके बगीचे में,
पंडितों की भविष्यवाणी, को करता चरितार्थ आ
बैठ गया है तख्ते आराम पर, हरामी नत्थू ।
हाथ पर हाथ धरता, बढ़ता चला जा रहा है जत्था ।
आज आने वाले हैं मेहमान सुदूर से
वह नहीं जाता तो रहने दो
जड़ है ढंक दो उसे पन्नियों से
पहनादे मुकुट मालायें या कह दो
खण्डित मूर्ति है प्रस्तर की निकली हुई
हमारी अँधेरी सीलन-भरी आदि गुफ़ाओं से !

कविता के अन्तिम अंश में इतिहास और पुराण के संदर्भों और पात्रों का सहारा लेकर कवि जीवन के अकेलेपन, विसंगति और कितनी ही भयावह और करुण स्थितियों का चित्रण करता है। देश के आदमी की जड़ता, वीरानगी अजनबीयत और असहाय स्थितियों को कवि ने व्यंग्य से उजागर किया है। इस क्रिया में वह सारे जीवन को देख गया है। सारा परिवेश उसकी अनुभूति में समा गया है और वह उसे सीधी-सपाट भाषा में कहता गया है :

अपने ही शहर में, अपने ही देश में,
अपनी ही दुनियाँ में, अपनों के बीच खोजता अपने को,
सपने को, तुमको,
मैं जा रहा हूँ, सब कुछ बड़ा डरावना लग रहा है,
मेरी सिर्फ इतनी गलती है
कि कुत्तों के बीच जिन्दा हूँ।

कवि की अनुभूति का कैमरा और आगे बढ़ता है और एक साथ ही वह देश की पहले और अब की स्थिति की तुलना करता है। उसे वर्तमान में लगता है कि कभी यह 'असली देश था' अब नहीं है। अब तो इस खाली संसार में उसका दम घुटता है और वह कह उठता है :

अभागे फ़ह्यान सा, मैं कहाँ आ गया हूँ,

जहाँ से पढ़ने लोग बाहर जाते हैं
जहाँ विद्यार्थी नकल करते हैं
जहाँ मकानों में ताले पड़े रहते हैं
जहाँ प्रजा पर असाधारण कर हैं
लगता है देर से पहुँचा हूँ
....

इस बेहद खाली संसार में
मेरा दम घुट रहा है
इसके पहिले कि मैं चीखूँ
मुझे निकल जाने दो, मैं अब
गुमसुम, पैबंददार, हक्का-बक्का, कलमुँहा,....

कहने की आवश्यकता नहीं कि संग्रह में कवि अकेला होकर भी अपने अनुभव में समूचे समाज, देश और उस समूचे परिवेश को लिये जीवित है जो उसे हर क्षण कुछ और अनुभव दे जाता है। कविताओं में कहीं भी बनावट नहीं, कहीं भी व्यर्थ की चीख-पुकार 'और वेमतलब आवेश नहीं है। सभी कुछ सहज ढंग से मितभापिता और विलक्षणता से कह दिया गया है। कवि की भाषा के शब्द सीधे जीवन से लिये गये हैं, वे कितने आत्मीय और अपने हैं, यह प्रत्येक कविता में देखा जा सकता है। भाषा में उसने पुरानी रूढ़ियों को तोड़ा है, कथ्य में 'रिपीटशन' से वह बचा है और अपने अनुभूत को ही सही ढंग से कहा है। व्यर्थ का आरोपण न भाषा में है, न कथ्य में। भाषा के सम्बन्ध से कोई यह शिकायत कर सकता है कि उसमें 'पालिश' नहीं है या 'पालिश' के बाद की चमक नहीं है, किन्तु यह शिकायत तब बेकार हो जाती है जब कवि हमें अपने अनुभव का साझीदार बनाता हुआ हमारी ही स्थिति--मनस्थिति और जिन्दगी को हमारे ही शब्दों में कहता जाता है। प्रतीकों और उपमानों की नवीनता संग्रह में केवल वैचित्र्य के नाम पर की गई कोशिश के रूप में कहीं नहीं दिखेगी, वह तो अनुभूति की समग्रता के लिए स्वतः ही आई सहज और विश्वस्त नवीनता है।

वीरेन्द्रकुमार जैन

यातना का सूर्यपुरुष :

वीरेन्द्रकुमार जैन की कविताओं के दो संग्रह प्रकाश में आ चुके है : एक में ५७ तक की कविताएँ थी और दूसरे इसमें ६८ तक की कविताएँ हैं। 'यातना का सूर्य-पुरुष' एक रोमानी कवि का सग्रह है। इसकी अधिकांश कविताएँ राग-बोध और उसमें ही डूबती--उतरती मन.स्थिति की कविताएँ हैं। कवि भूमिका में यह तो कहता है कि 'यातना का सूर्य पुरुष' ऐसे समय प्रकाश में आ रहा है, जब मानव चेतना के सभी सीमान्त एक दिशाहारा अन्धकार में खो गये हैं। इतिहास के किसी भी पूर्वगामी काल में चेतना के सभी स्तरों पर यातना का ऐसा अन्तिम और नग्न साक्षात्कार मनुष्य ने पहले कभी नहीं किया। सारी सृष्टि जैसे एक विराट प्रश्नचिह्न से आच्छादित है 'किन्तु कविताओं में मानव--चेतना का वह यातनामय संदर्भ पूरी सचाई और गहराई के साथ नहीं उभर सका है। कवि मानव की पीड़ा, बेबसी, भूख, वासना, पराजय, हताशा और कुंठाओं की बात करता है। कभी उसमें संवेद्यता होती है और कभी केवल ये सभी अनुभूतियाँ आरोपित लगती है। वर्तमान जीवन की भूख-प्यास, व्यथा-कथा और बेबसी को अभिव्यक्त करने वाली संग्रह में ५--६ कविताएँ ही सफल हैं। शेष में कवि की रागात्मक चेतना का प्रसार है। वस्तुत: कवि की चेतना का सही स्वर ऐसी ही रोमानी कविताओं में उभरा है। जहाँ कहीं रोमानी संदर्भ है, वहीं कवि हृदय को छूता है और उसकी पक्तियाँ मन के किसी कोने में प्रवेश कर खलबली मचा देती हैं।

प्रेम, समर्पण, आकांक्षा, रूप सौन्दर्य और मिलनातुर क्षणों को सहज और शिष्ट शब्दावली में कवि ने वाणी दी है। 'विराटनारी : विराट पुरुष के प्रति' कविता में नारी का पुरुष के लिये किया गया आमंत्रण और उसकी प्रतीक्षाकुलता व्यंजित है तो 'तुम्हारी मतवाली बोली का अन्दाज' में नारी के ममतालु कंठ की आवाज और उसी में सर्वस्व पाने की चाह बलवती हो गई है। 'शायद मुझमें पानी कुछ ज्यादा है' में दिलों की सीप में प्यार नाजुक मोती बनकर काँप रहा है तो 'अरविन्द और फ्रायड के बीच' कविता में प्रेम, वासना और आत्मा का द्वन्द्व है। काम और आत्मा के इस द्वन्द्व में कवि वासना को गर्हित नहीं मानता है बल्कि एक अनिवार्यता मानता है, तभी तो वह कहता है :

तुम्हारे सीनों में अगाध, अनिवार
आलिंगन का समन्दर बन कर उछलने लगता है :
तुम्हारी बाँहों में पानी पानी होकर बहने को बेताब
लाख लाख बिजलियों सा तड़प—तड़प उठता हूँ।

द्वन्द्व की परिणति बोधक पंक्तियाँ ये हैं :

लेकिन अगले दिन बिल चुका देने के बावजूद,
अरविन्द की सावित्री के बदले
फ्रायड़ का वाल्यूम लेकर
लाचार लौट आना पड़ा।

रोमानी भाव की रौ में लिखी गई कविताओं में 'कहाँ चलूँ : कैसे चलूँ' 'देखूँ कहाँ जो पाती हों' 'झील सा सपना : स्फटिक की कली', 'मेरा होश लेती जाओ, 'पावस, दूरियाँ और अमृता', 'आज तुम मेरे पास आयीं' 'आत्मा का मदन: श्री कृष्ण चेतना', और 'पुनरागमन' आदि ही कविताएँ प्रमुख हैं। 'विराट—पुरुष और विराट नारी कविता कवि की 'देवयानी और दिलरुबा' कविता की याद दिलाती है। इसमें चिन्ता, आकांक्षा, प्रतीक्षा, हर्ष, चपलता, प्रिय को सान्निध्य लालसा के बिम्ब पूरी संश्लिष्टता के साथ उभरे हैं। प्रेयसी की दृष्टि में प्रिय 'अनन्तों का अनिवारयात्रिक है, यायावर प्रियतम है, मरण-विजय का हठीला दावेदार है, प्रिया के अमरत्व लाभ का चिर संधानी योगीश्वर है और मदन विजेता चिर युवा शंकर है। एक नारी और एक पुरुष के सन्दर्भ से इस कविता में प्रेम की कितनी ही स्थितियाँ चित्रित हैं जो सहसा आकृष्ट कर लेती हैं। कितनी तीव्र कामना और लालसा का ज्वार इन पंक्तियों से फूटा पड़ता है :

जब तुम अपनी दुर्दान्त विजय-वासना से
स्वयं ही जाते हो हार :
और थककर, एक सर्वहारा, आत्महारा
अशरण निरीह बालक से
अपना निरालम्ब सिर ढालने को अनजाने ही
दिशा दिशा में सिरहाना खोजने लगते हो :
और लोक-लोकान्तरों के असंख्य रहस्यों को
अपनी चूड़ियों की झंकार में खोलती सी
मेरी बाहों मे तुम्हारी वह मासूम घायल
कबूतर सी सूरत भर आती है :
और मेरे उरोजों के बीच के अतल अगाध में
औचक ही तुम्हें अपनी सत्ता की
थाह मिल जाती है।

\+ \+ \+

निश्चय ही मै तुम्हें रोकना नहीं चाहूँगी
मगर काश। तुम सिर्फ यह जान पाते
कि मेरी युग युगांतरों की चिर प्रतीक्षाकुल आँखें
तुम्हारी यात्रा के समूचे अन्तरिक्ष में छा गयी है :

सभी रोमानी बोध की कविताओं में कवि की चेतना नारी के विविध रूपों : प्रेयसी, प्रिया, ममतालु, माँ और सहधर्मिणी सभी के संदर्भ से रोमांटिक हो उठी है। अधिकांश कविताओं में तरल आकांक्षा और मधुर क्षणों की उपस्थिति के संदर्भ हैं। कवि की सौन्दर्य-चेतना में रूप, आकर्षण, ऐन्द्रिय सुख और उसी से प्रेरित जिन्दगी का अहसास प्रबल है :

कि जब से तुम आ गई हो
तो कहीं कुछ बीतता ही नहीं है,
रीतता ही नहीं है।
....

कौन कहता है कि देह के रक्तमांस में
जडत्व की, तमस की बाधा है, सीमा है मर्यादा है :
तुम्हारे आलिंगन की रस-समाधि में लीन होकर
मैं देह को देही में और देही को देह में
रूपांतरित करने का परम रसायन पा गया हूँ........

संग्रह की चार कविताएँ 'नेहरू,' 'जान केनेडी,' 'शांतिप्रिय द्विवेदी' और 'निराला' को सम्बोधित हैं। इनमें कवि की इन व्यक्तित्वों के प्रति आस्था और श्रद्धा व्यक्त हुई है। चारों की मानवतावादी दृष्टि का सश्रद्ध और सहज भाव से उल्लेख किया गया है। संग्रह में कतिपय कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें जिन्दगी की लाचारी, हताशा, अवरोधमयी स्थितियों, एकाकीपन, घना अंधकार, दिन-प्रतिदिन की पीड़ा और पश्चिमी संस्कृति व सभ्यता के प्रभाववश आयी कृत्रिमता, फैशनपरस्ती, विनाश-वृत्ति, दुनियाँ के हर पल बढ़ते ग़मों और निपीड़ित मानवता के ध्वंस पर निर्माण का स्वर सुना और महसूस किया जा सकता है। भूख, बेकारी, बेबसी, व्यभिचार, और कितनी ही पीड़क और त्रासक स्थितियों के चित्र भी कविताओं में हैं। कहीं "मानवता की आत्मा के ऊजड़, बंजर ढूहों में रो रहे पराजित प्यार और घायल अहंकारों के पागल श्वान हैं" तो कहीं 'अभावों की सर्वान्त भेदी छैनी' मानवीय चेतना को भीतर ही भीतर काट रही है। कहीं 'आँचलों का सूखा दूध' है जो रत्नों के बाजार में बिकते-बिकाते 'जमकर पत्थर हो गया है' तो कहीं कवि दुनियाँ की बेपरदा, बेनकाब और बेहिसाब पस्ती, फितरत और शै को आरपार देखता चला गया है। एक शब्द में वह 'दुनियाँ की बुझी हुई शराब को' पीता दिखाई देता है और उघाड़ता जाता है उस कृत्रिम और हरकती दुनियाँ की एक-एक पर्त जिसके प्रभाव में पलकर सारा समाज व देश ही विनाश की मुहिम पर खड़ा एक हल्के से धक्के की राह देख रहा है :

तुम्हारे वात्सल्य और प्यार ने भी,
तुम्हारे चुम्बन, आलिंगन और दुलार में भी
हाईड्रोजन बम के महानाश की गंध आती है :
भभकते बारूद की एक लपट सी आती है !
इसी से तुम्हारी हर साँस कण्डीशन्ड है,
तुम्हारे अस्तित्व का हर अन्दाज कण्डीशण्ड है
इसी से तुम एयरकंडीशन में बैठते हो।

समूची सृष्टि यातना और दंश को भोग रही है, प्रश्नों और समस्याओं को फाँसी के फंदे तले जीवित ही मृत हो गई है। मानव-नियति अरक्षित, अशरण और अकेलेपन की पीड़ा मे विलख रही है। कवि की चेतना में सब कुछ समा गया है और कवि कहता है कि "यह कैसी आत्मघाती परवशता है तुम्हारी हमारी—कि मेरी गर्दन तुम्हारी फाँसी बन गई है और तुम्हारी गर्दन

मेरी फ़ाँसी होकर रह गई है।" इतना ही क्यों मनुष्य जिस अकेलेपन की पीड़ा और आत्म निर्वासित स्थितियों को भोग रहा है उस सबका चित्र यहाँ मौजूद है :

"मै यहाँ इस कदर अकिंचन और अकेला हूँ
इस कदर अनजाना, अनपहचाना हूँ
कि मेरे होने न होने की
यहाँ कोई मानी नहीं, मतलव नहीं"

और—

जहाँ छाती से लगे परम मित्र की आलिंगन भरी वाँह ही
पीछे से पीठ में छुरी भौक देती है
जहाँ हर उपकार के गाल पर
अपकार की करारी थप्पड़ मारी जाती है

इन समस्त यातनाओं का दंश सहता हुआ भी कवि निराश नहीं है। उसे वैश्विक संकट की घड़ी में भी मानव-चेतना के सूर्योदय की आशा है क्योंकि उसे विश्वास है कि आज नहीं तो कल वह सूरज अवश्य उगेगा जो सव कुछ को जलाकर मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करेगा, 'इन दूरान्त लहरों की विजन सीढ़ियों पर' वह सूर्योदयी आस्था अवश्य उतरेगी, मनुष्य का अनिवार्य चरण आगे वढ़ेगा और जव सभी सीमाएँ टूट जायेंगी तव उसे मिलेगा :

"अनपहुँचे ग्रहनक्षत्रों की प्लेटों में
सजा हुआ है हमारी कल की सुवह का नाश्ता"

कुल मिलाकर कवि रोमानी संस्कारों का ही कवि है। उसके युग-वोध में भी : दुनियाँ की सही तस्वीर में भी उसकी शैली रोमांटिक कवि की ही शैली है। यह शैली ही उसके आधुनिक वोध और उसके स्रोत रिक्त जीवन की तसवीरों को सतही वना देती है। कवि की भाषा और शैली में विस्तार अधिक है, संश्लिष्टि कम है। वह हर संदर्भ में आवेश लेकर चला है, हर कविता अंत होते न होते सूर्योदयी भावना से भर उठी है। यह अतिरेकी व सूर्योदयी आस्था उसके हर अनुभव की गहराई को हलका कर देती है और जिन्दगी की विसंगतियों में संगति का आभास ज़्यादा होने लगता है। वड़ी कविताओं में विखराव का दोष भी इसी कारण आ गया है। वह अनुभूति को आवेश में वदल देता। फलतः सारा अनुभव विखर कर एक आदर्श मानवतावादी दृष्टि में ही परिणति पा जाता है।

०००

'बालकृष्णराव'

अर्धशती

बालकृष्ण राव ने कविताएँ एक रौ में नहीं लिखी हैं, सोच-सोचकर और संयत होकर लिखी हैं। यही वजह है कि 'अर्धशती' में कवि आवेश और आक्रोश से बचा है। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि के भीतर छटपटाहट नहीं या वर्तमान जीवन की विसंगतियों और टूट-फूट के प्रति उसकी चेतना सजग नहीं है। वह एक जागरूक कवि की भाँति सब कुछ को देखता है, प्रश्नों और समस्याओं से भी लड़ता है, किन्तु उसे सभी कुछ कविता के लिए उपयुक्त नह लगता है। सारी विषमता और दमघोंट स्थिति से वह प्रतिबद्ध है, पर फिर भी उसकी दृष्टि में उसका वर्णन–अंकन अभीष्ट नहीं है; अभीष्ट है उस सबसे मुक्ति, खुली हवा में घूमना और किसी विस्मित कर देने वाली आस्था से भर-कर जीवन बिताना। यही संदर्भ 'अर्धशती' की कविताओं में है और यही वजह है कि कवि आक्रोशी मुद्रा से मुक्त है। वह निजी मुद्रा में समष्टि की मुद्रा को मिलाकर जिस सामाजिक बोध का परिचय देता है, वह सहज और स्वच्छ है। ये गुण उसकी कविताओं में कहीं भी देखे जा सकते हैं। भाषा उतनी ही शिष्ट और आत्मीय है जितनी सहज, निश्छल और आत्मीय उनकी अनुभूतियाँ हैं। कवि के अप्रस्तुत और प्रतीक अनुभूतियों को गोद में खिलाते हैं; किन्तु उनका बोझ न पाठक को मालूम पड़ता है और न कवि को। उनकी स्वच्छ ताजगी में एक ऐसा आकर्षण है कि कविता पढ़ते समय लगता ही नहीं कि किसी पंक्ति के बीच से कोई प्रतीक या अप्रस्तुत गुजर गया।

कौन जाने शेष फिर भी, 'एक नूतन स्वप्न की संभावना रह जाय' का विश्वासी कवि मुक्ति के लिए लालायित है। 'अभिशप्त अहिल्या की कला' को वह मुक्ति देना चाहता है। सोयी कला को जगाना—कच्ची नींद से नहीं—जड़ता से जगाना, मुक्ति-कामना का संदर्भ है और इसमें "हो गई मुक्त, कर परित्याग, पत्थर के अनगिन टुकड़ों का, तर गयी कला" का भाव है। मुक्ति कामना के बाद दूसरा महत्वपूर्ण संदर्भ है आवेशहीनता और सहजता। सौन्दर्य के चित्रों में स्निग्ध संयम है और जीवन के सांकेतिक चित्रों में आस्थावादी कवि का चिन्तन है। युगीन संदर्भों को निजी स्तर पर भोग कर पूर्ण अनुभव-क्षणों में अभिव्यक्ति देना बालकृष्ण राव की विशेषता है। वे एक से अनेक की ओर बढ़ते हैं। उनमें 'रिपीटीशन' नहीं है, वे उबाते नहीं हैं और आस्था-वादी होकर भी अतिरिक्त आस्थावाद उनमें नहीं हैं। वे हर स्थिति को उसकी सहजता में ग्रहण करते हैं। भटकन उनकी कविताओं में नहीं है। क्यों हो? वे तो 'घने अँधेरे में भी राह पा लेते हैं और उन्हें विश्वास है कि :

घिरा रहे आकाश
मिलेगा फिर भी तुमको
इन्हीं घटाओं में, अब तक
मुसकाने का अवकाश

राव साहब की कविताओं में प्रकृति का संदर्भ भी है और वह इतना सहज है कि उसका वर्णन करते समय कवि पाठकों को भी भुला देता है कि वह सौन्दर्य की बात कर रहा है। उस सबका कारण उनका धैर्य है, संयम है। वे हर क्षण में धैर्य के बाँध की सीमा में ही रहते हैं। यही वजह है कि वेदना में भी आनंद का अहसास, रात में भी प्रकाश किरण और बेबसी में भी एक निष्ठा उनका हाथ पकडे रहती है। कवि का आधुनिक बोध सीमित भले ही हो, फिर भी उसमें व्यक्ति और परिवेश का अटूट सम्बन्ध व्यक्त हुआ है :

"एक ने ही पूछा था, जिज्ञासा सबकी थी—
उत्तर की एक को, अपेक्षा है सबको समाधान की।"

यों भी कवि का विश्वास है कि आज समाजव्यापी बीमारी और विसंगतियों के निराकरण के लिए उनके अधिकाधिक निकट आना जरूरी है। यह नैकट्य बोध ही जीवन है, निजता से निकलकर परिवेश की ओर की गई ताक-झाँक है :

दवा चाहते हो ? तो आओ,
और जरा, कुछ और जरा, कुछ और जरा
नजदीक दर्द के

कितनी सघनता और संश्लिष्टि है ? बात को हड़बड़ी में कह देने और रूखी-सूखी भाषा में कह देने की शैली राव साहब की नहीं है। उनके हर अनुभव में खरापन है और शिल्प संयत हैं, किन्तु यह शिल्प कई बार उनके आदर्श रोमान का परिचय भी देता है।

०००

किरण जैन

'स्वर परिवेश के' और 'यात्रा और यात्रा' :

'स्वर परिवेश' किरण जैन की कविताओं का पहला संग्रह है। उनका निजी परिवेश: जिसमें बाहरे झाँकने के लिए झरोखे भी हैं और कठिनाइयाँ भी हैं। अनुभूतियों के स्वर काफ़ी निजी हैं; फिर भी बाहर और आस-पास का बहुत कुछ इन कविताओं में सिमट गया है। इनमें नारीजनित सस्ती भावुकता भी है और एक मध्यवर्गीय नारी की दैनंदिनी भी। नारी जीवन की छोटी से छोटी स्थितियों का बिम्बांकन मन को छूता है क्योंकि इनमें निजी खट्टी-मिट्ठी अनुभूतियों को तो स्थान मिला ही है साथ ही घर से बाहर : सड़क, कॉलेज, बाजार और इन सबको मिलाती घर-गृहस्थी के विविध बिम्ब भी उभरे हैं। कुछेक कविताओं में परम्परा से मिली वसीयत के प्रति घृणा और हल्का विद्रोही स्वर भी है, किन्तु वह जैसे निजी परिवेश के स्वरों में खो गया है। हाँ, इसे व्यक्त करने वाली भंगिमा बिल्कुल अछूती है। (आओ इस संदूक को खोलें) अपने ही परिवेश के प्रति अधिक सचेत भाव तथा आज की व्यस्त, मशीनी, तेज रफ्तार से घूमती (एक और दिन) और निरन्तर अंधी सुरंग में 'बिलाती' जाती जिन्दगी की ऊब, उदासी और अक्सर दुहरायी जाने वाली स्थितियों की अभिव्यक्ति प्रभावित करती है :

जिन्दगी एक रफ्तार है
किसी अंधी सुरंग में
लगातार समाती हुई
दिनों की एक कतार है........।

दो एक कविताओं में जीवन व्यापी विवशता, एकरसता और अनचाही जिम्मेदारियों व नैतिक सामाजिक दायित्वों को चुपचाप निभाते जाने वाली स्थिति का मार्मिक अंकन है तो कुछेक कविताओं में रोमानी अनुभूतियाँ हैं : अधिकतर वियोग की या उसी से मिलती-जुलती कच्ची भावुकता की जिसमें नयेपन का लेश भी नहीं है। जीवन दम छोड़ भाग रहा है। व्यस्तता बढ़ती जा रही है : यहाँ तक कि दिल में उठने वाली उमंगों तक को देखने की फ़ुरसत नहीं है। यह भाव 'अजन्मी' कविता में बड़ी सहज और स्वस्थ शैली में उभरा है। नागरिक जीवन की ऊँची और कर्मरत जिन्दगी ने जैसे यह व्यस्तता दी है वैसे ही तनाव, दाग और खरोंच भी, पर कवयित्री ने इन सबको निजी जिन्दगी के आइने में ज्यादा देखा हैं। अतः कविताएँ सीमित वृत्त में बँधती चली गई हैं। उनमें आरम्भिक असफलता और अनगढ़पन है। वे गहरी कम उथली ज्यादा हैं। कहने का ढंग सीधा है। वे वहाँ ज्यादा प्रभावशाली हैं जहाँ कवयित्री ने अपने रोज-मर्रा के परिवेश को उजागर किया है। 'गर्मी के सूरज' की अनुभूति की अभिव्यंजना में अपने व्यावसायिक परिवेश का बिम्ब कितनी संश्लिष्टता से उभरा है :

> परेशान हो अन्त में
> टीचर ने
> पढ़ाई चोर मुँह जोर
> शरारती बालक को
> खड़ा कर दिया बैंच पर, जो उबल कर क्रोध से,
> सारे दिन घूमता रहा सबको, शोले बरसाता रहा आग के,
> फिर नज़र बचाकर सबकी, गायब हो गया चुपके से,
> पश्चिम की खिड़की में।

यदि कवयित्री निजी परिवेश को लक्ष्मण रेखा न मानकर आगे बढ़ती तो समकालीन बोध को संभवतः विस्तार मिलता। वह परिवेश के प्रति ईमानदार रहती तो उसका बोध और भी विश्वसनीय होता। 'यात्रा और यात्रा' में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कवयित्री का परिवेश पहले की अपेक्षा चौड़ा हुआ है। यद्यपि मूल संस्कार वही हैं और वह अपनी राग दृष्टि में ही ज्यादा सच्ची और ईमानदार है फिर भी संग्रह का दूसरा खण्ड : 'यात्राएँ' बाहरी परिवेश से जुड़ता है। पहले खण्ड में उसके निजी परिवेश की यात्रा है। कोमल अनुभूतियाँ, पारिवारिक संदर्भ और दैनिक जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म

क्षणों को कलात्मक अनुभव के सहारे अभिव्यक्ति मिली है। 'विसंगति', 'ललक' 'चुम्बन' 'तुम्हारी आवाज' 'चेतना से' 'सम्बन्धों की खटास', बहुत दिन बाद और 'वर्तमान के गमले' कविताएँ अच्छी हैं। इनमें प्रेम, दर्द, उदासी और भीतरी टूटन से लेकर मिलन और विरह के क्षणों की सांकेतिक अभिव्यक्ति भी है और सारी स्थितियों का सहज और आत्मीय विश्लेषण भी है। एक रस जिन्दगी की जड़ता से मुक्ति की कामना भी है और मिलन क्षणों की ऊष्मा भी है। यही वजह है कि इस प्यार से गुजरते हुए उसे किसी अन्य मौसम की आवाज सुनाई नहीं देती है। इतना ही क्यों प्रेम की मादकता कुछ इसलिए भी बढ़ गई है:

तुम्हारे शब्द, जो तुमने राह चलते मज़ाक में,
मेरे कानों पर अपने होठ रख, हौले से फुसफुसा दिये थे,
मुझमें कहीं गहरे उतर गये हैं।

इस खण्ड की सबसे अच्छी कविता 'सम्बन्धों की खटास' है। इसमें उपेक्षा-मौन उपेक्षा के तन्तुओं से बुनी गई क्षणों की रस्सी के बीच में पड़ी खटास की गाँठे अनुभूत हैं, सच्ची हैं। सामान्यतः इस खण्ड की कविताओं में मन का उफ़ान है जिसमें कविता कहीं खो गई है। शिल्प और अनुभूति के समायोजन का अभाव तो खटकता ही है, अनुभूतियों की परिपक्वता भी नहीं है। अपवादों की बात अलग है। दूसरे खण्ड की यात्रा बाह्य परिवेश की की यात्रा है जो घर से शुरू होकर सारे आस-पड़ौस और समूचे समाज तक फैलने का आभास देती है। वर्तमान परिवेश की आपाधापी, यंत्रणा, ऊब, रिक्तता और अभिशप्त व यांत्रिक जीवन सभी को कविताओं में समेटने का प्रयास किया गया है, किन्तु संस्कार संस्कार ही होते हैं और प्रयास संभावनाओं के द्वार खटखटाता तो है, किन्तु वे खुलकर यथार्थ नहीं बन पाते हैं। इस खण्ड की करीब बीस कविताएँ तो निजी यात्रा के दौर से गुजरती हैं, उनमें गहरा परिवेश नहीं है। इनकी पीड़ा और यंत्रणा का बोझ निजी परिवेश से सम्बद्ध है। बाहरी परिवेश का नाम भर, उल्लेख भर है, उसे जिया नहीं गया, भोगा नहीं .गया है। इसी से वह कृत्रिम और निरर्थक प्रलाप सा लगता है। वही एक ही बात और एक ही शैली में डूबा हुआ बेजान कथ्य यहाँ है। कवयित्री बात तो नगरबोध और महानगर की करती है और उसमें होता नहीं है निजीपरिवेश भी। कविता के नाम पर यह छलावा, यह छद्म कविताओं को कितनी उम्र दे सकेगा? फिर शुरु से आखिर तक रोमांस

ही रोमांस, दर्द ही दर्द ? बाहरी परिवेश से कटी हुई ये कविताएँ कविताएँ भी नहीं लगती हैं। हाँ, तीसरे खण्ड में दो तीन अच्छी कविताएँ हैं : 'वर्ष की अन्तिम साँझ', 'पैमाना' और 'तहखाने'। शेष कविताओं में बिखराव है, अन्विति का अभाव है।

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि किरण जैन को अभी रास्ता नहीं मालूम। गन्तव्य से बेखबर, परिवेश से अप्रतिबद्ध और निजी संवेदनाओं के चौखटे में जड़ी उनकी कविताएँ एक ही स्थिति की कविताएँ हैं, परिवार और घर की कविताएँ हैं। आज के संदर्भ से इन कविताओं में ईमानदारी और अनुभवों का फैलाव नहीं है। एक ओर यातना का दंश और अभिशप्त जिन्दगी को झेलता हुआ समाज और दूसरी ओर उस सबसे कटी हुई ये कविताएँ ? जिन्दगी के नाम पर, यथार्थ के नाम पर हमें क्या देती है ? इनका बोध कितना अन्तर्मुखी है ? यह अन्तर्मुखता तोड़े बिना और परिवेश के प्रति ईमानदारी बरते बिना कविता कितनी बेमानी लगती है, यह इन संग्रहों से बखूबी सिद्ध हो जाता है।

०००

प्रेमलता वर्मा

सुइयों के पैरहन :

प्रेमलता वर्मा का संग्रह किरण की अपेक्षा अधिक आश्वस्त करता है। उनकी भावी संभावनाओं का संकेत भी इसमें निहित है। कितना फ़र्क है दोनों कवयित्रियों में। एक निजी परिवेश में ही खो जाना चाहती है और उसकी मुद्रा पीड़ा और निरीहता की है जबकि श्रीमती वर्मा भी नारी होकर मध्यवर्गीय जिन्दगी को पास से देखती है। यों नारी जीवन की कच्ची-पक्की अनुभूतियाँ यहाँ भी हैं। दर्द, बेचैनी और दैनिक संदर्भ यहाँ भी है, पर यहाँ कवयित्री इनसे हताश नहीं और अपने सम्बन्धों की खटास को किसी सिल पर नहीं पीसती है। वह सब कुछ होकर भी साहस और निश्चय की कविताएँ लिखती है। शैली में कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं, सब कुछ बेबाक और बेपर्द। इतना ही क्यों कहीं-कहीं तो पुरुषोचित आवेश भी कविताओं में झलकता है। जिन्दगी के कई संदर्भों से सम्बद्ध ये कविताएँ निजी होकर भी परिवेश से कटी हुई नहीं हैं। जीवन के बहुविध संदर्भ अलग-अलग शैली में हर कहीं झाँकते हुए नज़र आते हैं। संग्रह के नाम की सार्थकता कई कविताओं से सिद्ध होती है। नारी जीवन की पीड़ा और विवशता तो यहाँ है ही, नश्तर चुभोते कतिपय सामाजिक संदर्भ भी हैं "दिमाग में भेड़िये के नाख़ून चुभे हुए खुरचते…", "उजड़े हुए अतीत के, मुड़ते हुए, भविष्य की प्रत्याशा में, हर वर्तमान, यूंही विष हो जाया करता है।" "और लाचारी, उगाई गई है—किसी गहरी खाद से"। असल में आज की जिन्दगी में जो खालीपन और अर्थहीनता भरती जा रही है वह भी प्रेमलता की कविताओं

में जगह पा गया है। आज आदमी का चेहरा बदल गया है। युग के अभिशापों की स्याही से आदमी के चेहरे पर जो लिखावट खुद व खुद खुदती जा रही है वह उसके परिवेश में सब कहीं है :

उन सबके चेहरों पर—
और पूरे व्यक्तित्व के परिवेश में
जो विद्रूप, गर्व, उपेक्षा, नफ़रत उपहास,
अपरिचय, कुतूहल से रंगे थे—
एक ही इबारत लिखी हुई थी—
हम सब एक हैं।

एकाध स्थल पर देश की आजादी से सम्बंधित कुछेक ऐसी पंक्तियाँ भी संग्रह में हैं जिनमें हमारी-हमारे देश की स्वातंत्र्योत्तर उपलब्धि, जो प्रदर्शन और आत्मीय सम्बन्धों के गहराते जाने से एक शून्यता भर हैं, एक खोखला दर्द बनकर रह गई है, कविताओं में मिल जाती है। निजी परिवेश और खासकर नारी जीवन का परिवेश तो कविताओं का प्रमुख विषय ही है। कवयित्री ने पूरी साहसिकता और निर्ममता के साथ हर अनुभव को वाणी दी है। उसने हरेक उस पीड़ा और उदासी व लाचारी को व्यक्त किया है जो हमारी जिन्दगी के पर्याय बन गये है। 'एकशाम' कविता की रिक्तता और निरर्थकता व 'हर सुबह के पूर्व' कविता में चित्रित विवशता और अनिवार्यतः घटित क्रमिकता अच्छी शैली में लिपटकर सामने आती है। संग्रह की भाषा भी अनुभूतियों की तरह वेपर्द और संकोचहीन है। उसमें कोमलता ज्यादा है, कठोरता कम। शब्द रंगे हुए अधिक हैं, उनकी हूबहू स्थिति को सकारने का प्रयास यहाँ नहीं है। विम्बों में कहीं-कहीं संश्लिष्टता और औचित्य की रक्षा की गई है। कहीं-कहीं अप्रस्तुत बड़े मार्मिक वन पड़े हैं।

१. वड़े दिनों तक भुनाकर खाया, पुरानी यादों को,
२. एक टूटा हुआ वाल, आज की शाम।

कुल मिलाकर संग्रह की कविताएँ पठनीय हैं। उनमें निजी परिवेश को ही ज्यादा स्थान मिला है, परन्तु कवयित्री का सामाजिक बोध भी जाग्रत है। साथ ही आस्थावादी दृष्टि भी उसके पास है जो अँधेरे को पार करने की एक मात्र साधिका है।

○○

दुर्गावती सिंह

कहीं खुला आकाश नहीं

प्रस्तुत संग्रह में भी किरण जैन और प्रेमलता वर्मा की तरह का ही परिवेश है : वही प्यार, वही पारिवारिक दर्द, वही आशा-निराशा के झौंकों के बीच झूलती जिन्दगी और मन के पोर-पोर में समाया निजी परिवेश। परिवेश से उत्पन्न भटकाव, खामोशी और अन्तहीन खामोशी के चित्र कविताओं की सम्पत्ति हैं। ये कविताएँ नये और पुराने के बीच की कविताएँ हैं। यही वजह है कि इनमें एक ओर छायावादी भाव-संस्कार हैं और एक ओर परिवेश से उत्पन्न त्रास और वेदना के नये भावबोध में लिपटे बिम्ब। संग्रह का समग्र प्रभाव रोमानी है। यह रोमानी सदर्भ भी दैनिक पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध मध्यवर्गीय जीवन की चिन्ता और परेशानियों का संग्रह है। कविताओं में गाँव से शहर और शहर से महानगरों की जिन्दगी जिसमें अपना परिवार और निजी संसार है : कहीं कल्पित और कहीं यथार्थ लगती है। आस्था-अनास्था के सारे संदर्भ यहाँ एक ऐसे संसार की कहानी कहते हैं जिनमें परिवेश से ज्यादा निजी जीवन के संदर्भ अधिक हैं। परिवेश व्यापी जड़ता और संत्रस्त स्थितियों के कतिपय बिम्ब प्रभावित कहते हैं : "बँधी हूँ इतिहास से/नियति से/और ऐसी एक जड़ता से जिसे मैंने आश्रय के नाम पर स्वीकारा है/" उसके मन में "हर प्रश्न चिन्ह कील की तरह उठा, इस टूटे पटरे में कस देने से, उत्तर बन जाता है, क्योंकि तब कुछ बोझ ग्रहण कर लेने में समर्थ हो जाता है।" वह मुक्ति में भी कैद का अहसास लिये हुए है। तभी तो धुआँ और अँधेरे

कमरे की घुटन और कातरता अब उसका पीछा करती है। वह भीतर ही भीतर कहीं कुछ जड़ता महसूस करती है और "एक दूसरे के शब्द, एक दूसरे तक पहुँच कर, एक दूसरे के नहीं रह जाते, और न अपने ही बन पाते हैं।" यह अपरिचय, यह अजनबीयत जिस संत्रास को जन्म देता है, वह भी निजी परिवेश की ही देन है। ऐसी स्थिति में 'विश्वास के कबूतर पंख फड़फड़ा कहीं दूर उड़ जाते हैं।'

प्रकृति की मादक छवियाँ, प्रेम की संतप्त वेदना और कमरे की घुटन ही इन कविताओं में है, बाह्य परिवेश की अनुपस्थिति इन भावों को गहराती है। भाषा में सहजता और उससे बने बिम्ब कहीं-कहीं बड़े आकर्षक हैं :

लेटा हुआ, सड़कों पर कुहरा,
अब, उठ रहा अँगड़ाई लेता।

कुल मिलाकर भाषा की सादगी और कच्ची-पक्की शब्दावली प्रतीकों और अप्रस्तुतों को परंपरागत रूप और उनसे अभिव्यक्त स्मृति का परिवेश बाहरी परिवेश को अलग काट देता है, केवल निष्कर्ष के नाम पर बचता है 'स्मृति-पुष्प'। आधुनिक बोध से कटी हुई ये कविताएँ कवयित्री की सीमा भी है और उपलब्धि भी।

◇◇◇

शकुन्त माथुर

'अभी और कुछ'

शकुंत माथुर भावुक कवयित्री हैं। 'चाँदनी चूनर' के बाद 'अभी और कुछ' तक उनकी कविता में थोड़ा फ़र्क दिखाई देता है। रोमानी भाव-बोध और उसी से लिपटी-चिपटी मनस्थितियों के सूक्ष्म चित्र उनकी कविताओं में बिखरे हुए हैं। हाँ कहीं कहीं ऐसा लगता है कि 'चाँदनी चूनर' के ही धरातल पर अभी वे हैं और 'अभी और कुछ' में और कुछ न होकर वही वही है सिर्फ शैली में निखार और परिष्कार अवश्य है। संग्रह की अधिकांश कविताओं में अन्य कवयित्रियों की ही भाँति नारी-जीवन के अक्स ही ज्यादा है। मध्य-वर्गीय नारी की प्रतीक्षा, तृप्ति-अतृप्ति, आस्था-अनास्था, प्यार, दर्द, बेचैनी और कुछ पाने की ललक हर कहीं खुली किताब की तरह कविताओं में देखी जा सकती है। अधिकांश कविताओं में उनका अन्तरंग संसार, न कुछ को ही सब कुछ समझने का भाव और निजी परिवेश की बहुत करीब से ली गई अछूती तसवीरें जगह-जगह टँकी हुई हैं। यह टाँकना यों ही नहीं है। इनमें उनकी मनस्थिति, आस-पडौस और दैनिक जीवन सहज शिल्प का सहारा लेता हुआ उभरा है। न कहीं बनावट है और न कोई आरोपण ही।

प्रेम की ऐकान्तिकता, एकनिष्ठता और समर्पण के भाव-बिम्ब मन को छूते हैं: 'सुनहली मछली' 'ये मुस्कान', 'प्रीत की पुकार' और 'प्रेम का रहस्य' आदि कविताएँ इसी प्रामाणिकता की गवाही देती हैं। प्रेम में प्रतीक्षा व उसी में डूबते रहने की तृप्ति का अहसास और दर्द में बिखर-बिखर कर स्वयं दर्द बनते कविताओं जाने की अनुभूतियाँ कतिपय कविताओं के प्रभाव को दूना कर देती है।

कीर्ति चौधरी

खुले हुए आसमान के नीचे

कीर्ति चौधरी की कविताओं का अच्छा परिचय पहले-पहल तीसरे सप्तक के माध्यम से हुआ। बाद में उनका एक स्वतन्त्र संग्रह भी प्रकाशित हुआ और अब ६८ में प्रकाशित यह संग्रह भी सामने है। कीर्ति की कविताओं का प्रतिपाद्य प्रेम, प्रकृति और निजी परिवेश रहा है। इस सभी के बीच से गुजरते हुए उन्होंने हमेशा एक विश्वास, एक निष्ठा के साथ जिन्दगी को स्वीकारा है। तमाम अन्तर्विरोधों और दमघोंट व पस्त बना देने वाले संदर्भो को भोगते हुए भी एक अनिवार्य आस्था कीर्ति के काव्य का प्रमुख प्रदेय है। आलोच्य संग्रह में भी जितनी कविताएँ हैं, उनमें से आधी कविताएँ जिन्दगी को जीने के विश्वास और संकल्पित क्षणों की कविताएँ हैं। अनेक अजीब, हताश, अकेली, दशंक और संत्रस्त क्षणों की कविताएँ हैं। अनेक अजीब, हताश, अकेली, दशंक और संत्रस्त स्थितियों के घावों को सहती-सहलाती कीर्ति एक अदम्य आस्था से जुड़ी हुई हैं। यह आस्था उनकी ज़िजीविषा और जीवन के प्रति निष्ठा की प्रतीक है। सारे संग्रह में आस्था के बाद संतुष्टि, भविष्य कामना आकर्षण एकान्त-बोध, अचकचाहट, जीवन की वास्तिविकता भीड़-भाड़ और व्यस्तता बोध के स्वर मिलते है।

कीर्ति की आस्था जीवन या उससे सम्बद्ध उस हर चीज़ पर है जो कि मनुष्य और उसकी जिन्दगी में आती जाती रहती है। उनकी इस आस्था में कर्मठता और जिजीविषा है। वह कोरी निरर्थक आस्था नहीं

है। जीने का अहसास कीर्ति में काफ़ी गहरा है। उनका यह कथन "मैंने निष्ठा से ही जीवन सदा बिताया, जो भी सधा, खुशी से सच्चाई के कंधों उसे उठाया" जिजीविषा का ही द्योतक है। साथ ही निम्नांकित पंक्तियों में मुखरित आस्था सारे शुभाशुभ को भोगते हुए थकान को महसूस करके उस पर विजय की ही आस्था है। यह अपने दाहिने पार्श्व में कर्म और प्रेरणा की शक्ति से तनी हुई आस्था है :

थकन यह हटेगी, और प्राणों में कृतज्ञता जगेगी,
मैने यदि झेली है, सुख की लालसा,
और पीने की तीव्र उत्सुकता, तो मैं ही सहूँगा,
यह हार और यह दुर्वह असफलता,

भटकन और अँधेरे रास्ते पर चलते हुए भी कभी न थकने वाली कीर्ति हर स्थिति में जीने की अभिलाषा से उल्लसित और लक्ष्य तक पहुँचने की सफलता से तुष्ट भावों की कवयित्री हैं। 'अभी शेष है चलने की अभिलाषा', के बाद 'मुझे कम नहीं दिया है, देने वाले ने, कृतज्ञ हूँ,' से जिस जिजीविषा और वर्तमान जीवन से संतुष्टि का भाव उनकी कविताओं में है, यह नये कवियों में विरल है। यह आस्था ही उसे प्रकृति के आकर्षक दृश्यों की ओर खींच लेती है। (मुझे फिर से लुभाया)

इसका अर्थ यह नहीं कि कीर्ति को जिन्दगी का अहसास नहीं या उसकी कविताओं में सभी कुछ 'गुडी गुडी' है। वे भी परिवेश के दबाव, तनाव और भीड़-भाड़ शोर-शराबे व अकेलेपन के दर्द से पीड़ित है। उनका अकेलापन इतनी तीव्र आस्था के बाद व हल्के स्तर पर अभिव्यक्त होने के कारण कृत्रिम लगता है। वे अकेलेपन और अजनबीयत की बात करती है, किन्तु कविताओं से उनका गहरा अहसास कहीं नहीं झलकता है। अपवाद स्वरूप एकाध कवितांश अवश्य प्रभावित करता है, किन्तु परिवेश की अधूरी उपस्थिति या उसका सतही संदर्भ अकेलेपन को भी आरोपित बना देता है। 'बहुत दिनों के बाद' कविता की शून्यता और अकेलापन ऐसा ही है। हाँ, 'किन्तु मैं उदास और अकेला रह जाता हूँ' कविता की आखिरी पंक्तियों का अकेलापन फिर भी वास्तविक लगता है। इन कविताओं में कहीं-कहीं जीवन की वास्तविकता, पीड़ा और दाह को भी देखा जा सकता है। 'पीले पत्ते : हँसते गुच्छे, कविता इसी संदर्भ की प्रतिरूपक हैं :

क्या पाया मैंने क्या पाया ? माथे पर केवल रेखाएँ,
फिर वहीं आ गया दौड़ धूप, लेकर अनुभव झूठे सच्चे,

या 'दुखी नहीं हूँ' और 'ऐसा क्यों होता है' कविताओं में जीवन के प्रश्निल संदर्भ हैं, उनमें हकीकत का संकेत है। ऐसा क्यों होता है ? का प्रश्न कितने ही नये-पुराने, भीतरी बाहरी और व्यस्त दुनियाँ में दौड़ते लोगों का प्रश्न है : 'भरी पूरी दुनियाँ में भी मन खुद अपना बोझा ढोता है, ऐसा क्यों होता है ? क्यों होता है ? की प्रश्नाकुल मुद्रा बनावटी नहीं असली है। 'कतार के कतार' नामक कविता में सामाजिक सदर्भ व्यंजना का हाथ पकड़कर कई कदम चला है। यदि यह कविता यांत्रिक जीवन में आये ठहराव, आदमी द्वारा आदमी को न पहचानने के संकट, समय की गतिशीलता और निरर्थक भाग-दौड़ को रेखांकित करती है तो 'आगे बढ़ा जाता हूँ' में बेचैनी और थकान से आई जड़ता या निश्चेतना का अहसास भुलाकर "क्या जाने पाना या खोना है, मेरा क्या होना है, मैं तो हर पंक्ति जोड़, आगे बढ़ा जाता हूँ" की जीवन्त और निष्काम भावना से बढ़ते जाने का निष्ठात्मक संकल्प है। संग्रह की कविताओं में बीच-बीच में प्रबोधन और उपदेश का स्वर भी है जो कविता को ऊँचाई पर चढ़ते देखकर नीचे की ओर झटक देता है। यह स्वर संग्रह की प्रारम्भिक कविताओं में गहरा है। 'मुझे मना है', 'अरे ये उल्लास के क्षण' और 'एकसुनहली किरण उसे भी दे दो' आदि में उपदेशात्मक वक्तव्यपरकता और वर्णनप्रियता अधिक है। ऐसे स्थलों पर कविता की बुनावट ढ़ीली हो गई है और वक्तव्यों की भीड़ में भाव चुपके से खिसक गया है। कही-कहीं अनुभूत को अभिव्यक्त करने का संकट भी कवयित्री ने झेला है, (कविताई काम नहीं आती) "मथन आकुलता हर्ष-द्वेष के भाव कंठ तक आते है, उतरी कैंचुल से शब्द व्यर्थ रह जाते हैं।" 'खुले आसमान के नीचे' कविता में उन्मुक्त खुलापन है। उसका मातृ-हृदय : स्नेहशील हृदय इस कविता की पंक्तियों में बड़ी मासूम शैली में व्यक्त हुआ है। वह प्यार के रिश्तों में आबाद है : "टूटे नहीं हैं प्यार के रिश्ते, इस घर में अभी"।

कविताओं का शिल्प सहज, सटीक और सरस है। उसमें शब्द बेजान नहीं है। अप्रस्तुतों और प्रतीकों में कवयित्री का कोई योगदान नहीं है। हाँ, बिम्ब कहीं-कहीं अच्छे हैं। प्रकृति, प्रेम, पीड़ा और अवसाद के बिम्बों में ताज़गी और सघनता है। कुल मिलाकर संग्रह अन्य स्त्री-कवयित्रियों की तुलना में कहीं श्रेष्ठ और पठनीय है। जिस दैनंदिन के जीवन के अनुभवों को इसमें चित्रित किया गया है, वे कवयित्री की साहसिकता और बेपर्दगी के सबूत हैं।

०००

नामों की अन्तहीन–बेमानी तलाश : टुकड़ों मे बिखरी जिन्दगी : गुटों में कैद कविता और निर्मम वास्तविकताओं की क्रूर व्यंजना

[रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, मलयज, धूमिल, कमलेश, राजकमल चौधरी : कैलाश वाजपेयी, प्रयागशुक्ल, श्रीराम वर्मा, दूधनाथसिह, अशोक वाजपेयी आदि की कविताओं के संदर्भ से]

अभी-अभी बिस्तर से उठा हूँ। आँखें मलते हुए इधर-उधर नजर दौड़ाता हूँ तभी दरवाजे पर एक नीले रंग का लिफाफ़ा पड़ा दिखाई देता है। सोच रहा हूँ............किसका होगा ? क्या होगा उसमें ? कुछ भी हो........ किसी का भी हो ? क्या जरूरी है उसे देख डालना। इस वक्त 'मूड' नहीं बन पा रहा है कि उसे देखूँ............सुविधाजनक नहीं लगता है उठकर उसे देख पाना। अब मैं उठकर बैठ गया हूँ। आँखें मलना बंदकर दिया है। न जाने क्यों 'जड़ता' छाती जा रही है। बिस्तर से चिपक गया लगता हूँ। आस-पास का शोर-शराबा भी 'इन्जैक्ट' नहीं कर पा रहा है। इस भीड़-भाड़ में शोर-गुल में भी मैं जैसे खो गया हूँ, कहीं अपने में सिमट गया हूँ बिस्तर पर; फिर भी नंगे पैरों से चल रहा हूँ दीवार पर—उस कलैण्डर पर जिसकी लाल स्याही से छपी एक तारीख को एक चुहिया कुतर-कुतर कर फैंक रही है। थोड़ी देर में वह पूरी तारीख को क़ुतर डालेगी और यही क्रम रहा तो धीरे-धीरे सारी तारीखें कुतर दी जायेंगी और फिर कभी कोई तारीख नहीं होगी—कितना अच्छा होगा वह दिन जब कोई तारीख नहीं होगी—कोई समय नहीं होगा। दुनियाँ की तमाम घड़ियाँ एकदम रुक जायेंगी तब कितनी 'सुविधा' होगी

'बंधनहीन सुविधा'—जिस पर न तो तारीख की जंजीर होगी और न समय की सूचक सुइयों की टिक-टिक की गूँज।

और मैं खुशी से चमक उठता हूँ यह बुदबुदाता हुआ कि 'सुविधा' कितनी अच्छी चीज है। 'सुविधा' के नाम पर हम नंगे हो सकते हैं, रो सकते हैं, और चाहें तो अपनी बातों को कोई नया नाम दे सकते हैं—नामों की अन्तहीन तलाश जारी रख सकते हैं और तभी फिर खयाल आता है उस नीले लिफाफे का जो दरवाजे के उस पाँयतान पर पड़ा है जिस पर अँग्रेजी में 'वेलकम' लिखा है। मैं फुर्ती से उसे उठा लेता हूँ और अब उस लिफाफे का उठाना मुझे सुविधाजनक लगता है। लगता है 'सुविधा' बड़ी चीज है। खोलकर पढ़ता हूँ "सुविधानुसार कोई विषय चुनकर भेज दीजिये"............! हँस पड़ता हूँ और एक बार फिर महसूस होता है कि 'सुविधा' कितनी अपनी है, परिचित स्थिति है— अजनबियत में भी जानी पहचानी। इसी बीच एक बार मेरी नजर फिर 'कलैण्डर' पर चली जाती है। 'चुहिया' अभी भी तारीखें कुतर-कुतर कर नीचे ढ़ेर करती जा रही है—अपनी सुविधा से और यदि कोई बाधा नहीं आई तो तमाम तारीखें शाम तक कचरे के ढ़ेर में बदल जायेंगी—तब 'सुविधा' सिर्फ 'सुविधा' ही नहीं होगी सुख भी होगी—जो सुख सब तरह की बंदिशें तोड़कर पाया जाता है। 'सुविधा' शब्द में इकतरफा आनंद और तुष्टि का भाव है। उसमें संतोष के साथ परिस्थितिगत औचित्य भी है—वक्त के तकाजे का आसान; किन्तु एक सही हल भी है। आदमी की जिन्दगी का हर पहलू, हर कार्य और हरेक संदर्भ सुविधा की माँग करता है। असल में यह जीवन की पहली और अहम जरूरत है। सुविधा के मामलों में कवि की स्थिति थोड़ी भिन्न होती है, किन्तु यह भिन्नता तभी तक रहती है जब तक कि कवि आलोचना-कर्म से, स्पष्टीकरण के फार्मूलों से और अपने आत्मरक्षण के उपायों से दूर रहता है। सवेदनशील कवि बौद्धिक दाय लेकर आत्मव्यक्ति पर आँखें जमाता हुआ आलोचना की भूमि पर उतरता है तो उसे संतुलित और व्यवहारिक बने रहने की जरूरत महसूस होती है। यह जरूरत ही उसे सुविधा की ओर ले जाती है—उस सुविधा की ओर जिसमें परिस्थिति से जूझने के बाद का तोष है और सुखी भी है, औचित्य भी है। सुख ऐसा जो जूझने के बाद मिलता है और औचित्य वह जो परिस्थितियों के संदर्भ में देखा जा सकता है। यही सुविधा की भूमिका है, वह परिप्रेक्ष्य है जिसमें कवि आलोचक बनकर आता है—अपनी सफाई पेश करने के लिहाज से आलोचना साहित्य के कटघरे में खड़ा

होता है। और तब उसे सुविधा की जरूरत होना लाज़िमी है। नयी कविता नाम के साथ भी ऐसी ही सुविधा जुड़ी हुई है।

ऐसे ही सुविधा के क्षणों में अज्ञेय ने कविता को 'नयी कविता' नाम दिया था। 'प्रयोगशील' या 'प्रयोगवादी' नाम एक मायने मे कितने वेजान, वेमाने और 'असुविधा व असंतोष उत्पन्न करने वाले थे। यही वजह थी कि इन नामों के सम्बन्ध से 'अज्ञेय' पर और तत्कालीन नवलेखन पर एक वेरौनक और गैरजरूरी प्रश्नचिह्न लग गया था। नये प्रयोगों को 'वादी' या 'गुटवंदी' का सेहरा उठाकर कविता की सीमा से ही वर्खास्त करने की कोशिश की गई थी और इतना ही क्यों इसी तरह के अन्य आक्रामक तर्कों और वेवजह के गड्डम-गड्ड कथनों से कविता प्रश्नचिन्हों के जंगल में खोयी सी हो गई थी। कितने तिलमिला देने वाले थे वे तर्क जिनके सहारे कविता को दस कदम भी आगे जाने में कठिनाई अनुभव हो रही थी। किसी भी चिन्तक कलाकार के लिए ऐसी परिस्थिति कितना वड़ा कण्ठावरोध हो सकती हैं? यह अनुभव की चीज है। इसी प्रकार की स्थिति से गुजरते हुए—'अज्ञेय' ने 'प्रयोगवाद' के स्थान पर 'नयी कविता' नाम सुविधा को दृष्टि में रखकर प्रयोगा था और न रहेगा वाँस न वजेगी वाँसुरी, कहावत को चरितार्थ किया था।

. तो भी वाँस न रहने पर वाँसुरी तो वजी ही, किन्तु थोड़े समय वजकर ही वह चुप हो गई क्योंकि उससे वह आवाज न निकल सकी जिसकी संभावना में उसे सँवारा गया था। वह मौन रह गई और 'नयी कविता' नाम विना किसी आयोजन और उत्सव धर्मिता के साथ स्वीकृत हो गया। 'नयी कविता' को प्रतिष्ठा मिलने लगी और पुराने आलोचकों की 'अलमारियों' में भी नये काव्य संग्रह—'स्पेसीमैन' के रूप में ही नहीं; आवश्यकता के रूप में भी सँजोये जाने लगे। एक वारगी सभी आलोचकों और पुराने खेवे के कवियों ने उसको स्वीकृति दी—भले ही इस अफ़सोस के साथ कि हम इसके पुरोधा न वन सके। करीव 'डेढ़दशक' वीता—नयी कविता प्रौढ़ता की ओर वढ़ी तो चंद खुराफ़ाती और आन्दोलनों के अगुआ वनने के शौकीन युवा कवियों ने उसे दफनाने की कोशिश की (वैसे यह शौक और कोशिश नयी नहीं थी, अज्ञेय आदि ने ही यह रास्ता अपने कर्म और व्यवहार से पहले दिखा दिया था) किन्तु कोशिश तो कोशिश भी रह सकती है—एक लम्बे समय तक।

अस्तु, नयी कविता की विपयपरक नवीनता में, कवि की 'एप्रोच' नयी थी, परिवर्तित और पूर्वाग्रहों से मुक्ति की माँग थी—जीवन को उसकी सम्पूर्णता

मैं साठोत्तरी पीढ़ी को नकार नहीं रहा, वरन् उसको नकार रहा हूँ जो मुखौटे लेकर, आरोपित स्थितियाँ लेकर और बेमानी संदर्भ लेकर कविता में 'घुसपैठ' कर रहा है। मैं यह मानता हूँ कि साठ के बाद की कविता में संत्रास, भयावहता, साहसिकता और प्रश्नाकुलता है, वह कविता को एक संदर्भ दे सकती है, किन्तु तभी जबकि ये कवि संतुलन से काम लें। कतिपय संतुलन और साहसी 'मूडस' की कविताओं की चर्चा भी मैंने की है, पर नाम की बंदिश से हटकर।

आजकल नयी कविता के साथ ही ताजी कविता और अकविता की चर्चा होने लगी है। प्रश्न है कि क्या 'ताजी कविता' नयी कविता के आगे की स्थिति है ? मैं समझता हूँ नहीं। कारण 'ताजी कविता' की स्थिति जभी सम्भव है जबकि नयी कविता एकदम बासी हो जाये, या उसमें ठहराव आ जाय। यह तो माना जा सकता है कि नयी कविता में 'मैनरिज्म' विकसित होने लगा है—भाषा के क्षेत्र में, किन्तु अभी प्रायः ऐसा नहीं हुआ है। आज भी सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद, रघुवीर सहाय, अज्ञेय और लक्ष्मीकांत वर्मा उतने ही नये लगते है जितने कि 'ताजी कविता' का दम भरने वाले कवि, बल्कि ये किन्हीं मानियों में उनसे भी आगे हैं। अभी कविता में ताजगी की माँग उतनी महत्वपूर्ण नहीं जितनी की सम्प्रेषणीयता और अनुभूति की ईमानदारी की जरूरत है। सन् १९६३ में प्रकाशित 'प्रारंभ' नामक कविता संकलन जिसमें १४ युवा कवियों की रचनाएँ हैं, 'ताजा कविता', 'अति कविता' से लेकर अब 'अकविता' (१९६५) तक इसी संक्रमण का परिचय मिलता है। नये उदित कवियों में श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, सोमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले व गंगा प्रसाद विमल धूमिल, लीलाधर, मलयज, प्रयागशुक्ल, कमलेश, कैलाश वाजपेयी, श्रीकांत वर्मा, दूधनाथसिंह, अशोक वाजपेयी और श्रीराम वर्मा प्रमुख हैं। इनकी कविताएँ जिन्दगी से सीधे साक्षात्कार की कविताएँ हैं। अधिकतर ये सभी उस बिन्दुपर, उस मुहिम पर खड़े हैं और सारे संदर्भों को जीते दिखाई देते हैं जहाँ जिन्दगी मरा हुआ चूहा, बासी वर्तन, टुकड़ों में बँटती जाने से अनेक विसंगतियों का पुंज और आत्मनिर्वासन का दाह लिये उपस्थित है। इनमें एक नई करवट लेने की छटपटाहट और कसमसाहट है। आज फिर से एक मुक्ति की माँग जारी है। यह मुक्ति समाज से है, आपसी सम्बन्धों से है। कारण हर कवि खुलेपन की स्थिति को 'डाइरेक्ट' भोगना चाहता है और ऐसी क्षमता के लिए लालायित है जिससे वह मुक्त स्थिति को सीधी टकराहट के

साथ भोग सके। 'ममता अग्रवाल' की ये पंक्तियाँ देखिये जिनमें साहस और शरारत दोनों हैं—एक जागरूक चेष्टा जो किसी नयी बात के लिए है :

प्यार शब्द घिसते-घिसते
चपटा हो गया है,
अब हमारी समझ में
सहवास आता है।

'अकविता' की बात मुझे तो अभी नयी कविता की ही बात लगती है। किसी समय नयी कविता को भी अकविता जैसे ही नाम मिले थे। लगता है 'अकविता' के कवि अपनी कथन-भंगिमाओं से कोई ऐसी 'टेबलेट' तैयार करने में लगे हैं जिससे वे नयी कविता को 'निंदिया' सकें और स्वयं जागते रहकर यह कह सकें कि 'हम नये हैं', 'हमारी अनुभूतियाँ नयी हैं।' वास्तविकता यह है कि अकविता भी एक माने में नयी कविता का ही नया 'लेबिल' लेकर आया हुआ ऐसा 'इंजेक्शन' है जिसका निर्माता भले ही बदल गया हो, किन्तु उसका असर वही पहले जैसा है, इसके सारे 'सिमटम्स' और 'इम्प्रेशन्स' भी वही हैं।

आज अकविता के नाम पर जो कविता लिखी जा रही है वह नयी कविता के ही दो एक संदर्भों की पुरजोर चीखभर है। इसका प्रमुख स्वर यह है–कविता को गद्य से ब्याह दो और क्रूरतम, घृणित, लिजलिजी और 'न्यूड फोटोग्राफी पाठकों के सामने फैला दो, फिर कहो—हम 'प्रतिबद्धता' का अनुभव कर रहे हैं। हम आक्रामक हैं, भले ही सबके तीर एक निशाने पर न पड़ते हों। कुछ बड़े शहरों में, उनके अँधेरे बन्द कमरों में जो घट रहा है वह सारे भारत के सम्बन्ध में तो नहीं कहा जा सकता? कारण एक सीमित दुनियाँ में घट रही जिन्दगी पूरी दुनियाँ के सिरहाने आकर खड़ी नहीं हो सकती है फिर अभी कविता में खड़ी होने का सवाल तो नाकाम हरकत है। ये लोग जब प्रतिबद्धता की बात करते हैं तो सोचता हूँ यह तो 'कटिबद्धता' की बात भी नहीं हुई। यह 'आक्रामकता' सन् 1947 के आसपास भी थी, पर उसके पीछे एक तैयारी थी–रूढ़ि को मिटाकर ठोस बात कहने की। आज फिर से वही बात दुहराई जा रही है, किन्तु हवा में मुक्का मारने की तरह या अँधेरे में तीर छोड़ने की तरह।

हर रोज पत्र-पत्रिकाओं की भीड़ में नये चेहरे दिखाई दे रहे हैं—शायद नई पीढ़ी जन्म ले चुकी है या ले रही है। इसे अभी जो दुख झेलना पड़ रहा है। धीरे-धीरे वही इन्हें माँज देगा और रोज-रोज की थुक्का-फज़ीहत कम हो जायेगी।

कविता तूफानी दौर से गुजर रही। न जाने कितनों की बलि लेकर 'अकविता' के इस जंगल में कोई 'अश्वत्थ' ठहर पायेगा, कितने ही चलताऊ सिक्के 'ऊल-जलूल कविताओं के ढेर में मिलकर खाद बनेंगे ? कौन जाने ? पर विश्वास होता है कि तब वह 'अश्वत्थ' साठोत्तरी पीढ़ी की उपलब्धि के आईने के सामने रख कर यही कह पायेगा—यह तो घट बढ़कर नयी कविता की ही उपलब्धि हुई।

अतः हर नयी पीढ़ी जिस जोश-खरोश से अपने से पहले की उपलब्धियों को नकार रही है उससे तो लगता है कि एक दिन हिन्दी कविता के नाम पर बहुत सारे प्रश्न चिह्न लगे होंगे। अपनी प्रतिष्ठा के लिए दूसरे का अस्वीकार और विरोध इतना जरूरी नहीं जितनी अपनी प्रामाणिकता की गवाही। यह गवाही खुद देने की जरूरत नहीं—कविता खुद इसकी पैराकार बनेगी। अब आवश्यकता इस बात की है कि संतुलित हुई यह 'प्रौढा' असमय ही न दफना दी जाये। आज इसके भीतर घुसे जर्जर तत्वों की 'छँटनी' की आवश्यकता है। साठ के बाद की कविता में जो तत्व उभरे हैं, उनकी उपेक्षा करना मेरा अभीष्ट नहीं है। मुझे जो कहना है वह उपेक्षा के बिना भी कहा जा सकता है। यह मानने की इच्छा तो होती है कि साठ के बाद के इन वर्षों में नई कविता के प्रवाह में कुछ ऐसी रंगत जरूर है जो अलग से पहचान में आ रही है। यह पहले भी थी, पर तब उसकी ओर ध्यान नहीं था। आज की पीढ़ी उसे रेखांकित करके बार-बार दिखा रही है यह दिखावा ही उसे पनपने नहीं दे रहा है। रही अलग से पहचान वाली रंगत की बात वह नई कविता से ही फूटी है। अकविता वालों ने इसे अपना मान तो लिया है, किन्तु उससे पूरा तालमेल नहीं बिठा पाये हैं।

मेरी राय में 'दिनकर' की 'अपील' ज़्यादा सही है क्योंकि वे किसी भी नयी या ताजी या अकविता की बात न करके कविता की–शुद्ध कविता की बात करते हैं। शुद्ध कविता और मेरे शब्दों में जीवन्त कविता की बात कहीं अधिक सार्थक हो सकती है। कारण कविता को पहले कविता बनना है—

ऐसी कविता जिसमें 'जीवन्तता' हो, जो जीवित रह सके और यह इसलिए कि कविता कोई ऐसी चीज नहीं है जो आज है कल नहीं होगी। कविता की 'जीवन्तता' इस बात पर निर्भर है कि वह आदमी को (पाठक) कितना डुबा सकती है? जब तक वह डुबाती है तब तक वह कविता है और जैसे ही वह डुबाना बन्द कर देती है वैसे ही उसके लिए अति-कविता, अकविता और ताजी कविता जैसे नामों की जरूरत पड़ती है। जीवन्त कविता वह है जो सही शब्दों में लिपटी ईमानी शैली के माध्यम से व्यक्त होती है जो प्रभाव डालती है और डुबाती है। 'डुबाने' का अर्थ रोमानी दृष्टि के वृत्त में बाँधकर समझना भूल होगी, बुद्धि का दिवालियापन होगा—आज के जमाने में। वैज्ञानिक उपलब्धियों के बीच जीवित हम और हमारी कविता रोमांटिक और इन्टलैक्चुअल्स' के बीच रहती है। इसका प्रमाण यह है कि आज का कवि अपनी अनुभूतियों की सम्प्रेषणीयता के लिए एक भी ऐसा शब्द खरचने के लिए तैयार नहीं है जो फालतू कहा जाय। प्रभाव हृदय पर पड़े या मस्तिष्क पर एक ही शब्द में वह शक्ति हो सकती है जो उसके स्थान पर; रखे गये अनेक शब्दों से संभव नहीं है।

आजकल कुछ ऐसे नवोदित कवि भी है—अकविता और अस्वीकृत कविता के, जो प्रेम को मजाक बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं। उसे व्यंग्य और विडम्बनाओं के सहारे ग्रहण कर रहे हैं। ऐसे कवियों की दृष्टि में प्रेम देह-धर्म और मनोरंजन–क्षणिक संतुष्टि या बहुत मामूली तत्व–से अधिक नहीं है। मैं समझता हूँ यह नयी कविता के प्रतिष्ठित कवियों में नहीं, उन कवियों में है जो आगे जाने के लिए धक्का-मुक्की कर रहे है–महज इसलिए कि वे भी पहचान लिये जाये। प्रेम प्रेरक भी है–चाहे वह कैसा ही प्रेरक क्यों न सही, किन्तु यदि यह बिल्कुल 'नेकेड' (नंगा) हो जाय तो काव्य ही समाप्त हो जायगा।

इतना सब कहने का अर्थ यही है कि नामों का शोर समाप्त होना चाहिये, नहीं तो कविता उसमें खो जायेगी। समझ में नहीं आता कि बेकार के नामों की जरूरत क्यों पड़ती है? क्या बिना किसी लेबिल के चिपकाये उसकी कीमत कम हो जाती है, क्या कविता जैसी किसी चीज़ के लिए किसी नाम की जरूरत है? हाँ, सुविधा के लिए उसे कोई नाम दिया जा सकता है, लेकिन ताजी कविता, अकविता, सूर्योदयी कविता, युयुत्सावादी कविता और नंगी और क्रुद्धपीढ़ी की कविता जैसे नाम सुविधाजनक नहीं, वरन् अपने को

पहचनवाने और विज्ञापित करने के लोभ के परिणाम हैं और लोभ तो लोभ ही होता है, वह सही की अपेक्षा ग़लत की ओर जाने के लिए ज्यादा प्रोत्साहित करता है। इन नामों के पीछे भी यही संदर्भ है।

वक्त कोई भी हो आदमी आदमी रहता है, सिर्फ उसका 'एटीट्यूड' बदल जाता है, उसके अन्तर्जगत के 'शेड्स' बदल जाते हैं ठीक वैसे ही जैसे 'कपड़ा' कपड़ा ही रहता है, उसे पहना जाता है। यह अलग बात है कि कब हम उसके कौनसे रूप को, किस तरह के धागों के मेल को कैसे काट-छाँट कर पहनते हैं। उसकी काट-छाँट का तरीका कपड़े का पर्याय नहीं हो सकता। हाँ, वह उसका विशेषण बन सकता है। उसकी शैली का पर्याय हो सकता है। कविता भी इसी नियम की चोट सहती है। वह पहले कविता है बाद में उसका कोई तरीका कोई 'पेटर्न' व कोई 'शेड' हो सकता है। उसको पहिले कविता होना है। अर्से तक वह रहा भी, पर अब एक अर्से से कविता के लिए 'विशेषणों की जरूरत पड़ने लगी है। यह सच है कि 'विशेषणों की तलाश' आजादी के बाद जितनी तेजी से शुरू हुई उतनी पहले कभी नहीं। मानों आजादी एक बड़ी तलाश हो जिसने कितनी ही नयी तलाशों को हमारे सामने ला पटका हो, एक फाइल हो जो हमारे सामने फैला दी गई हो और हमने भूखे नंगों की तरह बदहवासी में कितने ही 'विशेषण' ज्यादातर खोटे नोंचे-खसोट लिये हों। शायद बदलना जरूरी होता है क्योंकि एक स्वाद हमेशा प्रीतिकर नहीं हो सकता। उसकी आवृत्ति उसे गैर जरूरी और उबाने वाला बना देती है। परिवर्तन की कड़ी चोट जैसे जीवन में सहनी पड़ती है वैसे ही कविता भी इससे बच नहीं पाती है। जो सहज और अनिवार्य है उससे बचा भी कैसे जा सकता है? बचकर हम 'कृत्रिमता' का वरण करने के लिए विवश होते हैं। 'परिवर्तन' दोनों ही अर्थों में सहज होता है : एक तो हम सहज ही बदल जाते हैं और दूसरे प्रयत्न करके बदलते हैं। आजादी ने हमें बदला और पिछले दस वर्षों में हम सायास बदले हैं।

आजादी कायम है, पर जैसे एक दूसरे स्तर पर, चाहे तो भीतरी कह लीजिये, हम पराधीन होते जा रहे हैं। अपनी शक्ल भूल गये हैं या वह भुला दी गई है दोनों ही सच हैं। नतीजा यह है कि जीवित होकर भी लाश, आजाद होकर भी पराधीन, परिचित होकर भी अपरिचित और अजनबी और इसी कारण मामूली होकर रह गये हैं। हम सभ्य भी, असभ्य भी, मानव भी, अमानव भी, शोषक भी, शोषित भी और तमाम अन्तर्विरोधों के बाद भी

आदमी हैं और जरूर हैं। शिरायें तनती हैं और तनकर भी टूटती या फटती नहीं वरन् सिकुड़ जाती है। गोया वे तनती ही इसलिये हैं कि सिकुड़ जायें। कैसी लाचारी है कि न तो हम पूरी तरह आक्रोश कर पाते हैं न प्रेम न घृणा और न उपेक्षा दी। यानि की हम हैं, पर हम में कुछ भी ऐसा नहीं जो पूरा हो। अधूरी जिन्दगी का यह अधूरा वृत्त कितनी ही विसंगतियों की वैसाखियों के सहारे बना हुआ है या बनकर चल रहा है। इस तरह कोई कब तक चल सकता है ? नहीं चल सकता इसलिये बिखर जाता है और यदि चलने की कोशिश करता है तो उसे विवशता में कितनी ही तंग और चक्करदार गलियों से होकर गुजरना पड़ता है।

विवशता, ऊब, अकुलाहट, तनाव, अजनबियत, अकेलापन चाहे अनचाहे संदर्भों में जीना, दूसरों द्वारा 'जिया जाना' सब कुछ कैसे होता है, क्यों होता है ? हर आदमी 'एक दूसरे का दहेज' कब बन जाता है ? चाहने पर भी वह 'केवल व्यक्ति' क्यों नहीं रह पाता भीड़ क्यों बन जाता है ? और सबके साथ एक ही कुएँ का पानी पीते हुए भी जहर क्यों उगलता है ? आदि कितने ही सवालों से घिरी जिन्दगी में भी अपने को अलग पहचनवाने का मोह नहीं छूटता। यही विसंगति है, विड़म्बना है। कलाकार आदमी होने के साथ-साथ कवि भी होता है इसलिए वह साधारण आदमी की अपेक्षा इन विसंगतियों को अभिव्यक्त करने में कहीं अधिक सफल होता है। आज का यह मानव अपने समस्त अन्तर्विरोधों, संकल्प-विकल्पों व निश्चय अनिश्चयों के साथ नये कवि द्वारा पहचान लिया गया है और यह पहचान पहले से अधिक कहीं साफ है तभी तो कविता में एक जोरदार कशिश, एक छटपटाहट, असफलता, नैराश्य, स्वप्नभंग और परिवेश की सारी तल्खी तीव्रता के साथ बेलाग कलम से कागज पर उतर रही है। यह शुरुआत नयी कविता ने की। उसने ही आदमी के सामने एक ऐसा दर्पण रख दिया जिसमें वह अपना असली चेहरा तो देख ही सका, अन्दरूनी तस्वीर की हल्की-गहरी सभी रेखाएँ पूरे रोएँ–रेशों के साथ देखकर पहचान सका। तलघर में छिपे कितने ही भाव-बिम्ब ऊपर तैर गये ? विज्ञान तो मन की 'एक्सरे मशीन' ईजाद न कर सका, किन्तु कविता ने वह काम कर दिखाया।

यह प्रक्रिया कुछ और आगे बढ़ी। नये-नये चेहरे सामने आये और धीरे-धीरे चेहरे 'पीढ़ी' बन गये : नंगी पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, दिगम्बर पीढ़ी, युवा पीढ़ी, साहसी पीढ़ी आदि। नामों का शोर बढ़ता गया। कितने ही 'साइन

बोर्ड' दिखाई दिये और उन्हें विज्ञापित करने के लिए सभी सम्भावित नामों से पत्र-पत्रिकाएँ फैलती चली गई। इनमें से कितने नाम, कितने पत्र जम सके यह बताने की जरूरत नहीं समझता फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'रिमों' कागज की बिक्री हुई और दर्जनों ऐसे आदमी जिन्हें कला के नाम पर, सम्पादन के नाम पर और कविता--कहानी के नाम पर कुछ नहीं आता (लिखने की बात तो जाने दीजिये, पढ़ना और समझना भी नहीं आता) धड़ल्ले से कितने ही अच्छे सिक्कों के बीच चल पड़े। स्पष्ट है कि खोटे सिक्कों का चलन बढ़ रहा है और भी बढ़ेगा (सरकार कितना ही प्रयत्न करे 'बढ़ती' रूकेगी नहीं) ढ़ेर सारे कवि अपनी-अपनी कविताओं को लेकर आ खड़े हुए। कुछ ऐसे साहसी निकले जो नये नामों के अनवरत अन्वेषण से ही 'हाज़मा दुरुस्त' करना चाहते थे, अकविता व अति कविता की दुहाई देने लगे। अपने लिए शिविर बनाने की धुन में कितने ही फतवे दे डाले और अच्छे-अच्छे पत्र भी इसे छापने का लोभ रोक नहीं सके। पहले ही कह दिया गया है कि इस तरह के प्रयास जिनमें 'सर्जन' की कम अपने को प्रतिष्ठित करने की भावना ज्यादा प्रबल है कोई मानी नहीं रखते। यही कारण है कि ये लोग नयी कविता से अपनी 'स्वतंत्र सत्ता' स्थापित करने में इसलिए असमर्थ रहे है कि इनके पास ऐसा कुछ भी नहीं जो महत्वपूर्ण हो।

सन् ६० के बाद अकविता की जो लहर दौड़ी है या 'नयेपन' की जो बात कही गई है उसकी कोई उपलब्धि अभी तक सामने नहीं आ सकी है। अतः प्रतिष्ठानों में बँटकर ख्याति अर्जित करने की कामना वाला नुस्खा भी कामयाबी नहीं दिला सका। हाँ, एक बात सही है कि नयी कविता में जो एक रूढ़ि-सी बनती जा रही थी—विशेषकर भाषा के क्षेत्र में उससे मुक्ति दिलाने का काम कुछेक कवियों ने सजगता से किया है, लेकिन यह तभी हो सका है जबकि इन्होंने गुटबन्दी का मोह छोड़ दिया है। मानव से सीधे साक्षात्कार से वर्ण्य-वस्तु में जो सहजता और निश्छलता के साथ-साथ साहसिकता आई है उसकी शुरूआत तो पहले ही हो चुकी थी। आज जो संकट और वैषम्य सामने है उसका अहसास जरूर बदला है, 'टोन' में परिवर्तन आया है, (परिस्थितिवश इतना बदलना जरूरी भी है), किन्तु कुल मिलाकर समकालीन कविता नयी कविता का ही संस्करण है। फिर आन्दोलनों के पुरस्कर्ता बनने से कोई भी कवि बड़ा नहीं बन जाता है, उसे बड़ा बनाने वाले तत्व कविता में होते है।

कविता ही कवि-धर्म को रेखांकित करती है तभी तो कितने ही ऐसे कवि हैं जो इस गुटबाज़ी का सेहरा पहनना पसन्द नहीं करते हैं और इन सारी बातों पर थूकते हुए दो टूक बात कहकर अपने कर्म की सचाई का संकेत देते हैं। आंज कवि वह है जो दायरों और शिविरों से अलग रह कर अपने जीवन-गत असन्तोष, आक्रोश और मानव सम्बन्धों असली संदर्भों को रचनात्मक स्तर पर व्यक्त करता है। जो वाकई असंतोष है, जो भोगी हुई यातना है, वह सही अभिव्यक्ति पा ही जाती है, किन्तु कवि जब परेशानी और यातना को आरोपित कर लेता है, तब उसका कोई रक्तचाप नहीं होता और ऐसी रक्तचाप हीन कविताओं की जिन्दगी उतने ही कम क्षणों की होती है जितनी उन कविताओं की जो आक्रोश के रूप में लिखी जाती हैं या जो गुटों के सींखचों में बन्द होने से असली जबान में नहीं बोल पाती हैं। जिन्दगी में जो यन्त्रणा व्याप्त है, जो गहरा असंतोप व निराशा है और जो अनिश्चय ग्रस्त मानस है उसकी सही व रचनात्मक स्तर पर व्यंजना करने वालों में करीब एक दर्जन कवि हैं। इनका अपना ढंग है। उसमें बनावट कम है। वह काव्य क्षेत्र में बनी रूढ़ियों से अलग है।

कैलाश वाजपेयी, केदारनाथ सिंह, मलयज, धूमिल, प्रयाग शुक्ल और **रघुवीर सहाय** जैसे कवियों में एक नई चेतना व्याप्त है, संकट को संकट समझकर उठाने की हिम्मत बराबर बनी हुई है। **कैलाश** ने 'संक्रान्त' से शुरूआत की–बहुत कुछ नकारा, संदेह और आशंका की दृष्टि से देखा। ऊब, विवशता व अकेलापन सहे और आधुनिक जीवन पर दम भर व्यंग्य किये। नागरिक सभ्यता का रूप निखरा और ज्यादा निखरा, पर निखरने वाला तत्व व्यंग्य ही रहा। अधिकतर कविताएँ उस विवशता में जन्मी हैं, जबकि कवि समाज के ढाँचे और उसकी चालू व्यवस्था से अपने को 'एडजस्ट' नहीं कर पाया या फिर वे सामाजिक ह्रास और विसंगतियों के फलस्वरूप उत्पन्न खीझ और आक्रोश के भाव में व्यक्त हुई हैं। 'संक्रान्त' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है आज के युवा मानस की सही तस्वीर है—ऐसी तस्वीर जिसमें रंग निषेध का भले ही हो, पर वह भी सचाई और शक्ति के रूप में (कमजोर के रूप में नहीं) आया है। 'संक्रान्त' के बाद 'देहान्त से हटकर' उनका वह काव्य संग्रह है जिसमें कवि का आक्रामक, आक्रोशी और पैने व्यंग्य वाला रवैया तो बरकरार है, पर उसकी समस्त मर्दानगी जैसे पस्त हो गई है। अब वह 'देहान्त से हटकर' 'स्नायुघात' की स्थिति को भोग रहा है। पिछले वर्षों में आदमी ने

क्या नहीं भोगा ? मृत्यु से भी ज्यादा दंश सहकर जिन्दा रहने जैसी बे–मतलब संज्ञा का वोझ ढोया है । वह मरा भले ही न हो पर कितनी ही 'मौतें' उसके अन्दर घटती रही हैं, जिन्दा होने के उसके सभी लक्षरण जैसे संत्रस्त स्थितियों ने छीन लिए हैं । इस विवश, अपाहिज और स्नायुघात से पीड़ित जिन्दगी के भोक्ता कवि के रूप में (इस संग्रह में) कैलाश को पढ़ा जा सकता है—भीतर से भी, बाहर से भी । सांसारिक यन्त्रणाएँ मूल्यहीनता और अराजक स्थितियों में परेशानी हो तो हो, यह ठीक भी है, पर उस कवि के लिए जो पहले साहसिकता को गले लगा चुका हो, अब इतनी पस्त मनोदशा कि उसे 'सब कुछ मरा हुआ लगे और नाक की जगह बाँस की खपच्ची, दिल में मेंढक और पेट फूटा तसला लगे, अजीव-सी बात है । इतना ही नहीं स्थिति यहाँ तक है : "सोचना न सोचना क्या माने रखता है/करोड़ों सालों से अरबों लोगों को दिये गये धोखे/बन्द हैं दिमाग में" वस्तुतः पिछले वर्षो में आई जड़ता ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा है, ऐसी स्थिति में कवि इन सबको विम्बों में उतारे वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु उसका रक्त ठंडा पड़ जाय और भावनाओं का सारा 'फासफोरस' ही चुक जाय, यह एक सजग कलाकार के लिए हितकर नहीं है । इस संकलन से तो यही लगता है कि कैलाश 'संक्रान्त' से आगे वढ़ने की बजाय पीछे लौट रहे हैं । एक वात यह भी है कि 'देहान्त से हटकर' में व्यक्त स्थितियाँ एक-सी हैं । ज्यादातर एकरस और उबाने व थकाने वाली । कवि बार-बार उसी एक स्थिति पर वार करता है । वह वार अच्छा भी हो सकता था, किन्तु कवि की शैली भी उसे मदद नहीं दे सकी है । फलतः एक ही मुद्रा में एक-सी वातें कहे जाने का दोष और थकाने वाला संदर्भ ही बार-वार आने से बेमानी लगता है ।

धूमिल : पटकथा और मोचीराम आदि कविताएँ

केदारनाथ सिह, मलयज, धूमिल और प्रयाग शुक्ल की कविताएँ उस स्थिति की कविताएँ हैं जिनमें आज की जिन्दगी का सीधा साक्षात्कार है और परिवेश में निरन्तर घटित होने वाले कितने ही जटिल संदर्भो की सही और क्रूर व्यंजना है । 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर लिखी गई । 'ये कवितायें उस परेशानी की कवितायें है जिनमें आदमी मरता तो नहीं, पर जिन्दा कहलाने लायक भी नहीं रहता है ।' केदारनाथसिह में कवि कर्म को निभाये जाने की चाह उतनी नहीं जितनी परिस्थितिजन्य प्रसंगों में उसे नये सिरे से

समझने की लालसा। 'धूमिल' में एक छटपटाहट है, एक बैचेनी है, जो उन्हें अपने आपसे ही यह पूछने को बाध्य करती हैं :

क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है ?
या इसका कोई खास मतलब होता है ?

यह प्रश्न ऐसा नहीं जो अब तक के सवालों की बगल में बैठा हुआ हो, वरन् यह तो सबसे अलग-थलग एक निष्क्रिय और शर्मनाक, किन्तु विचित्र नयापन लिए हुए हैं। यह संदर्भ अनुभूति की सीमा में आता है, अभिव्यक्ति इसे भौंड़ा बना सकती हैं। 'धूमिल' को कविता की रचना के दौरान अपने आस-पास के घेराब का पूरा ज्ञान रहता है जिसमें मनुष्य की भीषणता और यांत्रिकता भी शामिल है। उनकी कविताओं की पीठिका बौद्धिक है। इसी से उनकी कविता में अनुभूति ही नहीं विचार भी शामिल हो गये हैं। 'मोचीराम' 'उस औरत की बगल में लेटकर', 'पटकथा', 'जनतन्त्र के सूर्योदय में, गाँव व 'प्रौढ़ शिक्षा' जैसी कविताओं में धूमिल की बौद्धिक विचारणा और भावना के संतुलन को खोजा जा सकता है। अनुभूति की तीव्रता और विचारों का पैनापन धूमिल में बराबर मिलता है। इस मेल से कविता कभी-कभी मानव-स्थिति का 'जनरलाइजेशन' लगती है।' वह चाहे जो है जैसा है जहाँ कहीं है आजकल कोई आदमी जूते की माप से बाहर नहीं है।' किन्तु यह निष्कर्षात्मक खोज कवि के आस-पास और समूचे परिवेश की जकड़न से पैदा हुई है। वे दिखावे से दूर हैं और सतर्क रहते हुए मानवीय स्थितियों में खुद घुलते हुए कितनी ही बातें कह जाते हैं। यह कहना केवल कहना भर नहीं है, सारी स्थिति को उघाड़ देने का साक्षात्कार है। 'उस औरत की बगल में लेटकर' कविता में यह साक्षात्कार पूरे ठोस और जटिल 'पैटर्न' पर उभरा है : 'मेरे भीतर एक कायर दिमाग है जो मेरी रक्षा करता है और वही मेरे बटनों का उत्तराधिकारी है। आत्मरक्षात्मक कवच, खुद पर विश्वास और जिस सचेष्ट मनस्थिति में धूमिल हैं, वह सातवें दशक के युवा कवियों में विरलों के ही पास है। इसे उनकी 'मोचीराम', 'अकालदर्शन', 'गाँव' आदि कविताओं में भी देखा जा सकता है।

धूमिल की सबसे लम्बी और अहम कविता 'पटकथा' है। इस कविता में परिवेश की व्यापकता तो है ही, उन तमाम स्थितियों के संगत-असंगत

संदर्भो का नियोजन भी है जो भारत देश के हर परिदृश्य में व्याप्त हैं। कवि की चेतना में पूरा प्रजातंत्र उसका बिखराव और उससे उत्पन्न एवं प्रेरित मानव स्थिति का जटिल स्वरूप समाया हुआ है। इसमें समूचा राजनैतिक परिवेश है, संसद, जनता, संविधान और प्रजातंत्र के थोथे और कामचलाऊ मंत्रों पर विद्रोह और एक खीझ (जो आक्रोश नहीं है) या एक तरह की सनसनाहट कविता के भीतर से सुनी जा सकती है। वीच-वीच में जोश और आवेश के क्षण भी हैं, नाटकीय वक्तव्य और चलताऊ फिकरे भी हैं। कविता में जो वातावरण है वह पूरी कोशिश के वावजूद प्रभावित नहीं करता है क्योंकि वातावरण के निर्मायक विम्व और शब्द उनके पिटारे में नहीं है। यदि कहीं वातावरण को तैयार करने की कोशिश भी है तो वह सपाटवयानी और वक्तव्य प्रियता के माहौल में खो गई है। एकाध उदाहरण रुक कर पढ़े जाने और सोच-सोचकर पढ़े जाने का संकेत देते हैं :

एक अजीव सी प्यार भरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया अपने छौने को दूध पिला रही है
और साथ ही किसी मैमने का सिर चवा रही है

यह तो ठीक है कि 'पटकथा' में सपाट शैली है, वेलाग अभिव्यक्ति है, पर यही वह भूमिका है जहाँ कवि थोथे आकर्षण के लिए वक्तव्यों को गढ़ता है और उन्हें कविता के वीच में कहीं भी टाँक देता है। 'पटकथा' में यदि कवि परिवेश को अनावश्यक विस्तार न देता, उसे एक संदर्भ से देखता और वीच वीच में वक्तव्य टाँकने का लोभ छोड़ देता तो कविता लम्बी कविताओं के क्रम में काफ़ी ऊपर होती। जहाँ वक्तव्यों की एक पाँत की पाँत; जमात की जमात ही कविता में जवरन घुसा दी गई है वहीं कविता ठंडी और मुर्दा हो गई है : "संस्कृति, शांति, मनुष्यता, ये सारे शब्द थे, सुनहरे वादे थे, खुशफहम इरादे थे, सुन्दर थे, मौलिक थे, या फिर कतिपय ऐसी चलताऊ मुद्रा जिसमें कविता अनुपस्थित है, धूमिल की रचनाओं को भी धुँधिया देती है :

अपने यहाँ संसद, तेली की वह घानी है,
जिसमें आधा तेल है, और आधा पानी है,
दरअसल अपने यहाँ जनतंत्र, एक ऐसा तमाशा है,
जिसकी जान, मदारी की भाषा है,

यह अतिवक्तव्यता या फिकरे कसने की ज़िद कविता की अन्विति को विखरा देती है। परिवेश को उसकी समस्त व्यापकता में ग्रहण करने के

कारण ऐसे फिकरे कविता में शुरु से अन्त तक कहीं भी किसी भी ठौर अनायास ही हाथ लग जाते हैं। कहीं-कहीं "अब वक्त आ गया है""कि अपनी ऊब को आकार दो" वाली बात सही लगती है। धूमिल ने समूचे परिवेश को समेटने के चक्कर में शायद अपनी ऊब और कमजोरी को ही आकार दिया है। यही वजह हैं कि वह आकार भीतर की पैठ के अभाव में कोरा आकार ही बनकर रह गया है, इतनी लम्बी कविता यदि तथ्यात्मक संकेतों और विवरणों से भरी जाने की अपेक्षा यदि समूची मानवीय नियति या संकट की स्थिति के प्रति व्यंग्यभाव रखती तो बहुत अच्छी हो सकती थी, उसमें अन्विति आ सकती थी और धूमिल को अपने सारे अहसास पर नियंत्रण रखने वाले शब्द सहज ही मिल जाते। भाषा की साफ़गोई और आम आदमी की शब्दावली लेकर ही कविता संभव नहीं होती है। उसके लिए शब्दों में जीवन भी भरना होता है, कल्पना का घनीभूत केन्द्रण भी आवश्यक होता है, और यही क्यों आस-पास बिखरे चालू शब्दों के उठाने में एक बौद्धिक सतर्कता अपेक्षित होती है। यह सब 'पटकथा' के विशाल परिदृश्य में खो गया है। उनकी छोटी कविताएँ काफी घनी और चुस्त हैं। उनमें अनुभूति के तर्राट और तेज स्वर भी नियंत्रित और कल्पना द्वारा अनुशासित हैं। 'मोचीराम' की सफलता का रहस्य 'पटकथा' के अभावों के परिहार के ही कारणों में छिपा है। 'मोचीराम' का मोची कविता का केन्द्र है, उसमें एक नायक के गुण दिखाई देते हैं। उसमें जो बातूनीपन है वह मानव-स्थिति का सही परिचायक है, उसमें अनुभव की तीव्रता और स्थिति का सही जायज़ा मानवीय सन्दर्भ को सही ढंग से उजगार करता है। मोचीराम का पेशा, उससे सम्बद्ध संसार और उस सबसे कवि की सम्पृक्ति कविता में अन्विति बनाये रखती है। कविता कहीं भी बिखरी हुई नहीं हैं। उसके तार कहीं भी ढीले नहीं हुए हैं। देखिये कवि किस सफ़ाई से मोचीराम के वस्तुजगत को उजगार करता है।

अब आप इस वसन्त को ही लो
यह दिन को ताँत की तरह तानता है
पेड़ों पर लाल भाल पत्तों के हजारों सुखतले
धूप में सीझने के लिए, लटकाता है।

और कवितांत तक पहुँचते-पहुँचते जब ये पंक्तियाँ सामने से गुजरती हैं तो असलियत और सच्चाई की एक और पर्त खुल जाती है। यहीं पर कवि कर्म की सफलता भी सामने आ जाती है।

जो असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमज़ात मौके पर कायर है
वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार तू मोची नहीं शायर है ।

असल में 'धूमिल' में जिन्दगी का अहसास और उससे सीधी टकराहट काफी गहरी है । उनकी कविताओं का कथ्य जिन्दगी के बीच से उसमें डूबकर उठाया गया कथ्य है । यही कारण है कि इसमें समकालीन संदर्भ; मानव-स्थिति और बिल्कुल ताजी घटनाओं पर की गई प्रतिक्रिया भी समाई हुई है । यह अच्छी बात है कि उनको कविता में किसी प्रकार का कोई विलास नहीं : न जिन्दगी का, न कल्पना का और न भाषा शैली का, जो है वह सब एक बेवाक सच्चाई और जीवन की असंगतियों—संगतियों और रोजमर्रा के संदर्भों की कड़ी पहचान है, इस पहचान में वे अहं की मुद्रा और अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाली स्थिति से दूर एक तलाश के कवि हैं और इस तलाश में कविता के दौरान वे कहीं भी किसी तरह की 'पालिश' के कायल नहीं हैं— सब कुछ ठीक-ठीक और 'जैसा है वैसा है' की मुद्रा में वर्णित है :

जलते हुए जनतंत्र के सूर्योदय में
शरीक होने के लिए
तुम चुपचाप अपनी दिनचर्या का
पिछला दरवाजा खोलकर
बाहर आजाओगे
जहाँ घास की नोंक पर
थरथराती हुई ओस की एक बूँद
झड़ पड़ने के लिए
तुम्हारी सहमति का इन्तजार
कर रही है ।

धूमिल की 'पटकथा' में जो राजनैतिक संदर्भ है, देश का समकालीन बिखरा चेहरा है और प्रजातंत्र की थोथी उपलब्धियाँ हैं उन्हीं से मिलती भी और किंचित भिन्न स्थिति 'आत्महत्या के विरुद्ध' के कवि की है । कविता का जो दौर चल रहा है उसमें राजनीति एक अनिवार्य अंग बनती जा रही है । साफ है कि हम आज राजनीति से सम्बद्ध होने के लिए बाध्य हैं । रघुवीर

सहाय में इस चेतना को गहरे तक देखा जा सकता है। केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय की कविताओं से यह प्रमाणित होता है कि कविता और राजनीति अलग नहीं है। मैंने अभी पिछले पृष्ठों में कहा है कि ये कवि हिम्मत के साथ जटिल संदर्भों में जी रहे हैं और अपने को बराबर उस विन्दु पर उपस्थित पाते हैं जहाँ तनाव, उलझन, ऊब बेचैनी और संत्रास है। यह स्थिति राजनीतिक स्तर पर भी समझी जा सकती है। 'आत्महत्या के विरुद्ध की कविताएँ इसे समझा सकती हैं। ये रघुवीर सहाय की वे कविताएँ हैं जिनमें हमारी दैनंदिनी राजनीतिक संदर्भों में लिखी गई है। कविताओं का स्वभाव खुल्लमखुल्ला बात करने का है, परिष्कार या 'ओट' आवश्यक नहीं समझी गई है, तभी शायद इन कविताओं की दुनियाँ में विशिष्ट ही नहीं सामान्य जिन्दगी भी सिमट गई है। उल्लेखनीय यह है कि कवि स्वयं इस दुनियाँ का साक्षात्कार कर सका है। उसने कितने ही तरीकों से दैनिक जीवन के संसार को देखा-भाला है। पिछले वर्षों में जो ढोंग, स्वार्थलिप्सा, अहमियत, प्रपंच, पाखंड और भूँठे आश्वासनों का विकास हुआ है, वह यहाँ बखूबी मौजूद है। कवि ने बिना किसी हीनता का अनुभव किये पूरी साहसिकता और निर्ममता के साथ जिन्दगी की इस तस्वीर को कविताओं के चौखटे में जड़ दिया है।

हम आजाद क्या हुये मानो जिन्दगी के किसी भीतरी स्तर पर पराधीन और बेबस भी हुए हैं। हमने आजादी पाने के प्रयत्नों में जो आशाएँ एवं इच्छाएँ जगाई थीं, वे ही जैसे हमें आजादी के बाद खा गई हैं। हमारे विश्वासों को झूठे आश्वासनों के कीड़े और छलना की दीमक ने खा लिया है। अब तो 'दलबन्दी' की चक्की में पिसकर हम कहीं के नहीं रहे है। 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में रघुवीर सहाय ने इसी बात को रोष और आक्रोश की अपेक्षा सहज ढंग से कहा है जिससे पाठक चौंक उठता है। उसे अपने देश के इन्सान का यह खाका देखकर दुख भी होता है और भय भी लगता है। व्यंग्य का सहारा लेने से यह परिवेश और भी चमक उठा है। कवि की संवेदना तीखी और महीन है।

इन्हें 'अखबारी दुनियाँ' की या 'रक्त चाप हीन' कविताएँ कहा गया है। 'अखबारी' कहने वालों ने यह नहीं सोचा कि आखिर इन कविताओं के संदर्भ से इस विशेषण की क्या उपयोगिता है? शैली में जो नाटकीय आवेग हो सकता है वह यहाँ इतना स्पष्ट है कि कविता का सारा 'कन्टेन्ट' एक ही साँस

में ऐसे प्रभावशाली ढंग से उतरता है कि हमारा ध्यान उसे छोड़ इधर-उधर कहीं भी भटकता नहीं है। यह घनीभूत केन्द्रण किसी भी कविता के लिए वहुत बड़ी विशेषता है। फिर 'रक्तचाप' तो इन कविताओं का है, किन्तु वह उतना ऊँचा नहीं जितने से कविता की मौत आस-पास मँडराने लगे। यह अच्छी वात है आक्रोश और भड़काने वाली शैली में जो तात्कालिकता होती है वह कविता को कितने दिन को उम्र दे सकती है ? यह भी विचारणीय है। मुझे नेमीचन्द की यह बात सही लगती है कि 'ये कवितायें उमस भरे दमघोंट' वातावरण में हवा के झौंके के समान हैं क्योंकि उसमें वैयक्तिकता इतनी 'खानगी' या 'प्राइवेट' नहीं वल्कि सामान्य यथार्थ के साथ निजी साक्षात्कार से उत्पन्न होती हैं, तभी तो इनमें कवि वरावर एक सचेतन व्यक्ति की तरह पूरी आजादी के साथ सामान्य जनता या भीड़ भरे समाज से अपने सम्वन्धों की खोज पर बढ़ सका है। व्यक्तिगत स्तर पर शुरू हुई यह तलाश विशिष्ट होकर भी परिवेश से कटी हुई नहीं है। राजनैतिक संदर्भ है जरूर पर वह उस अनिवार्यता के रूप में आया है जिससे हम, हमारा जीवन और हमारे समाज का चिन्तन अनिवार्यतः जुड़ता चला गया है। राजनीतिक सम्वन्धों के माध्यम से हमारे आस-पास का परिवेश पूरी तरह परिभाषित है। 'राजनीति' इन कविताओं का लक्ष्य नहीं। अतः ये 'अखवारी भी नहीं है और इनमें रोजमर्रा की जिन्दगी का सही और ठोस विम्बांकन है इसलिए रक्त-चाप है और जरूर है। कृति का शीर्षक ही नये तेवरों से युक्त है, उसकी व्यंजना ही इतनी तीव्र है कि कविताओं के रक्तहीन होने का सवाल ही कहाँ पैदा होता है। सारी कविताओं में छटपटाहट, आक्रामकता और चीत्कार है और वह सारे परिवेश से सम्बद्ध है। परिवेश की यह थोथी और विसंगत आवाज कविताओं में है। "लोकतंत्र में हमें इन्सान की शानदार जिन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।" यह चाँप और तनाव ही इन कविताओं का स्वर है—एक नया काव्य-जगत है। इसमें 'हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द है। आदमी राजनीतिक प्रपंचों और झूठे आश्वासनों के बीच में कायर की तरह टूट रहा है। इस पस्त मनोदशा को साहसिकता देने का कार्य कविताएँ करती हैं। साहसिकता और निर्मम वास्तविकता का मूल्य इन कविताओं में विकसित हुआ है। इनकी भाषा भी नई है। "कोरे वायदों और वादों से भ्रष्ट भाषा" की जीर्णोद्धार कामना इन कविताओं में लक्षित होती है :

वह आया बैठ गया आदतन एक बहस, छेड़कर
गया एकाएक बाहर जारों से नकली दरवाजा भेड़कर
दर्द-दर्द मैंने कहा क्या अब नहीं होगा
हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द....'

एक बात है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक कविताओं का स्वर एक ही है—व्यंग्य, क्षोभ, खीझ और करुणा का। अतः एक ही या एक-सी ही मनःस्थिति की आवृति का अनुभव मन को थका देता है। आखिर शैली या मुहावरे का नयापन उस थकान को हर बार दूर भी कहाँ तक करे? उसकी भी एक सीमा है। फिर भी कवि की नाटकीय शैली और उसकी सहज प्रस्तुति मन को लुभा लेती है। सामाजिक व्यवस्था और हमारी प्रवृत्ति की जड़ता पर लिखी गई ये पंक्तियाँ देखिये :

हर संकट भारत में एक गाय
होता है
ठीक समय ठीक बहस कर नहीं सकती
राजनीति
बाद में जहाँ कहीं से भी शुरू करो
बीच सड़क पर गोबर कर देता है विचार
हाय-हाय करते हुए हो-हो करते हुए हैं-हैं करते हुए
समुदाय

रचनात्मक स्तर पर ये पंक्तियाँ बिना किसी प्रतीकात्मक और बिम्ब परिवेश के अपनी सहज नाटकीयता के ही कारण अविस्मरणीय रहेंगी। इस तरह साफ है कि रघुवीर सहाय ने अपना मुहावरा बदला है और पूरी साहसिकता के साथ यह 'रचना' प्रस्तुत की है जिसमें परिवेश की समस्त हकीकत उभर आई है। सामान्यतः ६० के बाद लिखी गई कविता में बनावटीपन और बाहर से जबरदस्ती ठूँसे गये जो संदर्भ मिलते हैं उनसे 'आत्म हत्या के विरुद्ध' का कवि अलग है। उसमें नवीनता है और नयी कविता के चालू 'पैटर्न' से हटकर चलने वाले साहसिक कदमों की पदचाप भी साफ़ सुनाई पड़ती है।

दिनारम्भ और मायादर्पण :

श्रीकान्त ने जीवन को कई तरह से देखा है। उनकी कुछ कविताओं को छोड़ दें तो उनकी दृष्टि का रूप सामने आ जाता है। जीवन में जो

तनाव अनिश्चय और विसंगति व्याप्त है वह श्रीकान्त की कविताओं में भी रघुवीरसहाय की तरह ही व्यक्त हुई है। 'माया दर्पण' की कविताएँ अनिश्चय और असन्तोष की कविताएँ हैं जिनमें 'तनाव' और विसंगति रचनात्मक स्तर पर व्यक्त हुए है। हाँ, मूल्यान्वेषण उनमें नही हैं। जो कवि आज के संसार की समस्त उत्तेजना और जीवन पद्धति को तीव्र नाटकीय भाषा में स्वर दे रहा हो वह अभी मूल्यों की तलाश शुरू करे भी तो कैसे ? अभी तो वह समकालीन जीवन की क्रूर और निर्मम स्थितियों का वास्तविक अंकन कर रहे है। अतः उनकी कविता के सम्बन्ध में निर्णय या मूल्यांकन का प्रश्न भी अभी नहीं उठता है। हाँ, उसका विवेचन व विश्लेषण किया जा सकता है 'तनाव' की स्थिति की सही और सहज व्यंजना के लिए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ। न ओरों का खून', या फिर तुम जाओ अपने बहिश्त में, मैं जाता हूँ, अपने जहन्नुम में। पंक्तियों के मर्म को समझा जा सकता है। वस्तुतः श्रीकान्त का कवि जीवन का सीधा साक्षात्कार करता है और हर स्थिति को पहचानता है। साक्षात्कार के क्षणों में वह जिन्दगी को अलग-अलग टुकड़ों में देखता है। यह तरीका जिसमें मानव जीवन को शीशे के टुकड़ों में देखा गया हो सार्थक हो न हो सफल तो हो ही सकता हैं। काँच के ये टुकडे साथ-साथ रखे जाने पर पूरी तस्वीर तो दिखा हो देते हैं। फिर कवि का अन्तस एक ऐसे दर्पण वाला कैमरा है जो कितनी ही आकृतियों के 'स्नेपशोट्स' संकलित करता हुआ 'भटके मेघ' की मध्यवर्गीय वेचेनी और बेवसी तया दिनारंभ की आस्था और साहसिकता के बाद पूरी निश्शंकता के साथ जिन्दगी की क्रूर वास्तविकताओं की एक 'रील' ही 'माया दर्पण' के नाम से प्रस्तुत कर सका है।

'दिनारंभ' में कवि की ज्यादातर छोटी कविताएँ हैं। कोई-कोई तो इतनी छोटी कि जानबूझ कर छोटी की गई लगती हैं। यह इसलिए कह रहा हूँ कि छोटी कविताओं में संकेत से साफ कहने का लोभ दिखाई देता है वह उनके लिए खतरा भी पैदा कर देता है। नतीजा यह है कि 'दिनारंभ' की कई कविताएँ कम शब्दों में ज्यादा तो क्या अपनी बात भी नहीं कह पाती हैं। फिर श्रीकान्त के मनमें अटपटे शब्दों का संयोजन करने वाला मोह उन्हें और भी विगाड़ गया है। ऐसी स्थिति में प्रेषणीयता बाधित हुई है। फिर भी छोटी कविताओं में 'क्रोध', 'मैं हूँ आकाश', 'जागता है', 'बाहर' 'निवासी' 'दिनारंभ' व 'मध्याहन' अच्छी कविताएँ हैं। 'दिनारंभ' कविता तो खासी अच्छी है—अपनी पूरी 'सजेस्टिवटी' के साथ मन को बाँधती है :

शहरों में छत्तों में
ह–ल–च–ल
हुई
मक्खियाँ
बैठ गयीं
म–ड–रा
अपनी–अपनी
मेजों पर

'दीख नहीं पड़ते हैं अश्वारोही, लेकिन सुन पड़ती है टाप, झेल रहा हूँ शाप' जैसी पंक्तियों में 'टाप' के लिए 'शाप' केवल तुक मोह नहीं है। उसमें एक अभिशाप्त स्थिति और विवश मनःस्थिति का सांकेतिक अंकन है। 'अश्वारोही' प्रतीकार्थ लिए हुए है सीधा समझने से ही 'शाप' तुकाग्रह लग सकता है। कुछ कविताओं में 'रिपीटीशन' भी है। कवि अपने को दुहराता है और एक ही मनःस्थिति को अलग-अलग कविताओं में व्यक्त करता है। 'स्मारक' और 'टूटी पड़ी है परम्परा' व 'एक स्त्री का कायाकल्प' जैसी कविताओं में यह है। यह मानने को मन नहीं होता कि कवि स्थिति-विशेष को रेखांकित करने के लिए यह दुहरा रहा है यदि दुहराना ही हो तो मुद्राओं में परिवर्तन तो आना ही चाहिये। 'दिनारम्भ' की कुछ छोटी कविताओं में रागात्मक दृष्टि के संकेतक बिम्ब भी हैं। संकलन की उल्लेखनीय बड़ी कविताओं में 'एक मुर्दे का बयान' 'युद्ध और 'क्लिप' और 'पटकथा' खासी अच्छी है। 'मुर्दे के बयान' में कवि की खीझ, आक्रोश और आत्म साक्षात्कारी प्रवृत्ति का अंकन है। कवि जब कहता है : न मेरी कविताएँ हैं, न मेरे पाठक हैं, यहाँ तक कि मेरी सिगरेटें भी नहीं हैं, तो सिगरेट के प्रयोग से व्यंग्य और भी गहरा लगता है। यही व्यंग्य जब कवि को आत्म साक्षात्कार की सीढ़ी पर लाता है तो वह अपने को टटोलते हुए दावे के साथ कहता है कि 'मैं' एक साथ ही मुर्दा भी हूँ, और ऊदबिलाव भी, मैं एक बासी दुनियाँ की मिट्टी में दबा हुआ, अपने को खोज रहा हूँ/व्यग्य यहीं समाप्त नहीं होता वह तो और भी तीखा और पैना होता गया है और कवि उसे पूरी निर्ममता के साथ व्यक्त करता चलता है :

मैं एक बिल्ली की शक्ल में छिपा हुआ चूहा हूँ
औरों को टोहता हुआ
अपने से डरा हुआ बैठा हूँ

व्यग्य 'युद्ध और क्लिप' कविता मे भी है और अच्छा व्यंग्य है। 'काकरोच' प्रतीकार्थ लिए हुए है—उस व्यक्ति का जो बेपरवाह है तथा जिस पर बदलती दुनियाँ का कोई असर नही है, किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कवि का मन एक अजीबोगरीब सवाल उठाता है : "दुनिया की क्लिपे, अभी खत्म नही हुई, कि दुनिया की सुन्दरियाँ, झुककर काकरोच के समीप कहे, कि बिना काकरोच के गुजर नही", एक अजीब हरकत है जिससे व्यग्य भी झटके से समाप्त हो जाता है तथा मन वितृष्णा से भर उठता है। 'ढग' अजीब ढग की कविता है, पर फिर भी उसमे जो नाटकीय शैली है और अन्त मे जो सदर्भ है, वह समूची बेजान पक्तियो मे जान डाल देता है। कवि आवेश मे एक वाक्य की आवृत्ति करता हुआ जिन्दगी की विसगति पर प्रकाश डालता है। कवि जब कहता है कि 'वक्त चला जाता है, वक्त चला गया है और आगे : हर जगह हाजिर था मैं, लेकिन दस्तखत कही नही" तो बात साफ हो जाती है और भाषा की मितव्ययिता भी मन को लुभाने लगती है।

श्रीकान्त बराबर तनाव, सत्रास और विसगति वाले बिन्दु पर हाजिर रहते हैं। वे चाहे 'दिनारभ' की कविताएँ हो या मायादर्पण' की। हाँ, 'माया दर्पण' की छोटी कविताओ मे एक अतिरिक्त शक्ति भी है जो 'दिनारम्भ' मे नही है और वह अटपटे शब्द सयोजन का त्याग करने से आई है। 'माया दर्पण' मे जो कविताएँ है वे मानव-सम्बन्धो की सारी भयावहता, रिक्तता, घृणा, अविश्वास और खोखलेपन को व्यक्त करती है। ये वे कविताएँ है, जिनमे कवि अभिव्यक्ति का पूरा खतरा उठा कर मानव के द्वन्द्व, तनाव, सघर्ष, सशय और अनिश्चय को शब्दो का परिधान पहनाता है। अनुभूति को व्यक्त करने के लिए श्रीकान्त जिस भाषा को अपनाते है वह बाहर से लिज-लिजी, घृणास्पद और अप्रत्याशित भले ही लगती हो पर उसकी चोट भीतरी होती है। उनके भीतरी मानस-दर्पण मे उभरी हुई आकृतियाँ समसामयिक परिवेश और युगीन सवेदना की देन है। कवि ने कितने ही मुखोटो को उतारने की कोशिश की है, कितनी ही बंद खिडकियो की जिन्दगी को उजागर किया है और कितने ही गभीर सत्यो को भोलेपन से व्यक्त कर दिया है। कवि पूरी तरह देखता है, अधूरा देखना उसे पसन्द नही तभी तो एक कोण से वह जिन्दगी के सभी टुकडों को देखता है और उन्हे एक व्याख्या देने के लिए जोडता जाता है। वह दुनियाँ की बखिया उधेड़ता और बात को वजनदार बनाने के लिए ही इतनी जोखिम उठाता है।

'माया दर्पण' की लम्बी कविताओं में जान है। वे मानव सम्बन्धों को कई स्तरों पर प्रस्तुत करती हैं। उनमें जो भयावहता, अविश्वास और घृणा व रोष, है; वह चिढ़ और खीझ के साथ व्यंग्य की भाषा मे व्यक्त हुआ है। उल्लेखनीय कविताओं में 'हेर-फेर' 'माया दर्पण' 'दुनियाँ नामक वेश्या का शोक गीत' 'घर धाम' 'जीवन बीमा' 'नकली कवियों' की वसुन्धरा' 'प्रेम वक्तव्य' 'बुखार में कविता', 'दो टूक रास्ता' 'अन्तिम वक्तव्य' 'समाधि लेख' वह मेरी नियति थी' 'एक और ढंग' 'दूसरे का डर' का नाम लिया जा सकता है। इन सभी में उपरिसकेतित स्थितियों का अंकन है। 'दूसरे का डर' में द्विधाग्रस्त मानव का हवाला हैं, उसकी अनुभूति है। आदमी के भीतर जो आदमी है वह भयावह है। इसी से हम आक्रान्त हैं। 'एक दिन' में कितने ही दिनों की खोखली जिन्दगी है जो उस आदमी को ढो रही है जो 'अपनी ही टाँगों पर टँगा गट्ठर हो गया है।' वह अब किसे पुकारे ? कैसे अपने दिन को गुजारे या गुजरे हुए को ही कागज पर कविता की तरह उतारता रहे ? यह विसंगति और भयावहता का तीव्र अहसास और भी कविताओं में है।

'घर धाम' में वे महानगर से वापिसी की स्थिति में आये हैं। सभ्यता के नाम पर जो शोर-गुल, पीड़ा और त्रास उन्होंने झेला है उसे वे अपने सहज जीवन से भुलाना चाहते हैं। सहज स्थिति में आने की यह जिजीविषा यहाँ तीव्रतर हो उठी है, पर ऐसी कितनी कविताएँ हैं और यदि और हों भी तो क्या यह श्रीकान्त का वास्तविक स्वर है ? क्या इसकी कोई संगति इन पंक्तियों से विठार्य। जा सकती है जो कई कविताओं में बिखरी हुई हैं :

१. मैं अनुभव कर रहा हूँ सब कुछ
बस छूकर चला जाता है
छला जाता है
आकाश भी
सूर्य से दूसरे दिन नहीं आता

२. सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं
क्या मैं भी दिन गिनूँ ?
अपने निरानन्द में
रेंक और भाग और लीख रहे गधे से

मैं पूछकर
आगे बढ़ जाता हूँ

३. एक सुबह उठते ही लगता है
मेरा विश्वास
जो मेरी परछाईं की तरह
मेरे संग था
कल मुझ को सोते में
छोड़कर चला गया।

४. बन्द करो
कपड़ा बुनने वाली मिल
टाँग दो शो-विन्डो में
दागों से भरा पेटीकोट

५. मैं गौर से सुन सकता हूँ
औरों के रोने को
मगर दूसरे के दुख को
अपना मानने की बहुत
कोशिश की, नहीं हुआ
मुझ से नहीं होगा।

६. मैं जानता हूँ एक दिन यह
पाने की विकलता
और न पाने का दुख
दोनों अर्थहीन हो जाते हैं।

७. कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा षड्यंत्र की)
कुछ और लोग सारा समय
कसमें खायेंगे लोकतंत्र की।

८. बरस रहा है अंधकार
....
जिज्ञासाहीन अंधकार में
कीचड़ की शय्या पर, स्वप्न देखती हुई

सुखी है वसुन्धरा। मनुष्य उगल रही है
नगर फेंक रही है।

श्रौर भी कवितांश जुटाये जा सकते हैं जिनमें विवशता, व्यंग्य, विद्रूप, पश्चाताप, तीखी पीड़ा व अनारोपित श्रौर भयंकर सत्यों की ईमानी व वेलाग व्यंजना है। कवि पूरी निर्ममता के साथ कहनी-अनकहनी सभी कह देता है क्योंकि उसके लिए अनकहनी कुछ भी नहीं, छिपाकर रखने जैसी वेजान आदर्शीकरण वृत्ति का कोई मूल्य नहीं है। ऐसी व्यंजनाओं में जो खतरा उठाना पड़ता है वह श्रीकान्त की कविताओं में है श्रौर ज्यादा सही यह कहना होगा कि .वे उससे बचने का कोई तरीका नहीं खोजते हैं। वे तमाम क्षुब्ध करने वाली स्थितियों से बचकर कोई भी खूबसूरत दुनियाँ गढ़ना नहीं चाहते। वे नहीं चाहते कि भयावहता श्रौर खोखलेपन से घबराकर केवल मरने के लिए किसी दूसरी दुनियाँ की तलाश की जाये। यही कारण है कि कवि तमाम परेशानियों के बावजूद 'दो टूक रास्ता' अपनाता है, कहीं कोई छिपाव-दुराव नहीं है। सभी कुछ खुला-खुला श्रौर साफ-साफ है। 'बुखार में कविता' भी इससे भिन्न नहीं है। उसमें जटिल परिवेश की सवेदना को उभारा गया है। 'कहाँ हैं तुम्हारा घर? अपना देश खोकर/कोई देश लाँघ कर पहाड़ से/उतरती हुई चिड़ियों का झुण्ड यह पूछता हुआ/गुजर जाता है: कहाँ है तुम्हारा घर?

आज के जीवन में राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीयता, देशभक्ति श्रौर मानवीय व्यवस्था तथा जीवनगत संतुलन आदि शब्द अर्थहीन श्रौर निस्सार हो गये है। इन शब्दों की चोट सहते हुए हमने कितनी ही छलनाओं को सहा है, कितनी ही प्रवंचनाओं के कीड़ों ने हमें श्रौर हमारी आत्मा को खा डाला है। यही कारण है कि श्रीकान्त प्रहारक भाषा में कहता है:

मूर्खो देश को खोकर ही
मैंने प्राप्त की थी
यह कविता
जो किसी की भी हो सकती है
जिसके जीवन में
वह वक्त आ गया हो
जब कुछ भी नहीं हो उसके पास
खोने को।

अपने राजनीतिक और सामाजिक जीवन का इतना तीखा अहसास और उसकी ऐसी अभिव्यंजना जो कितनी ही चक्करदार स्थितियों से गुजरती है, साहसिकता की परिचायक है। कुछ छोटी कविताओं में अवसाद, प्रेम और दैनिक परेशानियों की व्यंजना है पर वह ज्यादा प्रभावित नहीं करती है क्योंकि कवि का 'टोन' उनमें नहीं है। कुल मिलाकर जो धारणा बनती है वह यही कि कवि को अपने परिवेश का पूरा अहसास है और गहरा अहसास है। उसे व्यक्त करने में कवि क्रूर से क्रूर, भयानक से भयानक और नगे से नंगे शब्दों का सहारा लेने का खतरा भी उठाता है। आक्रामकता, व्यंग्य करना और कितने ही बद कमरों के दृश्यों पर वातायनों से दृष्टि का प्रकाश फैंक कर उजागर करना कवि का स्वभाव ही बन गया है। फलतः हर चीज छोटी से छोटी, जरूरी-गैर जरूरी उभर आई है। परेशानी तब होती है जबकि कवि गंभीर कथ्य के बीच में बेमतलब, साधारण और हल्के संदर्भों को बिठा देता है। यह 'लाइटनेस' सूचित करतो है कि कवि असाधारण गंभीर और साधारण को साथ-साथ रख कर व्यग्य को उभारता है। कई बार उसे सफलता भी मिलती है, किन्तु अधिकतर वह इस जोड़ से अनपेक्षित संदर्भ दे जाता है जिससे न तो किसी अर्थ की उपलब्धि होती है और न किसी हल्केपन की ही। तब वह बीच में जबरदस्ती लगाई गई थिगली लगता है। अनुमान किया जा सकता है कि कवि की संवेदना के सूत्र बहुत ऊँचे और गंभीर संदर्भ की ओर बढ़ते हुए यकायक टूट जाते हैं। कई बार इसलिए कि वे ज्यादा खिच जाते हैं और कई बार इसलिए कि कवि उन्हें संभालने में अपने को अशक्त पाता है। सर्जन–क्षणों में आया यह बिखराव और 'पैवन्दाना अन्दाज' ही श्रीकान्त की असफलता को सूचित करता है। न मालूम 'मलयज' को कैसे यह एक संभावनापूर्ण प्रयोग लगा है :

हरेक की शर्म के पीछे
इतिहास है'
मगर रुको इतिहास मैंने
बी. ए के बाद छोड़ दिया था।

यहाँ अन्तिम दो पंक्तियों की अनावश्यकता सहज ही पहचानी जा सकती है। इसी तरह तुकपूर्ण शब्दों की खोज में कई बार वह बहक गया है। 'जीवन बीमा' व 'जन्मपत्री' आदि कविताओं का तकाजा यही है। 'माया दर्पण' के ही एक अंश में जब कवि कहता है :

मगर खबरदार मुझे कवि मत कहो
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ गाली
फिर उसे बुद-बुदाता हूँ ।

तो वहक और स्पष्ट हो जाती है । यह बहक विकृति की ओर ले जाती है जो कविता के लिए कतई जरूरी नहीं है । ऐसी अनपेक्षित अतिरंजना और अतिनाटकीय शैली किस काम की जिसमें कविता का सपाट चेहरा ही भद्दा और अनपहचान तो लगे ही, उसके कविता होने में ही शक होने लगे । ईमानदारी और सपाटता जरूरी तो है, पर वह कविता का गला दबोचकर अपनी अहमियत कायम रखे, स्वीकार नहीं की जा सकती है । वास्तविकता अपने असली रूप में सामने आवे वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जब वह ढोंगी चोगा पहनकर आती है तो पोल खुलते देर नहीं लगती है । श्रीकान्त ने सामान्यतः या अधिकतर ईमानदार व्यंजनाएँ की है, उन्होंने परिवेश की पूरी मनस्थिति को जिया है । बीच-बीच में आई यह वहक और भटक कम ही स्थलों पर मिलती है, किन्तु जहाँ है वहाँ तुरन्त पहचान ली जाती है । कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ जिन्दगी के सही अहसास और उसके प्रति निभायी गई पूरी ईमानदारी की कविताएँ हैं उनमें जो भटकन और कहीं-कहीं आयी हुई वेमानी स्थितियाँ है वे कवि की अधैर्य और हड़बड़ी को जाहिर करती हैं । यह शुभपक्ष है कि ऐसी हड़बड़ाहट और गंभीर रचनाओं के बीच में ऐसी वेतरतीव और गैर सिलसिलेवार स्थितियाँ कम ही हैं । यों तो और भी ऐसे कवि है जिनमें इस तरह की असंगतियाँ मिल जायेंगी, किन्तु परिवेश के प्रति पूरी तरह जागरूक कवि उसके विशृंखलित रूप को जब-जब देखता है तब तब उसे जो क्षोभ होता है और भीतर ही भीतर वह जिस टूटन को महसूस करता है तब तब इस तरह की वेतरतीवी का आ जाना भी एक प्रकार से संदर्भ की सही पकड़ है, यह बात श्रीकान्त वर्मा और उनके समकालीन अन्य युवा कवियों में भी बखूबी देखी जा सकती है ।

राजकमल चौधरी : मुक्तिप्रसंग

'राजकमल' कवि, कथाकार, समीक्षक और सम्पादक कई रूपों में सामने आये । उनकी कुल तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं । 'स्वरगंधा', 'कंकावती'

और मुक्ति प्रसंग'। 'मुक्ति प्रसंग' उनकी एक ऐसी लम्बी कविता है जिसमें 'कंकावती' की व्यवस्था भले ही न हो, एक ऐसा परिवेश जरूर है या कहें कि कई परिवेशों का एक परिवेश है जिसमें राजकमल भी हैं और वह सारा समसामयिक घटना-चक्र भी है और उसके बीच-बीच में चुनाव, शोषण व्यवस्था, युद्ध, वियतनाम, बीटनिक आन्दोलन आदि प्रसंग भी आ गये हैं। 'कंकावती' में मुक्ति प्रसंग के बीज है। 'ककावती' का कवि व्यवस्था-प्रिय दीखता है, तभी तो उसमें यौन-संदर्भो की साहसिकता, अखबारी घटनाएँ, अतिरंजना, मुक्ति आसंग, 'न्यूड फोटोग्राफी', समय से सम्बद्ध बिम्ब और समकालीन घटना-चक्र, युगीन लाचारियाँ व पीड़ाएँ डायरी के नोट्स के आधार पर कविता आदि सभी को अलग-अलग देखा जा सकता है। मुक्तिप्रसंग में ये सभी एक जगह इकट्ठा हैं; किन्तु उस समायोजन में कवि की असफलता भी स्पष्ट है। मुक्ति प्रसंग बिखराव और अव्यवस्था की कविता है। उसमें यदि सारे सदर्भो की तहें इकट्ठी की भी जायें तो भी जोड़ या पैबन्द साफ-साफ दिख सकते हैं। असल में मुक्तिप्रसंग हड़बड़ी व विशृंखलित मस्तिष्क की देन है। एक ओर यह विशृंखलन और दूसरी ओर परिवेश का दबाव दोनों ने मिल कर कविता में भी बेतरतीबी को जन्म दिया है।

'मुक्ति प्रसंग' की जो ध्वनि है वह बाहरी तौर पर आकर्षक भले ही लगे, उसकी भीतरी तहें इतनी नगी और कमजोर है कि उन्हें कविता में देख कर बड़ा धक्का लगता है। सारे प्रसगों में अनन्विति और संदर्भहीन बारिस का अहसास होता है। उसे पढ़कर राजकमल के निजी बिखराव और लम्बी बीमारी से जर्जर हुए मानस और व्यक्तित्व का पता चलता है। इतने पर भी एक बात सही है कि यह बिखराव अकेले राजकमल का नहीं, उस समूचे परिवेश और व्यवस्थाहीन लोकतंत्र में साँस लेने वाले हर राजकमल का है। तनाव और संत्रस्त मनस्थिति की यह कविता कवि के अनिश्चय ग्रस्त दिग्भ्रमित चेतना लोक की बेचैनी की प्रतिरूपक है। जब कवि कहता है :

क्यों नहीं है मेरे लिये कोई नाम/कोई नदी कोई चिड़िया।
कोई धूल कोई सिद्धान्त/कोई दरख्त कोई राजनीतिक हल।
कोई नशा कोई प्रेम कोई घृणा/कोई घर कोई आँगन कोई छाँव।
वापस लौट जाऊँ जहाँ एक बार फिर से/
अपनी यात्रा शुरू करने के लिए/

तो उसकी सही भूलों की तलाश का मद्धिम स्वर भी किसी कोने से कौंध जाता है, किन्तु वह कौंध कितनी कमजोर और क्षणिक है यह भी इसी तरह के अंशों से जाहिर हो जाता है। यह ठीक है कि लोकतंत्र एक कमजोर और बेमानी व्यवस्था का प्रतीक बनता जा रहा है, किन्तु इस व्यवस्थाहीनता से छूट कर एक नपुंसक और अपाहिज व्यक्ति की तरह से 'कस्सावों गाँजाखोर साधुओं भिखमंगों अफीमची रंडियों की काली अंधी दुनियाँ में जाकर मसानों में अधजली लाशों को नोचते हुए' धरती से अलग टूट जाने का न्यौता भी कितना बेमानी और संदर्भहीन है यह भी देखने की चीज है :

'अधजली लाशें नोचकर/खाते रहना

श्रेयस्कर है जीवित पड़ोसियों को खा जाने से।

हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है।

इस धरती से आदमी को हमेशा के लिए। खत्म कर देने की साजिश में।

यह तो लगता है कि आदमी के निरंतर चबाये जाने वाले व्यक्तित्व और तत्सम्बंधी व्यवस्था के लिए कवि विद्रोही हो उठा है और अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए सजग है, किन्तु धरती से शामिल न होने की बात नपुंसक और बेकार आदमी की कायर माँगों में यह विद्रोह दब सा गया है। व्यवस्थाहीनता और तमाम अन्तर्विरोधों में जीना और उसी में रह कर उसके प्रति विद्रोह करते हुए अस्तित्व रक्षा का प्रयत्न ही संघर्षजीवी व्यक्ति के लिए अहम है। 'मुक्तिप्रसंग' में चित्रित वितृष्णा विद्रोह बनने की कोशिश करती है और परिवेश के प्रति उसकी साझेदारी प्रहारक भी है। प्रहार की इस प्रक्रिया में कवि आत्मसाक्षात्कार की सारणियों से गुजरता है पर किसी निर्णय तक पहुँचने से पहले ही कोई चीज उसके हाथ में आते-आते छूट जाती है और वह उन समस्त स्थितियों—संगत-विसंगत, मूल्य-अमूल्य सूचक मूर्तियों को उलटने-पलटने में ही खो जाता है और उन तमाम अन्तर्विरोधों से लड़ने में लगा रहता है जो उसे या उस जैसों को भीतर ही भीतर छील रहे हैं। असल में वह और उसकी कविता संक्रमण के दौर की कविता है—उसे पार कर लेने का कोई भी मुक्तिप्रसंग उसमें नहीं है। सकार और नकार या केवल नकार ही नकार जो 'कंकावती' में था वह यहाँ सकार और नकार के बीच में पड़ी किसी दरार में अटक कर रह गया है—फाँस बन गया है जिससे मुक्ति असंभव तो नहीं, पर कठिन और पीड़ादायक प्रसंग बनकर अवश्य आई है।

यह दंश, यह फाँस और यह संक्रमण कविता के नेपथ्य में ही साँस तोड़ देता है। कविता रंगमंच पर आने से पहले ही 'पैरेलाइज्ड पोजीशन' पा जाती है।

'मुक्तिप्रसंग' में अंकित बिखराव और परिवेश की जटिलता से उत्पन्न जो बहुविध अनुभव हैं और अखबारी कतरनों की तरह टाँकी गई जो कागजी चिन्दियाँ हैं, वे समसामयिक प्रसंगों की श्लील-अश्लील, सामाजिक-राजनैतिक, साहित्यिक-गैरसाहित्यिक, मुक्ति और संकट, मृत्यु और भोग, मूल्य भ्रंश और मूल्यान्वेषण, बीमारी दवा और अस्पताल व काम-संयोग और अतृप्ति आदि की, जीवित तस्वीरें तो हैं, किन्तु उनका एकत्रीकरण भर कविता की सफलता के सामने प्रश्न-चिह्न की तरह लटका हुआ है। परिवेश के इतने फैलाव और विविध कोणों से बँधने के कारण उसकी एकतानता:अन्विति कच्चे धागे के अधिक फैल जाने से टूटी हुई और गाँठ लगी स्थिति की तरह हो गई है।

मुक्तिप्रसंग में शुरू से आखिर तक आक्रोश ही आक्रोश है और उस आक्रोश में वर्तमान की ध्वस्त स्थितियाँ हैं। आज आदमी देश और समूची मानव जाति जो जीवन जी रही है; वह सही जीवन नहीं है। यही सब राजकमल का प्रतिपाद्य है। प्रतिपाद्य तो है, किन्तु इसके भीतर वह आदमी नहीं है जिसमें जीवन की मुक्ति और जिजीविषा–हो, स्वस्थ संदर्भ हों। इसके विपरीत कविता से गुजरते हुए बराबर यह महसूस होता है कि कवि के मानस में–उसके अन्तस् में खौफनाक, विकृत और आकंठ कीचड़ में धँसा हुआ कोई आदमी है जो स्वस्थ मूल्यों की अपेक्षा अस्वस्थ मूल्यों का प्रतीक है। मैं यह नहीं कहता कि विकृति और कीचड़ परिवेश में नहीं है, किन्तु उससे जिस मुक्ति की बात या जिस देह राजनीति से मुक्त होने की माँग राजकमल करते हैं, वह कविता से तो किसी भी स्तर पर प्रमाणित नहीं होती है। जिजीविषा को न तो नकारा जा सकता है और न उसकी ऐसी उपेक्षा ही की जा सकती है जैसी कहीं कहीं राजकमल में है—मुक्ति प्रसंग में है। समस्याओं से जूझने, उनमें ही रहकर किसी नये संदर्भ से जुड़ना या किसी मुक्ति की खोज संभव है। जिस मानवीय उद्धार या मानव मुक्ति की बात राजकमल ने उठाई थी, वह सभी कुछ लिखने और सारे परिवेश की अर्थहीनता को व्यक्त करने के बाद भी संभव नहीं हो सकी। पूरी कविता परिवेश के परिचय की कविता होकर भी, मानव स्थिति के एक रूप की कविता होकर भी दोनों में से एक की भी पूरी कविता नहीं हो सकी है।

'अपने वर्तमान में जीवित रहकर' राजकमल ने अनुभव किया था: मृत्यु की सहज स्वीकृति से देह की सीमाओं, संगतियों और अनिवार्यताओं से मुक्त हुआ जा सकता है।........दो समानधर्मा शब्द: जिजीविषा और मुमुक्षा— इस कविता के मूल गत कारण हैं।' असल में समूची विकृतियों में साँस लेना मानवीय नियति है, 'मुक्तिप्रसंग' में आये प्रसंग जिस दहशती दुनियाँ को अंकित करते हैं वे सबके सब जीवनगत जटिलता को व्यक्त करते हैं: **'वैज्ञानिक राजनेता और स्त्रीअंगों के व्यापारी कुल तीन ही प्रभु-जातियाँ रह गई हैं।'** इसमें जो प्रहार है, जो पीड़ा है और जिस कुटिल जीवन-स्थिति की ओर संकेत है वह सही तो है, पर जटिल न होने के कारण धूमिल हो गया है। मुक्ति-प्रसंग के ज्यादातर प्रसंग कवि की आत्मस्वीकृतियों के निदर्शक हैं—उस परिवेश की पहचान के द्योतक हैं जो हमें जड़, निर्वीय और भोथरा बना रहे हैं। यह स्वीकार भी काव्यात्मक नहीं है। इसमें अनुभूति की ईमानदारी होते हुए भी संगठन की बचकानी स्थितियाँ हैं। उसमें परिवेश से सम्पन्न प्रतिक्रियात्मक अनुभूतियों का तीव्र प्रवाह तो है; परन्तु वह कचरे के ढ़ेर की तरह अनियंत्रित होने से हल्का हो गया हैं। यह हल्कापन और यह अनुभूतियों का समूह उपलब्ध संभावना का द्वार अधिक लगता है। उसमें चित्रित जो मनुष्य है वह जैसे भूखी और जर्जर पीढ़ी का प्रतीक तो बन गया है, परन्तु उसकी कोई दिशा नहीं बन पाई है, वह भीड़ से अलग तो होता है, होने की बान तो करता है, पर हो नहीं पाता है क्योंकि अलग होने की हर कोशिश जीवनयापन के सवालों से घिर कर वहीं कहीं अवरुद्ध हो गई है जहाँ वह कहता है:

> 'मेरे देश और मेरे मनुष्य का भविष्य निर्धारित करने के लिए अतीत
> निर्धारित करने के लिए मैं इतिहास पुस्तक की तरह खुला पड़ा हूँ
> लेकिन मेरा देश मेरा पेट मेरा ब्लाडर मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले
> सर्जनों को यह जान लेना होगा।
> हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त अथवा माँस
> अथवा मिट्टी।"

'मुक्तिप्रसंग' में मृत्यु चेतना और उसके स्वीकार के साथ अपने अहं के विलयन का आभास भी मिलता है। मुक्ति के बारे में सोचता हुआ कवि जब बेहोश होकर सो जाता है तो वह महसूस करता है कि 'शरीर से अलग होकर ही मुक्ति के विषय में कोई फैसला किया जा सकता है।' 'आपरेशन टेबुल'

पर उसकी हताश और घायल चेतना सर्वत्र विध्वंस ही विध्वंस देखती है। उसकी चेतना से उद्भूत यह खण्ड देखिये :

सड़ी हुई आँखों का मवाद ईथर की गंध किडनी में
कैंसर के रक्त श्वेत पुष्प
चौराहे पर मरा हुआ रक्तश्लथ कुंडलिनी का काल सर्प खण्ड-खण्ड
खण्डित ध्वजा-दण्ड खण्डित मूर्तियाँ
अस्थि सीमाओं की लक्ष्मण रेखाएँ नहीं रही दृष्टि दोष
मृत हुए मेरे दशाश्वमेध के सभी अश्व नौकाएँ डूब गयीं—

हताश मनस्थिति की यह अनुभूति तीव्र कवि की दंशक स्थिति का ग्राफ है। इसमें एक ओर करुण विवशता है और दूसरी ओर हल्का विद्रोह और कुछ शून्यता भी है।

कुल मिलाकर 'मुक्ति प्रसंग' एक परिवेश को, एक विशिष्ट मनस्थिति को स्पष्ट करने वाली कविता है। इसमें अन्विति का अभाव और अनुशासन-हीनता भले ही हो, किन्तु परिवेश का एक चित्र भी है। अनेक सामयिक प्रश्नों और समस्याओं को कवि ने उठाया है। इस तरह यह कविता प्रश्नाकुल मनस्थिति की कविता है—प्रश्नों की शुरुआत यहाँ है, समस्याओं और संदर्भों की भीड़ यहाँ है जिससे समकालीन परिवेश साफ हो जाता है, किन्तु उसमें कोई मुक्ति प्रसंग नहीं है, कोई समायोजन नहीं है। यही इसकी सफलता है और यह असफलता बेकार नहीं है सफल होने के लिए तैयार भूमिका भर है। यदि वे जीवित रहते तो शायद इस कविता में छिपी सम्भावनाएँ आगे आकार पा लेतीं। एक चेतन कलाकार की यह विकृत चेतना और उसका इतनी जल्दी मृत्युन्मुखी होना हिन्दी का नहीं समूचे साहित्य का दुर्भाग्य है। कविता असफल होकर भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें मानव-स्थिति से सीधा साक्षात्कार है और साथ ही हर बिन्दु पर सजग कवि की जागरूकता तो है ही भले ही उसमें कोई दरार या दीवार हो। एक 'सर्जन' की तरह की गई चीरफाड़, एक दूसरे किस्म के सर्जक के हाथों इस कविता में हुई है। स्थितियों और परिवेश का यह 'आपरेशन' काफी खुलासा होकर सामने आया है। गद्यात्मक अंशों की भरमार है और साथ ही अनुभूति से पूरी तरह ताल-मेल न बिठा न पाने वाले शब्द भी हैं। बिम्ब यहाँ नहीं है। परिवेश की विकृति और उसका फैलाव बिम्बों को बिखेर गया है। वे बनते-बनते रह गये हैं, ठीक उसी तरह जैसे यह कविता अन्विति और कलात्मक

संवेदना के अभाव में सफ़ल कविता होते–होते रह गई। कवि के अधैर्य, उसकी हडवड़ी और विकृति के कारण अनेक जटिल अनुभव और अन्तहीन सच्चाइयाँ सतही होकर रह गई हैं। उनमें वह संश्लिष्टता नहीं आ पाई है जो अपेक्षित थी। परिवेश का इतना सही और दहशत भरा परिचय देकर भी कवि अपने विकारग्रस्त मानस के कारण कोई सही तलाशा हुआ मूल्य प्रदान नहीं कर सका। वह केवल मूल्यों की शुरूआत कर सका, उसके लिए भूमिका तैयार कर सका। यह भी संतोष की बात है। स्वतंत्र देश में जहाँ स्वतंत्रता ही अभिशाप हो, इस तरह का असंतोष और उसी के सहारे की गई यह तलाश भी महत्वपूर्ण है।

'शहर अब भी सम्भावना है'

साठोत्तरी पीढ़ी में जो नये कवि सामने आये हैं, वे एक अजीबोगरीब स्थिति से गुजरते दिखाई देते हैं जो अपने को परिवेशबद्ध प्रमाणित करने के लिये जीवन व्यापी विसंगतियों और स्थिर सामाजिक मूल्यों के प्रति असन्तोष और विद्रोह की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। देखना यह है कि विद्रोह, क्षोभ और आक्रोश कहीं चौंकाने या दिखाने भर के लिए की गई चीख-पुकार तो नहीं। 'अशोक' साठोत्तरी पीढ़ी के नवोदित कवि हैं। इसी कारण नये उभरते कवि की समस्त आकुलता और अस्पष्टता इनमें है। शहर अब भी संभावना है' में उनकी ५१ कवितायें संकलित हैं कुछेक कविताओं में प्रेषणीयता बाधित हुई है, कई कविताओं का प्रारंभ कुछ और अन्त कुछ है। लगता है कवि कुछ कहना चाहता है। उसके मन में तनाव है, द्वन्द्व है, कुछ कहने और कर गुजरने की अकुलाहट है, पर उसे व्यक्त करने के लिए सही शब्दों का तलाश अभी शुरू नहीं हो पाई है। यह कवि का प्रारम्भिक संकट है। इसका यह अर्थ नहीं कि अशोक जी कविता लिखना ही बन्द करदें। निराशा की स्थिति तो इसलिये नहीं कि कवि के भीतर खलबली है और उसे व्यक्त करने के लिए वह प्रयत्नरत है। फिर सम्भावना का द्वार तो प्रयत्नरत के लिए खुला ही हुआ है।

कविताओं को देखने से लगता है कि कवि नयी बात कहने और सही शब्दों में कहने के लिए उत्साहित है। इसके लिए भाषा की उत्तेजकता और चौंकाने वाली शैली ही अभी कवि के हाथ लगी है। वे जिस संदर्भ को व्यक्त करना चाहते हैं वह उनके मन में भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है तभी तो शिल्प

में कथ्य की ही भाँति टूटन और छटपटाहट है। अनुभूति के पहले ही वे उसे अभिव्यक्ति के द्वार ले जाते हैं और इस जल्दबाजी और अधैर्य में कथ्य के सूत्र उनके हाथ से जाते रहते हैं, सिर्फ एक धूमिल-सी छाया अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि तैयार करके रह जाती है फिर भी जैसा मैंने कहा अभी संभावना है और पूरी संभावना है कि वे कुछ धैर्य संकलित कर और अभिव्यक्तिगत संतुलन पाकर कथ्य को प्रेषणीयता के द्वार ला सकेगें। संकलित कविताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि वे ईश्वर, समाज, शहर, वसंत और प्रेम के कवि हैं। कवि की दृष्टि का आभास देने वाली ये पंक्तियाँ देखिये :

मैंने कभी नहीं चाहा कि इसे बचाऊँ
या अपने ढंग से बदलने में भिड़ जाऊँ
मैंने कभी इसके लिये लड़ना नहीं चाहा
और मैंने प्रार्थना करना भी नहीं सीखा
मैंने दुनिया का कभी कुछ नहीं जाना
सिवा अपनी माँ की अक्लान्त करुणा
अपनी प्रेमिका के निविड़ प्यार के
कुछ और भी है जो जाना जा सकता है।

संकलित कविताओं में 'जब हम प्यार करते है', 'कहाँ होती है दुनियाँ' 'एक कविता क्रम', 'लोगों का त्यौहार', अन्त, 'ईश्वर' और 'शहर अब भी सम्भावना है' कविताएँ प्रभाव डालती हैं और ये ही उनकी रचनात्मक सफलता की सम्भावना का प्रवेश द्वार है। 'वसन्त' पर लिखी गई कविताओं में आकर्षण है। यह अशोक का प्रिय विषय है तभी तो वे बार-बार इस पर लौटते हैं। 'शहर अब भी सम्भावना है' कविता में आज की मानव-नियति पर अच्छा संकेत है। साठोत्तरी पीढ़ी में अस्वीकार, आक्रामकता, क्षोभ और उत्तेजना का स्वर बड़ी तेजी से उभरा है। आज की परिस्थितियों में ये स्वर मूल्य बनने की तलाश में भटकते दिखाई देते हैं। इनकी अभिव्यक्ति कवियों के साहस का परिचय तो देती ही है, कहीं-कही सारे खतरे उठाकर भी शिल्प को एक नया मुहावरा देती जान पड़ती है। वास्तविकता की चुभन को सहज अनुभव की पीठ पर व्यक्त करने वाली ऐसी ही पंक्तियाँ अशोक में भी मिल जाती हैं :—

— धुँधलके में
मैंने देखा–मैंने पहली बार उसे देखा
उसका काला दुबला शरीर हाँफ रहा था
एक बिचके चेहरे में आँखें नीचे झुकीं थी
उसके हाथ में शायद करताल थी
डण्डे, गँडासे और झण्डे लिए खड़ी एक
भीड़ के पीछे
खड़ा था वह
और उसके पीछे
दूर कहीं भोर का संकीर्तन था।

'प्रतिबद्धता' की चर्चा नयी पीढ़ी के संदर्भ से हुई है। वह अशोक में है, पर उसकी यह प्रतिबद्धता प्राथमिक-स्तर पर है। जो भी हो यह सामाजिक जीवन की अनिवार्यता तो है ही। अशोकजी की प्रतिबद्धता निजी परिवेश की प्रतिबद्धता है। यह ऐसे संदर्भों की प्रतिबद्धता है जो मनुष्य की अहम आवश्यकता है। यही वे संदर्भ हैं जिनके सहारे आदमी समाज में रहता है या जीवन बिताता है। यों इस प्रतिबद्धता में उस एकरसता को बदलने की छटपटाटह भरी कोशिश भी है :

वह चली गयी है लेकिन अपना शहर,
जो मेरे और उसके बीच
कभी एक चट्टान था कभी एक नरम बिस्तर था
मैंने नहीं खोया है
मेरी भाषा अब भी मेरे पास है।

संकलन में अच्छी कविताएँ गिनती की ही सही पर उनमें समाज व्यापी असंगति व निरन्तर बढ़ते जाने वाले तनाव और ऐंठन, टूटन की अनुभूति आत्मीय स्तर पर उद्घाटित हुई हैं। अतः संभावना की खोज के लिए लिखी गई यह कविता-यात्रा उपेक्षणीय कैसे हो सकती है? ताजा शिल्प प्रयोग के नमूने के तौर पर कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें कवि की सतत जिज्ञासु दृष्टि का संकेत है :

१. मैं अपनी जेब में एक शाम लिये घूमता हूँ।
२. तुम्हारा मुक्त अकेलापन
आलोकित आकाश है।

३. किसी पेड़ से एक-एक कर
झर जाने वाली पत्तियों की तरह
शामें गुजर जाती हैं।

४. एक जीवित पत्थर की दो पत्तियाँ
रक्ताभ, उत्सुक
काँप कर जुड़ गयी
मैंने देखा
मैं फूल खिला सकता हूँ।

'अशोक' में युवाकवियों की ईमानदारी है और यह ईमानदारी इस अर्थ में है कि वे अपनी स्थिति से परिचित हैं। उनमें आक्रोशी कवियों की तरह न तो दंभ है और न कोरा दिखावा ही है। वे जिस ईमानदारी से अपनी सीमा और अपनी गहराइयों को स्वीकार करते है, वह काफी साफ़ स्वीकार है,

कवि में धैर्य है बेकार का आक्रोश नहीं है,। वह सम्भावनाओं का कवि है और उसकी आगामी कविता निश्चय ही उसकी स्थिति को अधिक स्पष्ट करेगी। अशोक की चिन्तना मानवीय है, पर उसमें जड़ता नहीं। प्रश्नाकुलता और जिजीविषा उनमें है, पर उसकी अभिव्यक्ति उतनी साफ नहीं जितनी से उसे मानवीय संवेदनाओं के गहरे अहसास का कवि कहा जाय। प्रेम की कविताओं में कवि सफल है, उनमें प्रेम विषयक चिन्तन की अच्छी पहचान है। प्रेमपरक कविताओं में बँधाव है, उनमें आवद्ध करने की क्षमता है, विम्व भी सधे हुए हैं और प्रतीक अनुभूति के अनुकूल है :

मैं नहीं कुछ और बस एक हरा पेड़ हूँ
हरी पत्तियों की एक दीप्त रचना।

प्रकृति और प्रेम की कविताओं में कहीं-कहीं तेज और दाहक भाषा है। उसमें शक्ति है और साहस है। ऐसे स्थलों पर कवि का 'मैं' द्रवित होकर पिघलता दिखाई देता है। 'भिलाई' कविता इसका प्रमाण है। कवि की निम्नांकित पंक्तियाँ उसके एकांत वोध का स्वीकार होकर भी कितना सही अहसास करती हैं :

मेरा हृदय
गले हुए आलोक स्फुटित लोहे की तरह
असंख्य मार्गों से तेरी ओर बहता रहेगा।
इस्पात की तरह भारी होने लगेगा
तेरा रक्त और तेरा हृदय और तेरा प्यार।

अशोक की कविताओं में प्रेम का छिछला रूप नहीं है, उसमें घुटन की ग्रंथियाँ नहीं हैं। वह युवा अन्तस् का एकांतबोध है जो उल्लास और अवसाद दोनों में संतुलित है—बेकार के आक्रोश से मुक्त है। अशोक के बिम्ब बड़े स्पष्ट हैं। उनमें अन्विति है, सघनता है।

तुम्हारी आँखें : धूप के दो जले हुए टुकडे
और तुम धूप में गिरता हुआ खंभा।

वस्तुत: अशोक की कविताओं में बेकार का शोर-शराबा नहीं है; एक आन्तरिक तनाव जरूर है। भीड़, ट्रेन, बस, सड़क, शहर और ऐसे ही संदर्भो में यान्त्रित होकर भी कवि अपने इसी तनाव से एक झनझनाहट भर महसूस करता है और 'एक धमनी की तरह थिर है'। यह थिराव इन उक्त स्थितियों के बीच रहकर अपने अस्तित्व की गहरी अनुभूति से उत्पन्न है। अत: जड़ता उसमें नहीं है; एक तलाश भर है।

आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएँ

राजीव का ६६ में प्रकाशित कविता संकलन : रोज-रोज देखने में आती कविताओं के ढ़ेर में अलग पहचान वाला, आधुनिक मानव की विशेष मन:स्थिति को रेखांकित कर कहने वाला। आज भीड़ में रह कर भी आदमी जिस अजनवियत, अलगाव और निरर्थकता का अनुभव करता है वही कविताओं का कथ्य भी और सीमा भी। यों कवि ने अपने को नयी कविता से अलग रखने की इच्छा प्रकट की है—शायद इसलिए कि वह उभरती पीढ़ी के साथ खड़ा हो सके। 'आत्म निर्वासन' का रहस्य समझने के लिये उस संकट का बोध अनिवार्य है जो परिस्थितिजन्य है। यह सामाजिक निर्वासन नहीं है वरन् उस अनुभूति का बोध है जिसे परिस्थिति के बोझ से आदमी समाज में रहकर, उसमें घटित संघर्षो और अन्त: संघर्षो के कारण भोगता है।

जो सामाजिक विसंगतियाँ सामने हैं उन घबरा कर कहीं कोने में जा छिपने की प्रवृत्ति आत्म निर्वासन का कथ्य नहीं है, अपितु विसंगतियों के बीच रह कर भी कतिपय 'पर्सनल' निर्णयों के साथ जीने की विवशता ही इनका 'कन्टेन्ट' है। कवि प्रश्नाकुल मनःस्थिति में जिया है तभी उसकी लेखनी से ये पंक्तियाँ लिखी जा सकीं जिनमें संदेह का स्वर भी है और बन्धनों के प्रति आक्रोश भी :

१. लोग भीड़ क्यों हैं
 जुलूस क्यों नहीं बन जाते
२. खोटे सिक्कों को सार्थकता
 दूँ भी तो कैसे ?
३. उनकी देश भक्ति की बातें बघारते ही
 मुझको लगता है
 वे अभी छुरा भौंक देंगे।
 मुझे जो राह रुचती है उसको रोके क्यों खड़े हैं
 सोने के चिकने पर्वत, खेद कि मैं रोमांटिक नहीं हूँ।

अपने ही घर में अपने से निर्वासित कवि जब 'अस्तित्व का गीत' गाता है तो अस्तित्ववादियों से एक कदम आगे बढ़ कर प्रगतिशील भाषा में बोलता है : महाकाव्यों की दुनियाँ में अपने को 'शब्दवत्' अनुभव करता है। उसका कितना सही तर्क है : 'महत्ता निरर्थक, महत्वहीनों के बिना' वे जो नहीं रहे, उनके अभाव-संदर्भ में नया अर्थ पाते हैं वे जो आज हैं और कल फिर नया संदर्भ छोड़ जायेंगे'। 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग कितने निरर्थक हैं, क्रिया-हीन है :

हर एक वाणी की, हर एक गंध की
विभिन्न रूप और रंग की
अर्थवता है हमारे तुम्हारे सम्बन्धों से।

'राजीव' की कविताओं में अतीत प्रकट और भविष्य में ओझल होती हुई सीढ़ियों पर आकर 'वर्तमान' प्रश्नों के बीच में अकेला छूट जाता है। कारण 'कलेण्डर' के पृष्ठ वर्तमान को बाँधने में असमर्थ हैं। वर्तमान तो आने से पहले ही अतीत हो जाता है। यही वजह है कि इन दो बिन्दुओं के बीच की स्थिति को कवि अनुभव करता है :

हर शून्य पूर्ण है अनगिनत अभावों से
रूपातुर सम्भाव्यों से
हाँ एक ना है,
और ना एक हाँ है, जिनका योगफल
हाँ–ना दोनों नहीं है
ठहरे हुए क्षण हैं।
एक बैचेन गति का विशिष्ट रूप
विशिष्टता बढ़ जाती है सामान्यता की ओर
नये विशिष्ट को जन्मती।

नये कवियों ने अस्तित्व के प्रति सचेत रहने और उसे बनाये रखने की भावना व्यक्त की है वही राजीव के यहां अनास्था में बदलती दिखाई देती है : 'अस्तित्व एक लहर की तरह है जो अपनी स्थिति में है और नहीं भी है'। आज होने न होने का कोई मूल्य नहीं है या कोई बात होती है या नहीं होती यह कहना बेकार है क्योंकि न होना भी तो होना है। कवि का अनुभव है कि हर अराजकता आत्मरक्षा के लिये होती है जो स्वयं ही एक व्यवस्था में ढल जाती है। 'अस्तित्व का गीत' संकलन की दमदार कविता है। उससे कवि के दृष्टिकोण का तो पता चलता ही है, उसकी शैली और कथ्यगत नवीनता भी हमें छूती है। परिवेश से प्रतिबद्ध रहने की जो दुहाई बार-बार दी जाती रही है वह राजीव की कुछ कविताओं के सामने निर्जीव सी लगती है क्योंकि वह निष्क्रिय प्रतिबद्धता है। परिवेश के प्रति यह निष्क्रिय जागरूकता मूकपशु की तरह है जो इन्सानी खाल ओढ़े जीव के लिये हितकर नहीं है, 'राजीव' का कवि परिवेश के प्रति सक्रियता से जागरूक है। यों यह जागरूकता पिछले दशक में काफी उभरी है–सर्वेश्वर, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी और श्याम परमार में। उसी का अहसास—एक खास ढंग का अहसास राजीव में मिलता है।

राजीव जब कहते हैं कि वर्तमान आने से पहले ही अतीत होता है और अविश्वासी प्रेमी सा आड़ में खड़ा हो जाता है भविष्य ड्राइंग रूप में तो लगता है वे भविष्यवादी हैं और उसकी ही प्रतीक्षा में वे जीवित हैं। इससे और जो हो सो हो कविक्षण–जीवी होने से बच गया है। कहना यही है। कि राजीव की कविताओं में बदलते परिप्रेक्ष्य के प्रति सक्रिय जागरुकता सामाजिक विसंगतियों के प्रति असंतोष और विद्रोह, एक आन्तरिक खलबली

मानवीय स्थिति के प्रति प्रश्न, उपप्रश्न और सामाजिकता के प्रति संदेहों के चित्र मिलते हैं। अपने को 'नगर वोध' का कवि कहने वाले राजीव नगर चेतना को समस्त अन्तर्विरोधों के वावजूद सहज जीवन–स्थिति के रूप में सकारता है :

अपने से वात चीत बन गई
लोगों से वात और लोगों में भाषरा
वना अपनेंसे संभाषरा,
भीड़ में अकेलापन, अकेले में अन्दर
असंख्य चेहरों की भीड़
एक नीड़ सा मिला
किसी स्वर की झकझोरती भीड़ में
मौन लगता है प्रारान्तक।

'तनाव' और 'शून्यता' को संकेतित करने वाली राजीव की कविताएँ विद्रोह और आक्रोश की भाषा भी वोलती हैं, पर चीख कर नहीं–व्यंग्य से। 'राहें चलती रहीं' कविता में व्यक्त कुछेक स्थितियों में यह वात मिलती है। जव वे प्यार को राह खड़ी 'बैंक की इमारत सा वतलाते हैं जो आदमी को शक्ल, सूरत और सीरत की अपेक्षा 'पास-वुक' और हस्ताक्षर से पहचानती है तो आधुनिक जीवन व्यापी विसंगति व सभ्यता से आये मानव–मूल्यों के संकट को व्यंग्य से वखूवी उभार देते हैं। इसी क्रम में 'विलुप्त पीढ़ी का गीत' और 'मेरा हाथ स्वीकारो' कविताएँ भी आती हैं। इनमें कवि ने अतीत और परम्परा पर दृष्टिक्षेप किया है जिसमें आक्रोश भी है और संघर्ष भी। कवि की मान्यता है कि हमारी कोई पीढ़ी नहीं है। आपने (वुजुर्गों ने) उत्तराधिकार में ऐसा क्या दिया है जिसकी रक्षा की जाय। यही न भूख, नंगापन, वेकारी. निरन्तर भय और ऐसी जिन्दगी जो न तो जीवन है न मृत्यु, फिर इस परम्परा की कोई भाषा भी नहीं, वह तो शिलालेख है जो अजायवघर में रखा है तथा जिसकी भाषा समझ के वाहर है। आज नगरों की ही क्यों सारी जिन्दगी संकट के कतार पर खड़ी है। कैसी विडम्वना है: "क्यों नहीं है मोर्चा/कहाँ हो तुम/तुम्हारे हाथ कौन से हैं/मेरे हाथ स्वीकारो"/

संकलन में 'लजारस,' 'एक पुराने महल में' व 'एक सिलहुट' की चर्चा और की जा सकती है। 'पुराने महल' का कथ्य पूँजीवादी व्यवस्था का संकेतक है जो अव जीर्णप्राय है तो 'एक सिलहुट' में आज के रिक्त नागरिक-

अस्तित्व के बीच पिसते 'प्रेम' का आलेख है। 'लजारस' के पीछे एक संदर्भ है। इसमें एक ऐश्वर्यशाली के दरवाजे पर रिसते घावों की पीड़ा वहन करते-करते मृतक हुए और चार दिन बाद प्रेम के मसीहा ईसा द्वारा उठाकर लाने वाले निर्धन को आज के घिसते पिटते व मृत्युदंश की पीड़ा भोगते गरीबों का प्रतीकार्थ प्रदान कर प्रस्तुत किया गया है। संकलन की ये विश्लेषित कविताएँ ही मुझे पसन्द आई हैं। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कविता वक्तव्य बन गई है—कोरा राजनीतिक या दार्शनिक आभास देने वाला वक्तव्य। यहाँ कविता की आत्मा दब गई है। यह ठीक है कि कविता गद्य के निकट आ गई है, पर यह बरदाश्त के बाहर है कि वह अपनी असली पूँजी भी गँवा बैठे। यह 'वक्तव्यता,' आक्रामक कथन भंगिमाएँ और 'शाक ट्रीटमेन्ट' वाली पद्धति पाठक को एक बारगी बाँधती जरूर है, पर इसमें स्थायित्व नहीं होता। संग्रह की लम्बी कविताओं के बीच आये कुछ कथन देखिये :

१. काल एक सुविधा का माप है
हमारी गति का
काल कोई नहीं हन हैं

२. नर्क न तो कोई अन्य है
और न नर्क है स्वयं अपने अन्दर
नर्क है वहाँ जहाँ लघुतमसमापवर्तक
आकांक्षा से वर्जना खुली बैठी है
पलड़ा बराबर किये
एक दमघोट नर्क है अस्तित्व में गतिरोध।

कमलेश और मलयज :

'कमलेश' और 'मलयज' दोनों ही कवि पिछले वर्षों में बराबर कविताएँ लिखते रहे हैं। 'कमलेश' का अधिकांश काव्य-संसार रूमानी है। उनकी चेतना में जो बिम्ब समाये हुए हैं वे उनके रागबोध की ही अभिव्यक्ति हैं। 'कमलेश की कविताओं से दो बातें साफ़ जाहिर हैं; एक तो यह कि उनका इन्द्रियबोध जिस राग–चेतना को साथ लेकर चलता है, उसमें वह पूरी ईमानदारी बरतता है। कोई छिपाव या दुराव उसे स्वीकार नहीं—न भाषा के स्तर पर और न कथ्य के स्तर पर। दूसरे यह कि उनकी कविता में एक अन्वेषक की मुद्रा है और यह मुद्रा आरोपित और उधार ली हुई नहीं है। कमलेश की खोज राग–संवेदनों की नित नयी स्थितियां खोज है और

इसी खोज के सिलसिले में वे समकालीन जीवन में भरती जा रही जड़ता, भयावहता और तीखे अन्तर्विरोध की स्थितियों को खुली भाषा में न कहकर एक रोमानी अन्दाज में लपेट कर कहते हैं। जोलोग प्रतिबद्धता और समकालीन संदर्भों से सीधी टकराहट को पसद करते है और कवि को हर विन्दु पर देखना चाहते हैं, उन्हें यहाँ निराश तो नहीं होना पड़ेगा, किन्तु एक धैर्य/साथ लेकर चलना होगा और फिर कविता पर जमाई गई सौन्दर्य की पर्त को उघाड़कर देखना होगा। सीधे-साधे कोई संत्रस्त और तनाव पैदा करने वाली स्थिति कमलेश में पाना कठिन है। जिन्दगी का जो असली रूप है उसको कहने और निर्भीकता से स्पष्ट करने की बात कमलेश कहते जरूर हैं, परन्तु वह वैसा करने में सफल नहीं हैं या चाह कर पी कर नहीं पाते हैं। वे कहते हैं :

"अजनवी शब्दों की बहुतायत है इस समय
शब्द भी तुम्हें मजबूर करते हैं
अनावृत करने को
अपना असली हाल, भूलने को
संपदा में प्रकृति की
कहाँ से हो परिचय की शुरुआत"।

कमलेश में अन्य युवा कवियों की सी टकराहट और तनाव के वे क्षण नहीं हैं/जहाँ वे सामाजिक या राजनैतिक प्रश्नों से जूझते हुए मनुष्य का असली चेहरा पूरी निर्भीकता से देखते हों। वे अभिव्यक्ति के क्षण के संकट को अवश्य महसूस करते हैं। इस प्रकार कमलेश का संकट बोध सीमित है। वे संसार की सिकुड़न को दूसरे स्तर पर देखते हैं। "सिकुड़ती आती है ऋतु/मौसमी फूलों की/मृदुता महसूस नहीं होती"/कह कर वे संसार की कटुता और संकीर्णता की ओर इशारा तो करते हैं, किन्तु यह इंगित इतना पालिश किया हुआ है कि आसानी से असली रूप में अनावृत नहीं होता। कभी-कभी वे उसे सामाजिक संदर्भों और 'सीरियस मूड' में पेश करते हैं कि वह एक-एक शब्द पर ध्यान देने से ही समझ में आती है। जब वे कहते हैं कि : "लूटी नहीं जाती/अनाजों की दुकानें/सबको इजाजत है भर ले/कोई भी स्वाँग सब रखते हैं/धोखाखाने को जान या अनजान/शर्त सिर्फ गले में लटका ले तसवीर/आज प्रधान मंत्री/"तो उनके परिवेशगत अनुभव को समझा जा

सकता है। यह अनुभव संयत और सही भाषा में तो उतरता हैं, किन्तु इसे लेकर कवि के अन्तस में कोई हलचल या छटपटाहट होती नहीं लगती। यही वजह है कि उनके ऐसे अनुभव सही प्रतिक्रिया और काव्यात्मक प्रतिक्रिया के अभाव में गले में ही अटके रह जाते हैं। उन्हें नीचे उतरने में शायद अभी देर लगेगी। मैं समझता हूँ परिवेश के तनाव और दवाव तव तक उनके मानस में नहीं कौंधेंगे जव तक कि वे रोमानी संदर्भो और ऐन्द्रीय सन्निकर्ष में उलझे रहेंगे। मुझे अशोक वापपेयी का यह कथन सही लगता है कि "कमलेश की कविता में मनुष्य की हालत का अहसास भर है, समझ नहीं।" कमलेश की संवेदना जैसी है उसमें मनुष्य और उसके परिवेश को तव तक नहीं देखा जा सकेगा जव तक कि कवि अपने ऐन्द्रिय परिवेश की चौखट लाँघकर जीवन-स्थितियों से सीधा सम्पर्कित नहीं होता। 'कमलेश' एक कविता में ही जब 'अपने होने का अर्थ' पूछते हैं तव वे आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरते एक प्रतिवद्ध कवि की हैसियत से कहते हैं :

जव सारी चिड़ियाँ गुम हो जाती हैं/रात का भार
सहने से विकल।
पूछता है कोई अँधेरे में/खोजते हो क्या ?/
अपने होने का अर्थ/
सव अँधियारा तव फटने लगता है मुक्त करता चिड़ियों को/
शब्दों को देते हुए राह।

कमलेश की भाषा में अनुभूमि के अनुरूप ही संवेदना की महक है। उनके शब्दों का रंग सुनहरा ज्यादा है, वे चिकने हैं, खुरदरापन उनमें नहीं मिलता है। उनकी 'जरत्कारू' और विष्णुप्रिया 'इसका प्रमाण हैं। कभी-कभी वे ऐसे स्वप्न लोक में पाठक को ले जाते हैं जहाँ सव कुछ अजीव सा, अद्भुत तत्व से जुड़ता दिखाई देता है। फलतः कवि इस संसार का नहीं रहता हैं :

समुंदर की नवजात परियाँ/हमें फुसला ले जाती हैं अपने
देश में जहाँ।
रेशे-रेशे से वहती हुई एक नदी है हमें तैरने को/और हम
भूल जाते हैं तैरना।

कभी-कभी जब कमलेश अपने अनुभवों का मूर्तीकरण करते हैं तो भाषा की स्निग्धता समाप्त हो जाती है और वे या तो किसी कठोर भूमि में

कोमल पदों से चलते हैं या फिर जटिल अनुभूतियों के बिम्बों को भी उन्हीं ऐन्द्रिय सदर्भो के बीच लेजाकर संतोष प्राप्त कर लेते हैं।

मलयज : जख्म पर धूल :

'मलयज' 'कमलेश' की अपेक्षा ज्यादा साफ है। उनका कथ्य और शिल्प दोनों पर अनुशासन है। उनकी कविताएँ साफ़, निर्भीक और सधी जबान में बोलती है। यों जबान का संतुलन कमलेश में भी है, किन्तु उसके लिए उन्होंने एक खास किस्म का रोमानी संतुलन तलाश किया है। मलयज में व्यापकता अधिक है। वे आदमी और उसकी विविध स्थितियों के काफ़ी निकट हैं। वे अपने समकालीन संदर्भो से बैचेन भी होते हैं, तनाव भी महसूस करते हैं और छटपटाते हुए अकेले भी छूट -जाते हैं। परिवेश की सजगता के लिए यह हमेशा जरूरी नहीं होता कि किन्हीं घटना प्रसंगों या तीखे संदर्भो का उल्लेख किया ही जाय। यह भी होता है कि व्यक्ति को उसका अहसास हो—समझ के साथ अहसास हो। इस अहसास में वह जितना साफ और तेज होगा उतनी ही साफ और तेज उसकी कविता होगी। 'मलयज' ऐसे ही कवि हैं। वे सब कुछ देखते हैं, देखकर डूब जाते है और फिर कुछ धीरे से कह जाते हैं कभी सीधे, कभी एक नाटकीय व्यंग्य से। कभी-कभी उस तमाम अहसास की अभिव्यक्ति वे पूरी बेपर्दगी से करते हैं और वहीं उसकी 'टेकनीक' में साहसिकता आ जाती है। कविता शुरु करने का उनका एक खास ढग है। चाहें तो उसे नाटकीय ढंग कह सकते हैं। पाठक ज्यों-ज्यों कविता के साथ बढ़ता है नाटकीयता छूटती जाती है और उसे अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उस समय आश्चर्य होता है जबकि कवि पूरी निर्ममता के साथ परिवेश की सारी तल्खी को कहकर चुप्पी साध लेता है। उसे अहसास होता है कि यह तो उसी का—उस जैसे को ही कोई रूप है—बिल्कुल वही उखड़ा हुआ जड़ और चेतनाहीन।

'जख्म पर धूल' की कविताओं में यही बात है। संग्रह की अधिकांश कविताएँ इसी स्थिति—मनस्थिति की कविताएँ हैं। उनमें मनुष्य, उसकी जटिल स्थिति, उसकी ऊब, उदासी, अकेलेपन और तमाम निरर्थकता और संदर्भच्युत व अक्षरच्युत स्थितियों को वाणी मिली है। इसमें कहीं जिन्दगी के घावों से रिसते मवाद का जिक्र है तो कहीं उसकी मजबूरियाँ उसके गले में लटकी हुई उसे न मरने दे रही हैं न जिन्दा रहने दे रही हैं तो कहीं व्यस्थाहीन समाज हैं, कहीं भोग और अतृप्ति के बीच झूलता मनुष्य है तो कही सब कुछ पाकर

भी कुछ भी न ा खाली हाथ लौटने की मुद्रा है, रिक्तता है। कहीं भीतर ही ही मांस को छीलने वाली मृत्यु-चेतना है तो कहीं मानव-पीड़ा पर धूल डालते हुए उपहास है। इस उपहास में मजाक मनुष्य पर नहीं मनुष्य की कायरता और नपुंसकता पर है। इन संदर्भो में पढ़ी जाने वाली कविताएँ है : 'हँसते हुए मेरा अकेलापन', 'अहं पीडित एकान्त का वक्तव्य', 'सूर्यास्त बोलते हैं', 'ज्यां क्रिस्तोफ', 'कविताएँ आई हैं', 'दुखान्त', 'चुन्नीलाल', 'स्लम्म मे पतझड़', 'लगना', 'कुछ नया नहीं', 'चमड़ी के छिलते जाने मे', 'जख्म पर धूल', 'अपनी चीजों के बारे मे' और 'नगापन खोकर' काफी अच्छी कविताएँ है।

पहली कविता मे जिस सदर्भ की चर्चा है, वह व्यर्थता से उत्पन्न अर्थ-हीन संसार का, उस विकलांग मनुष्य का बिम्ब लिए है जिसमें मनुष्याकृति "हकला हकला कर चीजों को चीजों से जोड़ रही है" वह तनाव है जो भूख से पैदा हुआ है : "एक तनाव-मूर्ति, बढ़ते हुए नाखूनों की चमक को, सहलाती हुई खाती हुई एक भूख, एक आकृति जिसके आँख, कान, मुँह, हाथ, पैर कुछ न था/दिशासूचक तख्तियो पर चुप्पी पुती थी : जिन्दगी की यह भयावहता आरोपित नहीं है। यों भी जिन्दगी कोई अच्छी चीज--चमकदार चीज नही रह गई है। वह तो 'बहुत सी सुबहो की एक सिली हुई जिल्द--एक कविता संकलन, उपन्यास या नाटक", भर है। उसमे खाली टिन की सी आवाज है जो बोलती तो है, किन्तु उसकी आवाज निरर्थक है, उसी के पास बेजान होकर लौट आती है (पुस्तक-समीक्षा) 'अह पीडित एकान्त का वक्तव्य' एक आत्म-पीड़ित, आत्म प्रवंचित व्यक्ति की तसवीर है। इसी से वह लावारिस है और फूटते छाले का विप है और एक अर्थच्युत अक्षर है। वर्तमान समाज में आदमी की सदर्भ हीनता और निरर्थकता का बोध कराने वाली यह कविता सशक्त प्रतीकों और अप्रस्तुतों का सहारा पाकर मानवीय पीड़ा का अहसास कराती है। 'अर्थच्युत अक्षर', लावारिस क्षणों की नदी का फैलाव और 'फूटते छाले का विष' जैसे प्रयोगों ने इस कविता में जान डाल दी है।

मनुष्य की लाचारी, जड़ता और रिक्तता भी उसकी पीड़ा का ही एक रूप है। अपने ही प्रश्नों के वृत्त में घिरा हुआ आहत आदमी इन सभी दर्दो के भोगने के लिए बाध्य है, बेवसी में वह क्या करे ? यही कह सकता है :

मैं क्या करता ?........
सकड़ उस दृश्य तक जाकर खत्म हो गई थी।

और वह अनुभूति एक पहचानी सी हाय में/वदल गई थी।

या फिर

कोई क्षितिज खटखटाने को अनायास/उठ गये हैं मेरे हाथ।
कोई जल विम्व पकड़ने में कभी/खुल गई है निर्भय आँख/
और पीड़ित कुहराम से छिटक कर, दूर/तना रह गया हूँ/
जैसे बोलने को भोर का गूँगा-एकान्त।

सामाजिक विसंगति और अव्यवस्था के सांकेतिक विम्व भी कविताओं में है। मलयज ने पूरे सयम के साथ-विना किसी आक्रोश और हड़वड़ी के सामाजिक व्यवस्थाहीनता को संकेतित किया है। मानव-सम्वन्धों का आधार किस तरह टूटता जा रहा है और वे किस तरह अनुभूति की सच्चाई को छोड़कर मात्र शाब्दिक औपचारिकता रह गये हैं, ईमानदारी किस तरह समाप्त होकर वेईमानी में वदलती जा रही है और मनुष्य अपने आप ही किस तरह इस धुंध की गिरफ़्त में आ गया है आदि के सांकेतिक संदर्भ भी कविताओं में जहाँ-तहाँ मिलते हैं :

मैंने कहा यहाँ की गंगा उथली है/
उवली हुई निसत्व दालें, अनाज/
सीने में भुरभुरी रेत, कोफ्त......./और आस-पास दडवे/
दवड़ों में वहीं कुवड़े जीने और ठिगने कमरे........

इसी तरह वह कहता है :

मेरे और लोगों के वीच सम्वन्ध वोध की सच्चाई/
एक गलत शब्द के नीचे ढँकी है—/
मानव सम्वन्धों को अव अनुभूति की वास्तविकताएँ/
नहीं करती निर्धारित/
भापा की अवास्तविकताएँ करती हैं,/
यह सिर्फ वदलते समय की अंदाज/
नहीं कि चमड़ी के छिल जाने में/
वे मुझे शब्दों से टटोलते हैं/

कवि तमाम मानव-स्थिति को निकट से देखता है, उसे पीड़ा होती है. वह छटपटाता है और उसी में वह कभी व्यंग्य भी करता है। उसका व्यंग्य तीखा है, उसके व्यंग्य का आधार समाज में मनुष्य की करुणा और अवण

स्थिति तो है ही, सामाजिक मूल्यहीनता भी है। व्यंग्य के दौरान मलयज जैसे समाज के साथ-साथ पाठक को भी घसीट लेते हैं। 'चुन्नीलाल' 'कलावती से पूछकर' कविताओं का व्यंग्य व्यक्ति की करुण स्थितियों के जिम्मेदार तत्वों पर है। इनमें प्रजातंत्र भी है, सामाजिक व्यवस्थाहीनता भी है और आत्म प्रवंचित व्यक्तियों पर भी व्यंग्य भी है। 'लगना' भी काफी दमदार कविता है। इसमें आज के मानव का खुरदरी रेखाओं से खींचा गया 'ग्राफ़' है। जब वह कहता है कि "ईमानदारी के सिफारिशी पत्र पर, अपने युग की मुहर लगवा, पाई है मैंने कविता की नौकरी, नौकरी की इस ईमानदारी से डर लगता है।" तो समाज के एक पक्ष की–ऊँचे पक्ष की पोल भी खोल देता है और सामाजिक व्यवस्था को इंगित कर देता है। ऐसी समाज व्यवस्था में जीने वाले टूटे हुए आदमी का जब वह जिक्र करता है तो उसमें शिल्प और कथ्य का संयोजन एक अतिरिक्त आकर्षण भर देता है :

घटनाओं की तड़ी खाकर
महसूस करना शरीर से जुड़ी दो बाहें,
दिल–दिमाग, गुर्दा
लपककर आततायी गर्दन पकड़ने में
पाँवों की मोच से डर लगता है।

इसी तरह 'ट्रेजेडी' के रास्ते को तय करने के लिए कवि साहस की नहीं डर की जरूरत बतलाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह कमजोर है, वरन् यह कहकर वह मनुष्य भी नपुंसकता पर व्यंग्य करता है, उसके परिस्थितियों के टूटते जाने पर व्यंग्य करता है। इस व्यंग्य के पीछे जो साहसिकता है वही कवि की सही बात है। शब्दों के पीछे के भाव को समझकर ही कविता का मर्म समझ में आ सकता है। 'नंगापन खोकर' कविता का व्यंग्य भी मारक है। "भुरकुस बन रही चीजों मे कुछ भी ढूँढ पाना मुश्किल है" क्योंकि "जमीन कहीं नहीं है, जमीन के नशे में बारूद की, बंजर उँगलियाँ बो रही है, आराम कुर्सियाँ ढो रही हैं।"

मलयज का शिल्प अच्छे बिम्बों से सज्जित है। उसमें भाषा का आम रूप है, कहीं बनावट नही लगती है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि कवि को शिल्प की वह तलाश करनी है जो उसकी अनुभूति को सही आकार दे सके। ऐसा होने पर वे यह नही लिखेगे कि 'लिखना चाहता हूँ' 'वे' वहाँ हो

जाता है 'मैं' और उस समय वे आसमान ही नहीं खुली हवा भी होंगे। तब उमस की स्थिति पार हो चुकी होगी और वे खुले आसमान के नीचे ठीक जगह पर खड़े होंगे। केवल मामूली शब्दों का चयन महत्वपूर्ण नहीं होता उनसे अभीष्ट अर्थ की व्यंजना भी जरूरी होती है 'मलयज' के कतिपय बिम्ब अच्छे हैं। प्रतीक सार्थक हैं और अप्रस्तुत घिसे-पिटे नहीं हैं। कथ्य स्तर पर कवि मानव-संदर्भों का कवि है, उसके जीवन का कवि है, पर परिवेश में रहकर उसे अभी सरोवर से सागर बनना है,

प्रयागशुक्ल और दूधनाथसिंह

प्रयाग शुक्ल और दूधनाथसिंह दोनों ही एकदम नये कवियों में आते है। दोनों का प्रारम्भिक काव्य संसार रोमानी संदर्भों से भरा पड़ा है. प्रयाग शुक्ल की कविता में भावुक हृदय का उच्छलन है जिसमें उल्लास भी है और उदासी भी। उन्होंने स्वय ही अपने काव्य संसार को 'एक पीड़ा रहित निजी संसार' कहा है। उनकी अधिकांश कविताएँ अतीत के सुख, अधकचरी कामनाओं की मनस्थिति, तीव्र प्रतीक्षा, हल्की उत्तेजना और थोड़ी सी छटपटाहट के तन्तुओं से तैयार हुई है। इस सबमें वह प्रतिबद्ध संसार नहीं है जिसमें मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध जटिल स्थितियाँ और ताजे विशृंखलन की तसवीर हो। 'प्रयाग' की कविताएँ एक अर्थ में प्रयाग और शुक्ल दोनों हैं। इनमें न तो तनाव है और न कोई अन्धकार ही है। जहाँ जिन्दगी विषमता से गुजर रही है वहाँ वे फूलों की चिन्ता करते हैं, प्रेम को बनाये रखना चाहते हैं और हर कीमत पर उस स्त्री की रक्षा करना चाहते हैं जो उन्हें कविता की प्रेरणा देती है। फलतः उनकी कविताओं में इन्द्रिय सन्निकर्ष ज्यादा है। वे जिन्दगी की कशमकश से दूर यह कहते है :

तभी याद आती है एक दुपहर/
देर तक फोन की घंटी बजती रही थी/
वह शायद नींद में थी और नींद से सरकती आई थी/
मैं महसूस कर रहा था उसका उठना और करवटें/
हल्का-अँधेरा-मेरे किसी सोच से परे/

'प्रयाग' में ललक, धीमी उत्तेजना, प्यास और ऐन्द्रिय सन्निकर्ष जगह-जगह मिलता है। इस तरह के संदर्भ न तो कोई वैचारिकता जगाते हैं और

न कोई ठोस भूमिका पर ही खड़े करते हैं। कवि का अमानवीकृत काव्य जिसमें मनुष्य गैर-हाजिर है केवल एक चमकीले इन्तजार का अहसास है :

कहाँ से चलकर कहाँ पहुँचने की बात/
अभी में एक उदास चेहरा बन जाती है/
हवा और बातें और प्रयत्न/
कितने धीमे से रात उतर आती है/
कितनी देर तक क्या ढूँढना/वह चमकता सा इंतजार
कुछ देर बाद चला जाता है।

आज का कवि युग की कठोर वास्तविकताओं से परिचित है। अतः उससे सम्बद्ध सभी निर्णय वह खुद लेता है और जो इन्हें पूरी तरह नहीं जानता उसकी संतुष्टि किस तरह होती है, उसका आभास इन पंक्तियों से हो सकता है :

और हर बार नहाते हुए उस हरी बाल्टी का रंग
डूब जाता है, बदरंग रंगों की लम्बी कतार में,
थोड़ी देर के लिए पा लेता हूँ हिसाब
बूँद-बूँद चमकते पानी के साथ वह चमक
वही साफ़ है, मैं जानता हूँ कि किसके लिए,
करता हूँ, हिसाब,

कुल मिलाकर प्रयाग शुक्ल की कविताएँ सीधे साक्षात्कार : समाज या समसामयिक परिवेश से सीधी टकराहट की कविताएँ नहीं हैं। असल में उनमें किसी तरह की भी टकराहट नहीं है। यदि कहीं उसका आभास है तो वह रोमानी जगत में है। दूधनाथसिंह अपनी शताब्दी के नाम लिखने के बाद **'सुरंग से लौटते हुए'** एक बड़ी लम्बी कविता के रचयिता के रूप में भी सामने आते हैं। अपने प्रारम्भिक रूप में तो दूधनाथ सिंह रागात्मक संवेदनों के ही कवि हैं। 'अपनी शताब्दी के नाम' की अधिकांश कविताएँ इन्हीं संवेदनों के आस-पास चक्कर लगाती हैं। उनका यह परिवेश ही कभी-कभी उन्हें मनुष्य की स्थिति के विषय में सोचने को बाध्य करता है। ऐसे स्थलों पर वे सारे अहसास के बाद भी एक 'जनरलाइजेशन' करते हैं। इस प्रक्रिया में मानव-स्थिति का सही अहसास भी उनके द्वारा उकेरे गये प्रसंग चित्रों को भावुकता में लपेट देता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी भावुकता का परिवेश एकदम मानव-स्थिति की प्रतिक्रियाओं से शून्य है। उनके दोनों संग्रहों में—पहले में

कम और दूसरे में ज्यादा; मानवीय संदर्भ हैं। समकालीन परिवेश में व्याप्त विषमता, रिक्तता और संकट का अहसास उनमें मिलता है, किन्तु वह भावुक परिवेश से ही निकला हुआ परिवेश है। फिर भी यह सच है कि जहाँ वे सजग है, वहाँ साठोत्तरी पीढ़ी की सारी विसंगतियाँ और संकट का बोध उन्हें है। उन्हें जो परिवेश प्राप्त है उसमे जो अभावग्रस्त और विपन्न मनुष्य है, उसका अहसास दूधनाथ सिंह को है। सर्वव्यापी भय, आतंक और त्रास कवि को यह कहने के लिए मजबूर करता है :

हजारों सालो से सूरज मरा हुआ पडा है
हजारों सालों से आकाश की छाजन चू रही है
हजारों सालों से लोग मरे हुए पैदा हो रहे है।

या फिर

यह दुनियाँ
एक फाहशा औरत की अँधियारी डाली है—
मुझे इस फाहशा के प्यार से यों ही
गुजरते जाने से डर लगता है।

परिवेश में आया बिखराव, 'टैरर' 'टैंशन' और घिनौनी स्थितियाँ नये युवा कवि के मानस को घेरे हुए है। वह इनसे निकल नहीं सकता है। उसे उन सारे हादसों और मुकामों से गुजरना पड़ रहा है जो उसे चारों ओर से खींच रहे है। यह खींचतान और आपाधापी कितनी पीड़क और त्रासक है, इसका अनुमान इस घातक परिवेश के चित्रण से लगाया जा सकता है जिसमें विसंगतियाँ और व्यक्तित्व की टूटन भी शामिल है :

इस सन्नाटे में कैंसर 'मैनजाइटिस' दल बाँधे खड़े है
सड़कों पर खंजर छिपाये भेड़िये टहल रहे है
ऊँचे मकानों पर उल्लुओं के दल पहरा दे रहे है
इसी सन्नाटे में कवियों और कलाकारों के लिए
सेनोटोरियम खुल रहे है—

यह परिवेश दूधनाथसिंह के पहले कविता संग्रह का है। यहाँ कवि सामयिक संकट-बिन्दु पर उपस्थित तो है, पर उसके प्रति उसकी साझेदारी नही है। वह एक तटस्थ द्रष्टा है। यो यह बुरी बात नही है फिर भी यह तो ठीक ही है कि कवि का स्वर शुद्ध प्रतिक्रियात्मक है। उसे जो अहसास है वह

काव्यात्मक संवेदन के अभाव में तीखा नहीं बन सकता है, जीवन से ही 'फूटा हुआ नहीं लगता है। हाँ परिवेश व्यापी रुग्णता और त्रासदी का का चित्र अवश्य है। उनकी दूसरी लम्बी कविता 'सुरंग से लौटते हुए' में व्यक्ति के भीतरी स्तर पर घटित होते मरणोन्मुखी दर्द की कविता है। उसमें आत्म-संघर्ष और आत्म-न्याय का संघर्ष है जिसे आज हर बुद्धिजीवी झेल रहा है। यह संघर्ष नहीं है, उसमें निरर्थक जिन्दगी बिताती समूची सृष्टि का दर्द है, समूचे वर्ग में व्याप्त घातक जड़ता है। यह निश्चेतन करने वाली स्थिति है—स्नायुघात की स्थिति है। दूधनाथसिंह ने इस लम्बी कविता में इस घातक और त्रासक स्थिति के कई बिम्ब दिये हैं :

नभ के नीचे है वही अँधेरा मैदान/
जहाँ हँसी की अर्थियाँ भीड़ में दुबक कर/
लोहे की काली नीली खिड़कियों में/
सुलग-सुलग जलती हैं/
जहाँ हर आदमी एक अंधी समस्या है/

आकाश से उतरती चील के प्रति किये गये संबोधन में भी कवि इस परिवेश की वीरानगी, मनुष्य की पीड़ा और घृणित व लिजलिजी स्थितियों के भयावह और कारुणिक संदर्भ प्रस्तुत करता है :

मैं तुम्हें दिखाऊँगा, बलगम में सने हुए गाँव/
पीब की फुहारों में उबले हुए पाँव/
गले हुए हाथ, भरी हुई आँखें/
गर्भपतित मानव की किसलयी शाखें/
वेश्या व औरतों के बूढ़े सतीत्व/
इसमें पृथ्वी पीड़ित है/निगोड़ी जीवित है/

इस परिवेश से जीवन की निरर्थकता सिद्ध हो जाती है और व्यक्ति कटु अहसास से भर उठता है। उसकी चेतना मरी हुई और परिवेश के प्रति निषेध मुद्रा से युक्त है। इस निषेध में भी कवि जीवन और जगत को जितना अस्वीकारता है उसकी प्रतिबद्धता का आयाम उतना ही बढ़ता है। जब वह कहता है कि 'आज मैं सोचता हूँ कि अचानक मेरी आँखें बुझने के बाद किस तरह बच्चे बूढ़े हो गये, उनकी छाती में दर्द फुहर आया"। आज जो व्यवस्था है उसके कारण उत्पन्न तनाव को भी कवि ने तीखी शब्दावली में व्यक्त किया

है : 'मेरा धर्म निश्चित कर दिया गया है', या 'मेरे कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये हैं—'अपने स्वार्थों के लिए', इसी कारण 'ये यज्ञोपवीत के धागे भी नसें, इस देह को बाँधे हैं फिर भी, और फिर चारों तरफ से एक थरथराता अँधेरा उतरता आता है तन पर मन पर।'

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि दूधनाथसिंह की यह लम्बी कविता समस्त परिवेश और मानव-स्थिति के साक्षात्कार की कविता है। इसमें समाजव्यापी दबावों, तनावों, प्रश्नों, जड़ता, दर्द, शून्यता और एक शब्द में पैरेलाइज कर देने वाले भयावह संदर्भों का तीखी शैली मे अंकन हुआ है। नये युवा कवियों के कृतित्व में यह कविता अद्भुत है—पूरी तरह व्यापक परिवेश लिये हुए है। 'त्रास' और सुन्न करने वाली स्थितियों की इस कविता का शिल्प भी कथ्य के अनुकूल है। इसकी अभिव्यक्ति सपाट और बेलौस है। अप्रस्तुत नये हैं, प्रतीक सार्थक और औचित्यपूर्ण होने से संवेद्य हो गये है। शैली में एकरसता नही है। हाँ, खटकने वाली बात यह है कि कवि ने एक ही बात को कई जगह थोड़े से हेर-फेर के साथ कह दिया है। दूधनाथसिंह की प्रणय भावनाएँ परिवेश की विषमता के कारण टूटन और बिखराव में बदलती दिखलाई देती है। कवि की पीड़ा जो एक प्रकार से मानव पीड़ा ही है, सपाट ढंग से उतरी है। उसमें बनावट नही है, आरोपित संदर्भ नहीं है। समूची कविता में व्यंग्य का अभाव खटकता है। व्यंग्य से परिवेश के दबाव को ज्यादा सही ढग से उभारा जा सकता था। यदि कवि ने इसे भी अपनाया होता तो 'सुरंग से लौटकर' एक और भी श्रेष्ठ कविता होती।

श्रीराम वर्मा :

वर्मा जी की कविताएँ उस तबके की कविताएँ हैं जिनमे एक ओर तो सारे परिवेश के दबाव से उत्पन्न आक्रोश है और दूसरी ओर वे समूचे परिवेश से तटस्थ होकर वस्तुपरक कविताएँ लिखते है। कभी-कभी वे इतने तटस्थ हो जाते हैं कि उनका व्यक्तित्व ही कहीं खोया सा लगता है एक ऐसे संसार में जहाँ सब कुछ उनके ऊपर से यो ही गुजर जाता है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने उनकी कविताओं को लक्ष्य करके यह भी कहा है कि 'वे अज्ञेय की तरह करुणा के भी समर्थक हैं जो अपनी पूरी रोमानियत के साथ अनुभूति की प्रामाणिकता केवल मुद्राओं में व्यंजित करते है :

> साँझ तुम साँझ हो/सूर्य है मेरा डुबता माथा/
> तुम्हारी कोख मे/
> पखों से कब तक झलोगी ?

असल में श्रीरामवर्मा का तनाव उस स्तर पर भी उद्घाटित होता है जब एक ओर वे रोमानी अन्दाज में सामने आते हैं और दूसरी ओर कहीं गहरे वे उससे मुक्ति की बात भी करते हैं। भाषा और भाव के बीच का संघर्ष क्षण भी उनकी कविताओं में है। श्रीराम वर्मा इस रोमानी अन्दाज से हटकर जैसे ही परिवेश की ओर देखते हैं, तो उन्हें आसपास ही कहीं पीड़ा और अर्थहीनता के साथ-साथ जीवन की त्रासक स्थितियाँ भी दिख जाती है। तब वे कहते हैं : "पैरों के नीचे मसान है आजकल, पढता रहता हूँ नदियाँ बना-नियाँ, पाता हूँ हर जगह भेडियाघसान", उन्हें इस जिन्दगी में न तो रेत दिखाई देता है और न जीवन, अपितु धूल में पहाड़ और पहाड़ पर ईसा के उपदेशों को देख कर वे जिस दंश को लेकर व्यंग्य करते हैं वह ठंडा व्यंग्य है, आक्रोश ऐसा जो तेज नहीं फिर उसके तर्राट होने का तो सवाल ही नहीं उठता। 'व्याकरण' और 'प्रेम' शीर्षक कविताओं में भी ऐसा ही ठंडा आक्रोश है। 'प्रेम' आज की जिन्दगी में कैसी व्यर्थता का प्रतीक बन गया है और वही आदमी को 'गिलहरी की तरह कुतर रहा है"—ऊपर से मधुर और भीतर से यह कुतरन, इस तरह की हताश मनस्थिति में वे एक ओर अन्तर्विरोधों को वाणी देते हैं और दूसरी ओर आत्महीनता को भी। यह हीनताबोध उनकी कई कविताओं में हैं : खासकर वहाँ ज्यादा है जहाँ वे ठंडे आक्रोश की मुद्रा में वर्तमान जीवन की टूट-फूट को लक्ष्य करते हैं, उनकी ये पक्तियाँ देखिये जिनमें एक टूटती स्थिति और अराजकता के बीच कहीं कोई नवीन बोध झाँक रहा है :

पृथ्वी बूचड़खाना नहीं है मेरे सगो/हड्डियों का वाद्य और रक्त का/संगीत

अगर सुनने लगे राक्सन के श्रोता बीथोवेन/बेचारे बहरे हो जायेंगे/

इसके साथ ही 'न्याय-दण्ड' कविता भी पढ़ी जा सकती है। कवि 'सुरक्षा परिषद्' को 'मरगिल्ली गाय' कहता है और उससे सम्बद्ध लोगों को 'नचिकेता'। इस व्यंजना में जिस 'एब्सर्डिटी' की ओर संकेत किया गया है वह वास्तविकता की ओर जीवन और राष्ट्र के अर्थहीन संदर्भों की ओर संकेत तो करती है, किन्तु यह संकेत इतना मरियल है कि इससे वह सूक्ष्मता व्यंजित नहीं होती जिसका संकेत रघुवीर सहाय या विपिन या उनके ही समवयस्क देते हैं। जब वे कहते हैं कि "सुरक्षा परिषद् एक मरगिल्ली गाय है,........दूध की जगह खून गिरे तो गिर मगरे दुहेंगे जरूर", तो निष्क्रियता

कविता के अर्थ को ही हल्का कर देती है। इसमें चौंकाने की मुद्रा तो है, पर वह काव्य में उतर कर कोई खास संवेदना नहीं जगा पाती। केवल शब्दों का प्रयोग भर कथ्य को सही रूप में प्रेषित नहीं कर सकता है, 'शब्दों की शताब्दी' अच्छी रचना है। इसमें मूल्यों की तलाश संकेतित है और जीवन की अर्थहीनता का अर्थपूर्ण शब्दावली में संकेत भी कवि की परिवेशगत जागरूकता को स्पष्ट करता है। कहीं-कहीं व्यंग्य भी बहुत अच्छा है और उसमें ठडापन नहीं है। समूचे देश और उसकी नीतिः अहिंसा, राष्ट्रीयता, सहअस्तित्व की भावना और साथ-साथ फ़िरनी भूख के संदर्भ से कही गई इन पंक्तियों का व्यंग्य—आक्रोशमिश्रित व्यंग्य है। इसमें समूची पद्धति की संदर्भ-हीनता और अप्रासगिकता के साथ-साथ उसकी अर्थहीनता को भी रेखांकित किया गया है :

भूखे रहने पर यथार्थ की बुनियादें पक्की हो जाती हैं
सन्यस्त होती है जिन्दगी,
सह-अस्तित्व के नाम पर क्या लड़ना,
कैसा अस्तित्व, कैसी तैयारी,
अहिंसा ही अस्त्र है।
चाहे उससे चाचाजी की ही मौत हो
हिमालय हो रक्तवर्ण,
धरती का सर्ग समुंदर में डूब जाये
यह भी एक दर्शन है
व्याख्या मौलिक हो, तो सूत्र जो भी हों
भाष्य से शताब्दियाँ चला करती हैं।
तिरंगे से चाहे माँगी धानी जाय
चाहे मोजे बना लिये जायें

उनकी 'निचोड़' और 'सचमुच गले की आवाज' जैसी कविताओं में जिन्दगी की बेमानी, अर्थहीन स्थितियों का वर्णन बड़ा सटीक है, "हर कमरे में रहते हैं मरे लोग बहते हैं, तनाव हीन/हरदीवार में दरार/कली-छिपकली में रार/········काई से उबकाई तक/वाहरे हवा, रेह उड़ाती है तू, पूरे बसन्त भर"/, जैसी पंक्तियों में जीवन की विसंगतियों और अर्थहीन स्थितियों की ओर संकेत है। वे अर्थहीनता के प्रति जागरूक हैं। 'बीसवीं सदी का अन्तिम गीत' इस संदर्भ में सशक्त रचना है।

श्रीराम वर्मा ने जो लम्बी कविताएँ लिखी हैं वे खासी अच्छी हैं। उनमें कोरी वर्णन-विलासिता नहीं है, वरन् उनमें एक परिवेश के पूरे चेहरे और शरीर की पूरी तस्वीर है। यह तस्वीर 'गली का परिवेश' में भी है और शब्दों की शताब्दी में भी है। इन लम्बी रचनाओं में जो अन्विति है वह भाषा और कथ्य के बीच बराबर एक संतुलन की अन्विति है। इनकी भाषा एक जीवन्त कवि की भाषा है। उसमें जो लहजा है वह कभी-कभी लचर लगते हुए भी प्रभाव की अन्विति को बनाये रखता है। एकाधबार परिवेश की चित्रावली देते हुए वे "मेढ़क की टर्र-टांयऔर वकील की बा-बाँय" भी लिखते हैं और 'कुहरे को पीटकर फौलाद' भी बनाना चाहते है। इससे लगता है कि वे असंभव को पीटकर संभव बना रहे हैं, परिवेश के जटिल संदर्भ को हल्का कर रहे हैं, किन्तु यह भाषा की कमजोरी है और कमजोर क्षण कभी फौलाद नहीं बन सकते हैं। बीच-बीच विनोदी भाव और हल्के संदर्भ कवि की बढ़िया अनुभूतियों को भी घटिया बना देते हैं। यह स्थिति उनके भाषा संदर्भ से सम्बद्ध है। जब उन्हें सही शब्द नहीं मिलते हैं और अनुभूति बाहर आने को छटपटा रही होती है तब कवि के अन्तस में कैंची चलती हुई संदर्भ को काट रही होती है तभी वे हडबड़ी में बिना तोले शब्द को उठा लेते हैं और बात बनते-बनते बिगड़ जाती है। इस बिगाड़ और अधैर्य से श्रीराम वर्मा अपरिचित नहीं हैं। वे भाषा के जिस संकट को झेलते हैं, उसे पहचानते हुए कहते हैं :

शब्द कहाँ है ? मेरे बीच/मैं उनके साथ आज कहाँ हूँ/

या—

यह नहीं कि शब्द नहीं है/पर फुलाने से फूट जाते है/
छूट जाते हैं पकडते ही/उठाते ही टूट जाते हैं/

फिर

शब्द चलते हैं/चालू हो जाते हैं/और सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं।

राजेन्द्रप्रसाद सिंह और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी :

राजेन्द्रप्रसादसिंह की चेतना आधुनिक है। उनके काव्य संग्रह 'उजली कसौटी' में मनुष्य की जिन्दगी के चित्र हैं। अधिकांश कविताएँ उस संदर्भ को व्यक्त करती हैं जिसमें आज़ादी के बाद की टूटन, घुटन, कृत्रिमता और जीवन-व्यापी असंतोष व्यक्त हुआ है। पिछले वर्षों में जो रिक्तता और छलावा

हमने झेला है और झेल रहे हैं उससे सम्बद्ध एक वृत्त इन कविताओं में हैं। संग्रह की पहली कविता ही जीवन में आई बनावट को व्यक्त करती है। उसमें जीवन में भरती जा रही उस कृत्रिमता की ओर संकेत किया गया है जिससे हम दिनोंदिन आक्रान्त होते जा रहे है। ताँबे का आसमान और टिन के सितारे जैसे प्रतीक उसी भाव के बोधक हैं। पूरी कविता की ध्वनि यही है कि हम आदमी नहीं रहे हैं, आदमी के नाम पर मात्र कृत्रिम बनकर रह गये हैं। संग्रह के पहले खण्ड की कविताओं में प्राय: सभी में किसी न किसी बिन्दु से वर्तमान परिवेश की 'एक्सर्डिटीज़' और 'टेंशन' को वाणी मिली है। अस्वीकार—सब कुछ का अस्वीकार और तमाम प्रचलित या स्थापित संदर्भों के प्रति विद्रोह इन कविताओं में देखा जा सकता है। मूल्यों या ह्रास, प्रजातंत्र की पोली व्यवस्था, मानवीय सम्बन्धों के बीच बढ़ती जाती खाई, बेईमानी, भ्रष्टाचार और व्यवस्थाहीनता समाज का एक सशक्त पहलू पूरे आक्रोश के साथ कविताओं में उभरा है। 'जीवन-प्रतीक' अवकाश, 'क्या करूँ' आदि कविताओं में यही संदर्भ है। कवि इस संत्रस्त और दमघोंट परिस्थिति से जिस दंश को भोग रहा है, वह कभी विवशता, कभी आक्रोश और कभी व्यंग्य की मुद्रा में उभरा है। एक संदर्भ देखिये :

कैसी बँधी हुई संयुक्त मुट्ठियाँ ढ़ीली होकर
चिथडे हो जाती ? खुल जाती हीन याचना में
........कोई किस्मत लेले, ईमान 'लोट' ले ले :
पर दे दे चुटकी भर दाने, पैसे, नौकरी, एक 'परिमिट'
या ठेकेदारी ?........उफ्फ ! ! !

और जब कवि कहता है कि "हर खुशामद में 'बड़ा पहुँचा हुआ सा' आदमी—हर सत्ता के लिए बेताब" तो सारी व्यवस्थाहीनता और भ्रष्ट सामाजिक संदर्भों की एक बड़ी पर्त हमारे सामने खुल जाती है। दूसरे खण्ड की कविताओं में जो परिवेश है, जो मन:स्थिति है; वह अंधकार से बाहर निकलकर किसी ठोस धरातल की खोज है। इस खण्ड की कविताओं में कवि की आस्था, मूल्यान्वेषण की प्रवृत्ति और मुक्ति के लिए ऐसी छटपटाहट है जिसमें कवि को 'अँगूठी भी बंधन लगती है।' अब तक की थकान और देह की हर पोर से बँधकर झूलता उसका भार' यकायक मानवास्था में बदल जाता है। इन कविताओं में अवसाद से उल्लास, थकान से स्फूर्ति, पीड़ा से

सुख और वर्तमान की विसंगतियों से संगति की ओर जाने का उपक्रम साफ़ दिखाई देता है। इस उपक्रम को बनावटी नहीं कहा जा सकता क्योंकि हर थकान, हर सन्त्रास और हर आत्मनिर्वासित क्षण में जिन्दगी को कब तक बंद करके रखा जा सकता है। कोई न कोई आस्था, कोई न कोई प्रतीक्षा और कोई न कोई मूल्य तो हमें अपनाने ही होते हैं। यों भी थकान के सहारे जीवन कब तक चल सका है, नकारों का सहारा कब तक लिया जा सकता है? इसी कारण कवि को जिजीविषा और मानव जीवन के लिए प्रतीक्षात्मक दृष्टि स्पर्श यहाँ मिलता है। यहीं कविताओं की शोभात्मकता सिद्ध होती। 'सीमान्तक' कविता इसखण्ड की लम्बी और श्रेष्ठ कविता है। उसमें बीच-बीच में फतवेबाजी जरूर है : आरोपण भी है, किन्तु उसका समग्र प्रभाव जीवनास्था से ही सम्बद्ध है। वह एक प्रकार से जड़ता से चेतनता की ओर जाने की कविता है। "जी लूँगा सारे मानवीय युगों को मैं" अपने ही की जीवन में 'जो जिजीविषा है' वह बेमानी नहीं लगती।

तीसरे खण्ड की कविताओं में कवि की आत्मस्वीकृति है। इनमें वह जिन्दगी के समस्त अभाव और अकेलेपन को सकारता हुआ भी जिस साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरता है वह आत्मीय संदर्भ की पहचान है। 'हौसलों पर छा रहा सारा अँधेरा" कहने वाला कवि अच्छी तरह जानता है कि उसे 'क्या होना है। ऐसा लगता है कि इस खण्ड तक आते-आते उसके सारे प्रश्न उत्तर पा गये हैं 'सारे प्रश्न हो जाते तिरोहित उत्तरित सबके लिए।' 'दो ध्रुवों के बीच उलझी प्रक्रिया की व्याख्या में जी रहे या मर रहे' की अनुभूति के बाद भी कवि पूरी तरह जीवन से सम्पृक्त है और उसका लक्ष्य ही यह है :

अपनी नहीं, सबकी अपेक्षा की पूर्ति तेरा धर्म।
मेरा नहीं तेरी बस यही उपलब्धि—
केवल यातनामय कर्म, केवल यातनामय कर्म।

संग्रह की कविताएँ मानवास्था के क्रमिक संदर्भ को प्रस्तुत करती हैं। उनमें एक व्यवस्था है, वे भूँठी और कमजोर नहीं हैं। उनमें कथ्य और शिल्प का समवेत स्वर है। आस्था और जिजीविषा के लिए यातनामय कर्म की संकेतक ये कविताएँ टूटी हुई, बिखरी हुई नहीं हैं। ये सही अर्थ में 'शोभात्मक कविताएँ' हैं। **विश्वनाथ तिवारी** का संग्रह 'चीजों को देखकर' एक संवेदनशील, किन्तु टूटते हुए व्यक्ति की बैचेनी का परिणाम है। इनमें जिन्दगी

को करीब से देखा गया है। भ्रष्टता, लड़खड़ाहट, अंधकारमग्न चेतना, भ्रमित समाज, दिग्भ्रमित सरकार, थोथी नैतिकता और एक अनजान भविष्य के प्रति सशंक, किन्तु सतर्क कवि तटस्थभाव से सब कुछ कहता गया है। इस कहने में वह टूटा भी है, देह दंश भी उसने सहे हैं, वह छटपटाया भी है और संत्रास को भी झेला है या झेलना जा रहा है फ़िर भी वह हार का कवि नहीं है। उसका कर्म भी राजेन्द्रप्रसाद सिंह की तरह यातनामय कर्म बन गया है। सारी जोखिमों को सहता हुआ और यह जानते हुए भी कि आगे का कदम क्या होगा ? कैसे पडेगा और स्थितियाँ किस करवट बैठेंगी, वह जिजीविषा से सम्पन्न हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि ये कविताएँ परिवेश की जटिलता को व्यक्त करते हुए भी जटिल नहीं हैं। इनमें व्यंजित जीवन धुँधला होकर भी स्पष्ट कथन का हामी है। 'बच्चों का भविष्य', जिजीविषा, चमत्कार, वर्तमान, तुम्हारा कानून, 'भविष्य', चौराहे पर, समय और हम और इतिहास के अँधेरे में आदि कविताएँ उक्त सदर्भो में पढी जा सकती हैं। 'इस भयानक अँधेरे में भी जीने की चाह रखने वाला कवि किसी आदर्श की खोज नहीं करता और कोई न कोई शरणस्थल ही खोजता है, अपितु जहाँ है जिस रूप में है, उसी में जीने की कामना लेकर खड़ा हुआ है। 'अँधेरे में दौड़ती दुनियाँ का कवि जब ऐसी जिजीविषा को इंगित करता है तो वह हवाई नहीं लगती अपितु संघर्षशील और कर्मठ विश्वासी की पीड़ा का अहसास होता है और कविता मूल्यों की ओर बढ़ती दिखाई देती है। इन कविताओं में संभावनाओं के प्रवेशद्वार हैं। यहाँ विकल्पों के लिए कोई अवकाश नहीं है। इसी से वह चलने और निरंतर चलने की बात को बड़े साहस से कहता है। मूल्यान्वेषण में उसकी भाषा बड़ी हिम्मतवर और शैली बड़ी साफ़ है।

आशा कहीं कुछ तोड़ देती है/
हर जिज्ञासा प्रश्नों को अंधी गली में छोड़ देती है/
यह कैसा प्रकाश है/जिसमें अपना चेहरा ही नहीं दीखता/

नंगा होकर भी जीने की कामना, भूख से व्याकुल होकर भी जीने की हिम्मतवर और सारे संत्रस्त परिवेश के दबाव को सहते हुए भी "सिर उठाकर चलता रहूँगा तुम्हारी सड़कों पर" की जिजीविषा उमस भरे परिवेश में जीवन-मूल्यों की तलाश की पहचान कराती है।

तिवारी ने सबको देखा है और देखने से ज्यादा शायद सहा है, लेकिन कहा कम है। ये मितकथन विपिन की याद दिलाते हैं। असल में ज्यादा देखना और सहना ही इन्हें कम कहने को बाध्य करता है। कम कहना, किन्तु अच्छा या सोच समझ कर कहना 'चीजों को देखकर' की विशेषता है। इसकी भाषा परिष्कृति और चालू भाषा के बीच की भाषा है। उसमें आभिजात्य नहीं तो दरिद्रता भी नहीं है। वह एक संदर्भ विशेष के लिए अपनाई गई सही भाषा है। छोटी कविताओं में बँधाव है। वे गठनात्मक ज्यादा हैं अपेक्षाकृत उनके जो बड़ी है या जिनका परिवेश चौड़ा है। बंद अँधेरे कमरे की पीड़ा की तरह वह अपनी यातना और सन्त्रस्त स्थितियों को छोटी कविताओं में गूँथता गया है। यों वह बंद कमरे की पीड़ा को ही सहने में समर्थ है :

बंद अँधेरे कमरे में/झेल लेता हूँ तुम्हारा वियोग/
मगर चौराहे पर/समय की मार नहीं सही जाती/

अकविता संदर्भ : 'विजप' और 'इतिहासहन्ता' :

अकविता के सम्बन्ध में पहले ही कह चुका हूँ कि वह एक नया 'लेबिल' है, उसमें दवा वही है पर एक खास रंग की। उसमें जो संदर्भ हैं वे लिजलिजे, घृणास्पद, नंगे और सीमित है। लगता ही नहीं कि हम अपने ही संसार की, अपने ही मानव-समाज की कोई कविता पढ़ रहे हैं। उसकी परिधि इतनी संकीर्ण है कि स्त्री, स्त्री-सम्बन्ध और नंगे सम्पर्कों के अलावा मानव तो उसमे गाहे-बगाहे ही आया है। यह आना भी मनुष्य का असली रूप नहीं है, उस पर थोपा गया रूप है। यही वजह है कि अकविता वादियों की चेतना सुन्न और ठहरी हुई हैं, उसकी धार भोथरी और मुड़ी हुई है। उसमें न तो जीवन का स्पंदन है और न परिवेश का कोई बिम्ब। केवल चौंकाने वाले शब्दों का जाल है जिसके आर-पार, इधर-उधर कुछ भी नहीं दीखता है।

'विजप' में श्याम परमार, गंगाप्रसाद विमल और जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ संकलित हैं। इन कविताओं का संदर्भ बिन्दु एक है, चेतना एक है। जो भी हो वह नयी कविता के बाद का स्वर इसी अर्थ में है कि ये चौंकती हैं, स्त्री पुरुषों के इर्द-गिर्द घूमती है। कुछ बडे शहरों की जिन्दगी ऐसी हो तो हो, किन्तु उसको समस्त मानव-चेतना के नाम पर प्रसारित करना कविधर्म नहीं है। इन कविताओं का ओछापन वहाँ प्रकट होता है जहाँ ये वक्तव्यों में बोलती हैं, रोमाँस विरोधी होकर भी एक दूसरे ढंग से रोमांस की

शुरुआत करती हैं—भले ही वह शुरुआत कामुकता का पर्याय हो। मानव-सम्बन्धों को लेकर जो भी संदर्भ इनमें प्राप्त हैं, वे इतनी उथली और अखबारी शैली में व्यक्त हुए हैं कि कविताओं की संवेदना का कोई भी बिम्ब नहीं उभरता है। अखबारी शैली के कारण कविताओं का रक्त-चाप इतना तेज हो जाता है कि अधिकांश कविताएँ शिथिल और मरणासन्न हो गई हैं। एक उदाहरण लें जिसमें अखबारी शैली के प्रभाव से कविता बेहद बचकानी हो गई है :

कोई नहीं है, जिसे शांति का अर्थ मालूम हो,
'बर्टेण्ड रसल' या सार्त्र या गांधी की आवाज अपरान्ह में खो जाती है।
हल्ला कभी शब्द नहीं बन सकता
भीड़ कभी भी शांति के लिए इकट्ठा नहीं हो सकती
शांति के लिए इकट्ठा जन-समुदाय मौत का साक्षी है········

इस तरह के बचकानी संदर्भ 'विजप' की कविताओं में कहीं भी आसानी से देखे जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अखबारी शैली से कथ्य तो शिथिल होता ही है कविता का प्रभाव भी समाप्त हो जाता है। यह ठीक है कि 'विजप' के कवियों ने भी अपने ढंग से भाषागत रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश की है, किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो सके हैं। ऐसी कोशिश में वे अकविता की बात करते-करते भाषा को अखबारी स्तर पर ले जाते हैं। इन सभी कवियों का बोलचाल की भाषा के प्रति लगाव बिखराव की स्थिति तक पहुँच गया है। 'विजप' में जो कविताएँ संकलित हैं उनके सम्बन्ध में दो बातें साफ हैं : एक तो यह कि उनका स्वर आक्रोश और विद्रोह का है और दूसरी यह कि अपने तमाम वक्तव्यों के बावजूद उनमें कहीं न कहीं कोई रोमानी संदर्भ अवश्य है। उनका आक्रोश ज्यादातर उन स्थितियों के प्रति है जो सामाजिक व्यवस्था से दूर एक हीन व्यक्ति का आक्रोश है। अतीत से कटने और रोमांस विरोधी होने का दावा भी बेमानी है क्योंकि संग्रह की कविताओं में तीनों कवि एक स्तर पर भावुकता लादे हुए हैं। विमल जब "टूटी हुई हथेलियों पर पुरुप थामे होंगे टूटे ताजमहल 'लिखते हैं या चतुर्वेदी जब "रोती हैं विधवाएँ, चीखते हैं नाजायज बच्चे, और धूमकेतु सा बढ़ रहा हूँ लीलने नगर का मुख, औरतों का कौमार्य, और पालने में सोए बच्चों की मैं,

माताओं का सतीत्व" तो एक नये ढंग से वे अपनी रोमानी भावनाओं को ही व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार श्याम परमार की ये पंक्तियाँ देखिये—

मेरी आँख आगे तैरता।
वनपसी वातावरण, घुँआरे नीलमी जूड़े, गुलाबी फूल,
कितनी बेगरज नियोनी रोशनी का,
यह अकेलापन, किसी के सेवती फूलों सरीखी बाँह पकड़े,
व्यर्थ कुछ गुनगुनाते, टहलने को चाहता मन,

ये उदाहरण ढूँढने नहीं पड़े, अनायास ही कहीं भी देखे जा सकते हैं। एक बात यह भी साफ़ है कि इन कवियों की रोमानी चेतना के पीछे वासना और स्त्री का विशेष हाथ है और यह चेतना वासनाकुल, एकदम नंगी और बेहूदी भी है। इससे न तो कविता बनती है और न कोई मामूली सा भी कथ्य सामने आता है। चाहे चतुर्वेदी हों या परमार या विमल सबके सब नंगी तस्वीरों के पीछे घूमने वाले ग्रंथिग्रस्त कवि हैं। शायद इसीलिए इन्हें अपने नये गुट की जरूरत पड़ी। युवतियों को देखकर मुस्कराने वाला कवि कभी 'उनके स्तनों को अपनी हथेलियों में महसूस करता' है और कभी 'उनकी रानों, पसलियों, नंगी बाँहों को एक आवाज सा अपने में बाँध लेता है'। चतुर्वेदी के काव्य संसार में बलात्कार, हिलते स्तन, झूलते स्तनों के स्तूप, लिपिस्टिक ट्यूब, फ्रैंचलेदर के पैकिट, नंगधड़ंग औरतें, रतिक्रिया, स्तंभन और स्तंभन आकार गढ़ने में संलग्न मानव-नियति, पीप चुआते श्लथ मानवलिंग, गुप्तांगों के दर्द, सूजे हुए वक्ष, मासिक धर्म, नुचे हुए स्तन और गर्भपात के दृश्यों की भरमार है। इन सभी का वर्णन उनकी कविताओं में इतनी बहुतायत से हुआ है कि कविता कविता नही रही है किसी भ्रष्टाचारी और वासनाकुल के मानस की अतृप्ति-सूचक ग्रंथि बन कर रह गई है। इस तरह के शब्दों के प्रयोग से कुछ भी सिद्ध नहीं होता बल्कि कविता एक विकृत और भ्रष्ट मस्तिष्क की उपज और फालतू की खुराफात सिद्ध होती है। यह मानव-संसार का परिवेश तो नहीं है, कोई निजी परिवेश हो तो हो। न कोई अनुभूति है न कोई कथ्य और न कोई प्रभाव। सब बेकार, लिजलिजा और घृणास्पद है। कवि का चेतना लोक इतना विकारग्रस्त है कि उसे कुछ दूसरा दिखाई ही नहीं पड़ता है। रोमांस का विरोध करने वाले कवि की यह वासनाकुलता कोई संकेत भी नहीं देती है। सीधे साक्षात्कार और निमर्म वास्तविकताओं के नाम पर ऐसी स्थिति कभी भी काव्य नहीं बन सकती है। कविता पहले कविता

मुरझा गये है पीपल पात द्वारों से/
खाली सड़कों से चला गया वसन्त ।
आंगन में बैठा है टूटा हुआ मन/वसंत की यादों में/
बेतरतीब फूलों के रंग/
अभी भी दुहरे रंग के फूल/कह जाते हैं कुछ टूटे हुए मन से/
—गंगाप्रसाद विमल

ये दो नमूने है, उदाहरण और भी 'विजप' में भरे पड़े हैं जहाँ ये कवि रागात्मक संस्पर्श और परम्पराबोध जगाते हैं । इस संग्रह में संकलित कविताएँ कवियों के निजी परिवेश की कविताएँ हैं । पिछले वर्षों में जो कविता सामने आई है, वह प्रायः निजी परिवेश को तोड़कर लिखी गई हैं क्योंकि निजी से ज्यादा बाहरी परिवेश ही इतनी गम्भीर और जटिल अनुभूतियाँ देता रहा है, इतनी सच्चाइयों को हमारे सामने फैलाता रहा है और इतनी कृत्रिम वास्तविकताओं का परिचय देता रहा है कि हर व्यक्ति विशेषकर कवि के लिए उनकी उपेक्षा असम्भव हो गई है । क्या राजनीति, क्या समाज क्या धर्म और क्या अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ सभी हमें आज प्रभावित करते हैं । उससे बचना न तो सम्भव है और न बुद्धिमानी ही । अतः अधिकांश कवि इन सभी परिस्थितियों का मुकाबला करते रहे है और सीधे साक्षात्कृत बिम्बों को कविताओं में देते रहे है । 'विजप' के कवि ऐसे साक्षात्कार से बचकर किसी एकांत कोने में चल रहे व्यापार या किसी नारी-संसार के कतिपय संदर्भों को ही आकार देते रहे हैं । इसलिए संग्रह की अधिकांश कविताएँ संकीर्ण; परिवेश से कटी हुई और मानवीय अनुपस्थिति और मानवीय तनाव रहित संदर्भों की कविताएँ हैं । नंगेपन की मुद्रा भी इतनी नंगी है कि उसमें आकर्षण ही नहीं है, घृणाभर है और वह भी आरोपित । यही वजह है कि (विशेषकर जगदीश चतुर्वेदी और परमार की कविताएँ) ये कविताएँ अनुभूतियों की दरिद्रता और कवियों की पस्त और ध्वस्त ताकत का अहसास कराती हैं । ये चौंकाती भर हैं—संवेद्य ये नहीं हैं । इनकी भाषा का अधिकांश रूप परम्परा का है—काव्य भाषा को छोड़ने की घोषणा के बावजूद ।

'जगदीश चतुर्वेदी' का नया कविता संग्रह **'इतिहास हंता'** करीब २० पुरानी कविताओं को भी नयी रचनाओं के साथ घसीट लाया है । इनमें ८१ कविताएँ हैं । इनमें जिस परिवेश को आकार मिला है वह आम आदमी का संसार नहीं है । उसमे ज़िस वर्ग या मानव के संदर्भ हैं वे हम सबके बीच कम

अलग-अलग ज्यादा रहते हैं। एक ऐसे परिवेश का चित्र जिसमें आम आदमी न हो आज की कविता का विश्वसनीय संदर्भ नहीं है। जिसमें सामाजिक पक्ष का अवलोकन नहीं है और तो और जिसमें समकालीन संदर्भ भी कम ही हैं या तो एक काल्पनिक जगत हो सकता है या फिर आरोपित संसार। इस तरह के आरोपण कविता की उम्र छोटी कर देते हैं। हाँ, एक बात जरूर है कि 'इतिहासहन्ता' की कविताओं का परिवेश संकीर्ण भले ही हो, सिमटा हुआ भले ही हो, किन्तु अपनी प्रकृति में काफी भयावह और दमक है। उसमें आकर्षण कम, भय और संत्रास का आरोपण ज्यादा है। 'विजप' की तुलना में उनकी यहाँ संग्रहीत कविताएँ अच्छी हैं। इनकी शैली साहसिक, बेपर्द और जागरूक तो है, पर यह जागरूकता संदर्भहीन और कमजोर क्षणों की जागरूकता है। एक कुंठित और घुटे हुए व्यक्ति का विद्रोह—बिना किसी चिंता के और प्रतिष्ठित का निषेध और परम्पराभंजक का विद्रोह इन कविताओं में है। इनकी ईमानदारी सीमित और भ्रष्ट है। इनकी पहली रचनाएँ जो 'विजप' में हैं, काफी कमजोर और बिखरी हुई हैं। 'इतिहासहन्ता' की कुछेक कविताएँ अनिश्चय, अजनबीपन, ऊब और प्रतिष्ठित व्यवस्था के प्रति विद्रोह की कविताएँ हैं। 'कायाकल्प', औपचारिकता का परिवेश, मातमी चेहरे, नस्लहीन नगर, और 'उग्रतारा के प्रेमी को, व्यतिक्रम और निवृत्ति आदि कविताएँ इसी तरह की हैं। कहीं-कहीं इन कविताओं में जो संसार है; वह कुछ-कुछ नीत्शे के अतिमानववाद से मिलता जुलता है। कहीं-कहीं साहसिकता और आक्रोश दोनों मिलकर कवि के अहं और आरोपित व्यक्तित्व का परिचय भी देते हैं। कुछेक कविताओं में अतीत से विच्छेद और रोमांस-निषेध का स्वर है। 'अनासक्ति' कविता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। कवि जब कहता है :

> मैंने अतीत को काट दिया है बेदर्दी के साथ
> कुछ नहीं दिखाई देता है, केवल खूँखार बिल्ली के कुछ पंजे
> और शरीर पर बने नाखूनों के कुछ खरोंचे गए निशान

यह अपवाद कविता है। ज्यादा संदर्भ ऐसे हैं जहाँ कवि अतीत को बेरहमी से काटता नहीं, वरन् उसी से चिपक जाता है। असल में चतुर्वेदी की आधी से ज्यादा कविताएँ देह धर्म और स्त्री शरीर की कविताएँ हैं। कुछ तो 'विजप' वाली कविताएँ यहाँ हैं और कुछेक और भी यहाँ आकर जुड़ गई हैं। संभोग की इच्छा और उसके बाद उससे विच्छेद की बात जितनी स्वाभाविक है उतनी ही रोमांस की एक नयी भूमिका भी है। इस तरह की कविताएँ

गलित और इतर पक्ष को ही प्रस्तुत करती हैं। इस कथ्य में जो गंदगी है, वह इतनी लिजलिजी है कि उससे एक नंगी और गंदी रोमानी संवेदना का ही अहसास होता है यह नई इसी अर्थ में है कि इसमें देह धर्म की स्वीकृति है, कोशिश करने पर भी उसका निषेध कविताओं से व्यंजित नहीं होता है। वासनावेग और देहलिप्सा के दर्जनों उदाहरण इस संग्रह में मौजूद हैं :

मैं प्रत्येक छिद्र के साथ संभोग करना चाहता हूँ।
तुम्हारे शरीर के रोमों में उभरते संयम के कण
अपनी अभद्र चेष्टाओं से निष्पंद करने की इच्छा होती है,

इस तरह के उदाहरण 'इतिहासहन्ता' के करीब-करीब हर पृष्ठ पर मिल जायेंगे। वे इतिहासहन्ता ही नहीं साहित्यहन्ता भी हैं। इसी से अनुभूतियाँ धड़हीन व अनपहचानी सूरतें बनकर रह गई हैं। असल में जगदीश एक आरोपित संदर्भो के कवि हैं। उनकी चेतना मानव-सम्बन्धों की स्थिति से नहीं सिर्फ देह के मांस पिण्डों से जुड़ी हुई है। यही वजह है कि उन्हें 'हर स्त्री के साथ सोते समय ईश्वरीय सुख की अनुभूति होती है।' इस आधार पर संग्रह की आधी कविताएँ महज बकवास है, एक फालतू खुराफ़ात है। सही शब्दों का सहारा लें तो कहा जा सकता है कि ये कविताएँ हैं ही नहीं। कविता वक्तव्य नहीं होती, विकार नहीं होती, व्यर्थ का बकवास नहीं होती। मानव सम्बन्धों के नाम पर लिखी गई ये पंक्तियाँ फूहड़ हैं। ये शुद्ध भोगवाद से प्रेरित हैं और अतृप्त व्यक्ति के मानसिक षडयंत्र की सूचक है। एक शब्द में ये समकालीन संदर्भो की कवितायें नहीं है क्योंकि इनमें कोई संदर्भ ही नहीं है, है तो एक ऐसा भ्रष्ट संदर्भ जो आयातित है। एक ऐसी ग्रंथि है जो ज्वालामुखी की तरह फूटकर फैल रही है। केवल पाँच सात कविताएँ ऐसी जरूर हैं जिनमें परिवेश का अंकन है, किन्तु वे इन कविताओं की भीड़ में खो गई हैं। काश ! कवि सही मानस से सही परिवेश को आकार देता तो वे कविताएँ अच्छी होतीं। काव्य-भाषा को तोड़ने और निर्मम सच्चाइयों की बात समझ में आती है, किन्तु क्या जीवन में यौन-विकृतियों से सम्बद्ध सच्चाई ही क्रूरतम है। क्या यही एक संदर्भ है और क्या आक्रामकता के लिए यही एक भूमिका रह गई है ? सम्बन्ध और भी हैं; विसंगतियाँ और विश्रुतियाँ और भी हैं जिनकी ओर अकवितावादियों की दृष्टि नहीं गई है। यह सीमाधर्मी दृष्टि इस 'ग्रुप' के सभी कवियों में कमोवेश रूप में है। बहुत सोचने के बाद यही कहा जा सकता है कि ये कवि निर्मम वास्तविकताओं के कवि नहीं है। 'सजेस्टिवटी'

को ये लोग खा गये हैं और सपाटवयानी को इतना नंगा रूप दिया है कि कविता कविता नहीं रही है, एक व्यभिचार या ढकोसला हो गई है।

सौमित्र मोहन :

'अकविता ग्रुप' के साथ ही सौमित्र मोहन का नाम भी जुड़ा हुआ है। यह खुशी की बात है कि वे उनसे जुड़कर भी अलग है। रोमानी संदर्भ उनमें भी हैं, किन्तु सही और संवेदना से भरपूर। वक्तव्यबाजी और सपाटवयानी के नाम पर की गई खुराफात या पैगम्बराना अन्दाज़ उनमें नहीं है। वे सहज हैं, ऊपर से शांत हैं, किन्तु भीतर ही भीतर तनाव है। वे बातूनी लहजे को नहीं अपनाते हैं। उनकी अनुभूति निजी और परिवेश से प्रतिबद्ध है। उनकी कुछ प्रेम-सम्बन्धों की सूचक कविताएँ ठंठी ऐन्द्रियता से युक्त हैं। इतने पर यह सच है कि उनमें यह ऐन्द्रिता स्पष्ट और प्रखर शब्दावली में व्यक्त हुई हैं। भाषा संदर्भ के अनुकूल है और उसमें बनावटीपन नहीं है। यों इनकी कुछेक कविताओं में यौन-स्थितियों और स्त्री-पुरुष के नंगे संदर्भों का हवाला भी है, किन्तु जगदीश की तुलना में कम। यह मानसिक व्यभिचार जग़दीश और श्याम परमार में काफी है।' 'सौमित्र मोहन' की '**लुकमानअली**' एक लम्बी और अच्छी कविता है। इसमें वे निजी परिवेश को तोड़कर सार्वजनिक धरातल पर उतरे हैं। कविता की संवेदना प्रभावित करती है और अनेक विसंगतियों के होते हुए भी उसका प्रभाव पड़ता है। कवि की भाषा प्रायः संदर्भ के अनुकूल है। बीच-बीच में कतिपय चालू मुहावरे और अनावश्यक संदर्भ न आये होते तो कविता और भी अच्छी हो सकती थी। कहीं-कहीं तो ऐसी पंक्तियाँ भी है जिनकी शब्दावली कमजोर जरूर है, पर उसका अर्थ एक सही स्थिति का संकेतक है।

> लुकमानअली के लिए स्वतन्त्रता उसके कद से केवल तीन
> इन्च बड़ी है
> वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलावाजियों खाता है
> वह चाहता है कि पाँचवे आम चुनाव में दोनों का प्रति-
> निधित्व करे उन्हें टाफिया बाँटे, जाति और भाषा की कसमें
> खिलाये,
> वह जानता है कि चुनाव लोगों की राय का प्रतीक नहीं,
> धन और धमकी का अंगारा है............

भाषा गड़बड़ हैं, किन्तु कथ्य सही है। यदि उसे सही भाषा मिली होती तो प्रभाव और भी घना हो सकता था। कवि के अनुसार 'लुकमानअली'

मेरे लिए मात्र प्रतीक नहीं है—इसकी शारीरिक सत्ता है, फन्तासी की सत्ता है।" लुकमानग्रली का व्यक्तित्व विसंगतियों से भरा हुग्रा है। वह परिवेश की सारी विसंगतियों का केन्द्र है, किन्तु ग्रसंगतियाँ इतनी ज़्यादा हैं कि वह 'सिनीकल' प्रतीत होता है। ग्रशोक वाजपेयी का यह कथन बहुत वजन रखता है कि "पूरी कविता बिम्बों, नामों, चुस्त फिकरेबाजी, सामान्यीकरण ग्रादि का एक गोदाम प्रतीत होती है।" यदि यह 'चुस्त फिकरेबाजी' उसमें न ग्राई होती तो कविता ग्रच्छी हो सकती थी। यदि इन्हें नजरन्दाज कर दिया जाये तो कविता ग्रनेक सम्भावनाग्रों की चित्रपटी सी लगती है। यों उनकी कुछ कविताग्रों में तनाव ग्रौर त्रास की व्यंजना है जो पूरी शाँत मुद्रा में व्यक्त हुई है। यह पंक्तियाँ ही लें।

'मेरा घर' निबन्ध पर ब्लेड रख में ग्रभी बाहर गया हूँ
बिना उढ़का दरवाजा बिना उढ़का ही है
न उसका रंग उड़ा है, न वह पुराना हुग्रा है, न गणेश की
खुदी तस्वीर खण्डित हुई है।
एक दरवाजा है, एक निबंध है, एक ब्लेड़ है,
(ग्रन्दर निकलकर कोई बाहर गया है ग्रन्दर ग्राने के लिए)

सीधे कथन में भी वहाँ तनाव है ग्रौर कविता का कथ्य सफलतापूर्वक व्यक्त हो गया है। कुल मिलाकर सौमित्र मोहन की कविताएँ एक ऐसे कवि की कविताएँ हैं जिनका परिवेश तो काफी चौड़ा है पर उसे शब्दों में बाँधने का ढंग ग्रनुशासनहीनता का शिकार है। शब्दों की फिज़ूलखर्ची बहुत है। वह 'कई चीजों' के बारे में सोचता जरूर है, पर ग्रन्त में उसका 'नायक' नंगा हो जाता है ग्रौर जगदीश चतुर्वेदी की पाँत में जा खड़ा होता है। ग्रकविता के ही परिवेश से जुड़ी हुई **नीलमसिंह** की कविताग्रों में बहक है, व्यर्थ का फैलाव है ग्रौर उसमें जिन सदर्भों को पकड़ा गया है वे ग्रविकसित, ग्रधूरे ग्रौर मृत संदर्भ हैं। कविता के लिए जिस जीवन्त बोध की ग्रपेक्षा होती है वह उनके काव्य संग्रह 'भयका सैलाव' से भी स्पष्ट नहीं होता है। सारे संग्रह में ग्रर्थहीन सैलाव है। किसी भी स्तर पर ये कविताएँ मानव-नियति ग्रौर मानव सम्बन्धों से प्रतिबद्ध नहीं है। वही एक तो संदभों की पुरजोर चीख, वही ग्रटपटे शब्द ग्रौर प्रतीक तथा विकृत बिम्ब नीलमसिंह की कविताग्रों में बिखरे पड़े हैं। भाषा में 'मैनरिज्म' बढ़ता जा रहा है ग्रौर कथ्य में ग्रारोपित संदर्भो की भीड़ है।

कतिपय संदर्भ ऐसे भी हैं जो बहुत पहले ही नयी कविता में आ चुके हैं। अत अब उनकी आवृति खटकती है और खीभ पैदा करती है।

"हमारी उपलब्धि है/बुझा हुआ सूर्य/उखड़े हुए पाव/टूटी कमंदें।"

मैं समझता हूँ अकविता की खोज बेमानी है और इन कवियों के पास न कहने को कुछ है और न अनुभव के लिए कुछ है। ये सभी स्थापित कविता का अस्वीकार केवल अस्वीकार के लिए करते हैं। जिस बात को ये छोड़ना चाहते हैं, उसी से लिपट जाते हैं और कविता किसी नये मोड़ की सूचना नहीं देती है। उनमें कोई खोज न है, न कोई अनुभूति और न कोई कथ्य, केवल है तो एक कोने का परिवेश, किन्तु वह भी सच्चाई के साथ नहीं उभर सका है। आयातित माल होने से उसकी स्थिति संदिग्ध है।

श्याम विमल : दीमक की भाषा :

श्याम विमल का 'दीमक की भाषा' ५२ कविताओं का संग्रह है। शुरू में विमल ने कुछ कविताएँ ऐसी भी लिखीं थीं जो एक छोर पर अकविता के ग्रुप से सम्बद्ध थी, किन्तु इस संग्रह में उस तरह की कविताएँ कम हैं। यह संग्रह मानव-स्थिति और सही अर्थ में भयावह मानव-स्थिति के संदर्भों को गहरे छूता है। कवि अपनी अनुभूतियों में साफ और अभिव्यक्ति में सपाट है। जटिल मनस्थिति की बोधक ये कविताएँ आदमी की जिन्दगी के उस पहलू को व्यक्त करती हैं जिसमें वह काफ़ी कमजोर, गिरा हुआ और अस्वस्थ समाज-व्यवस्था से जूझता हुआ भी चुप है। चुप्पी साधे आदमी के विगलन और दूसरों द्वारा जिये जाने वाले प्रसंग इन कविताओं में हैं। आदमी जैसे संदर्भहीन होकर; अर्थहीनता की ओर बढ़ते हुए निरंतर मृत्युदंश को सह रहा है और सह क्या रहा है उसे यह सब सहना पड़ रहा है। 'दीमक की भाषा' में ऐसी ही स्थितियों की उद्घाटक कविताएँ हैं :

अर्थशून्यता की ओर बढ़ी जाती आदमी की कविता
का आखिरी पैरा मैं अपनी स्याही से छींटकर
मृत्युदण्ड पर फहराता हूँ............

''कविता का आदमी' संग्रह की सबसे लम्बी और जानदार कविता है। इसमें आज के आदमी का हुलिया : उसकी धुँआ खायी जिल्द, ताश की तरह फैंटे जाने वाला व्यक्तित्व; नौकरी के लिए विवश कुर्सी के वजन को ढोता आदमी, रोजाना दूसरों के द्वारा इस्तेमाल किया जाने वाला और नामहीन आदमी अपनी पूरी मुद्रा में उभरा है। कवि के मानस में आदमी को लेकर जो कुछ आया है वह समकालीन परिवेश का सही संदर्भ है। उसमें एक भोक्ता

का स्वर है, जिन्दगी से भाराक्रान्त आदमी और उसकी दैनिक क्रियाओं का मूर्तीकरण है। बीच-बीच में देश, राजनीति और समाज की बिखरी हुई व्यवस्था के प्रति व्यंग्य भी है और आक्रोश व क्षोभ भी है। कविता में क्षुब्ध मानस का स्वर है, पर यह अच्छी बात है कि इसमें पूरी साहसिकता और निर्ममता से उद्घाटित स्थितियों में अतिरिक्त आक्रोश नहीं है। उसका आक्रोश व्यंग्य के सिरहाने बैठा-बैठा कितने ही सम्बन्धों की अर्थहीनता भी बतलाता है और उससे निष्पन्न बेमानी स्थितियों के प्रति अपनी गाढ़ी पहचान भी बताता है :

१. आदमी कितना कागज हो रहा है। चुप।
प्रश्नों पर पाँव धरता हुआ मेरा आकार
निहायत छोटा पड़ रहा है
—गंदे पैसे पर रेंगता हुआ जैसे कोई जुलूस
जिस्म जिस्म होकर बिखर रहा है।

२. लाचार
अपनी जरूरतों पर कुर्सी ढो रहा हूँ नौकरी भर
मेरे नाखून जल्दी बढ़ जाते रहे है
और मैं उन्हें अपनी खुजली पर इस्तेमाल करता
रहा हूँ।

३. मेरे इस देश में :
हर बार वही होता है वही
कि आदमी के कद का जो नेता है
अपने पेट में कछुआ बोता है............

४. जाता हूँ सुनो/सड़क से घर तक/यही रोज/इतना ही
होना आदमी है।
जानवर सा यहाँ/सब कुछ ढोना लाजिमी है।

इन पंक्तियों में वर्तमान परिवेश में रिक्तता अनुभव करते, समस्याओं और प्रश्नों से दबे आदमी की आकारहीनता, भीतर आक्रोश किन्तु कुल मिलाकर लाचारी के सबूत और आत्म-लिप्त, स्वार्थी व बार-बार दुहरते रहने की नियति का बोझा ढोने को मजबूर होते 'बेल्ट' के छेद की तरह चौड़ी होती व अन्ततः फटी हुई जिन्दगी और कुल मिलाकर "नाम से गिरकर, चीज़ हो गया हर कोई।" जैसी स्थिति से गुजरने वाले इन्सान और उसके परिवेश की अर्थहीनता का अहसास काफी गहरा है। ये अनुभूतियाँ आरोपित तो

इसलिए भी नहीं कि इनमें जिस स्थिति व प्रसंगों के बिम्ब हैं वे यथार्थ भी हैं और आज के जन-मानस के सही हिस्से के 'एक्सपोजर' भी । सपाटबयानी अधिकतर संवेदना से जुड़ी हुई है और इसी से कविता में रचना के गुण आ गये हैं। ऐसे चित्र एकाध ही हैं जहाँ कवि वक्तव्य देता है, सिर्फ 'कमेन्ट' करता है या फिर कुछेक फूहड़ शब्दों का प्रयोग करता है । लेकिन फूहड़ शब्दावली में लाई गई तुक और उसके द्वारा व्यक्त व्यंग्य में काफी तीक्ष्णता है : "पार्टी का नाम मत पूछ, यहाँ मत मूत, मेरे देश के सपूत,............मांग लेता एक मूत-प्रान्त, बहुत बड़ा है हमारा देश, (था भी)" आलोच्य कविता में पार्टी ? प्रजातन्त्र, देश प्रान्त और राजनीति से जुडे नामों का व्यर्थ प्रयोग नहीं है। वे हमारे ही एक बहुत बडे हिस्से की विसंगतियों को स्पष्ट करते हैं। अतः उनका प्रयोग सार्थक भी है और व्यंजक भी । प्रायः कविता में प्रेषणीयता बाधित नहीं हुई है। इसमें यांत्रिक और कृत्रिम जिन्दगी के गर्द गुबार से निकलने की कोशिश भी है और इस तरह कविता पूरी तरह परिवेशबद्ध होकर भी मुक्ति और मानवीय अस्तित्व की तलाश की कविता सिद्ध होती है। इन सब तथ्यों को संवेद्य बनाता हुआ कवि मानव-स्थिति और मूल्यान्वेषण का संकेत देता है। एकाध जगह आये 'झल्ली, मूंगफल्ली, जैसे शब्दों की बात नजरन्दाज करदी जाय तो यह कविता वर्तमान परिवेश और उसमें रहने को विवश आदमी की जिन्दगी का बहुत साफ दस्तावेज है। उसके अतिरिक्त संग्रह की 'वे लोग क्या करे', वह, त्रिकोण, समय-छाप चेहरा, आदिवस, जानवर, मर्जी, 'गलत बातु', नीला बोखा, जाता रहा हूँ, तीसरे रास्ते की तलाश, दीमक की भाषा, मृत्युलेख व उसने कहा था कविताएँ भी खासी अच्छी है। इनमें परिवेश तो यही है, किन्तु अलग अलग-संदर्भों से जुड़कर वह अधिक व्यापक हो गया है । भ्रष्टाचार, दंभ, छल-छद्म और विकृतियों की सूचक ये कविताएँ बड़ी सशक्त हैं। इनमें कवि की संवेदना तीखे अहसास से भरकर सरल शब्दों में कहीं किसी कोण से व्यंग्य फेंक देती है और कभी समाजव्यापी क्रूर स्थितियों का सैलाब । इनसे मनुष्य क्षुब्ध होता हुआ जिस तनाव को महसूस करता है वह 'वे लोग क्या करें' का प्रतिपाद्य है। 'त्रिकोण' में देश की वर्तमान स्थिति का एक कमजोर पक्ष उभरा है, इसमें उस बौद्धिक जड़ता पर कटाक्ष है जिसमें "अनशन या उपवास, कोई कर्म नहीं होता, सिर्फ चर्चा का विषय होता है। "कोई अजात देश से आकर, उसकी राष्ट्रीयता पर उसे चपत मारता है", 'आदिवस' में सुबह से शाम तक की अर्थहीन आवृत्ति से घिरी जिन्दगी का वृत्त है :

दिन होते ही कोई, उसके नीचे सड़कें डाल देता है।
और 'हार्न' उसका पीछा करते हैं,
वह अपनी पसलियाँ सिकोड़ता हुआ,
पीछे वालों के पीछे,........और पीछे,
और पीछे होता जाता है,
सारी बाह्यताएँ उसे छीलती हुई आगे बढ़ जाती हैं ।

'मर्जी' कविता बिगड़ते और औपचारिक बनते जा रहे मानव-सम्बन्धों को व्यक्त करती है। आलस्य, स्थैर्य और जड़ता से "सम्बन्ध आज" 'ब्लैड के रैपर' हो गए हैं" और जिन्दगी का भोक्ता व्यक्ति "बाई-इंस्टालमैन्ट" जिन्दगियाँ देकर, महाकाल का ऋण चुकाने में लगा है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि ने पूरे परिवेश को जिया ही नहीं पिया भी है। यही वजह है कि उसका स्वर साफ और विश्वास्य है। वह संकट के चरम बिन्दु पर है जहाँ से उसकी चेतना द्विधाग्रस्त हो गई है और इस द्वंध से फूटी कविता की ये पंक्तियाँ पूरी ईमानदारी का सबूत देती हैं :

—घायल अस्तित्व को, दोनों बाहों पर उठाये मैं,
एक कवित्वहीन दौराहे पर, आ खड़ा हूँ,
जहाँ से एक रास्ता, बीच में टूट जाता है और,
दूसरा, मरघट की ओर से आता है।
—मैं—,
कहाँ ले जाऊँ अपने इस/मृत प्राय पौधे को!

उक्त कविताओं के अतिरिक्त शेष कविताओं में भी काफ़ी ऐसे अंश है जो प्रभावित करते हैं, किन्तु 'एक गरम वक्तव्य' में कविता की गंध नहीं है। वह चाक चौबन्द वक्तव्यों से भरी हुई है। हाँ, उसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ अच्छी हैं। या जब वह 'बेटी की याद' में खो जाता है तो कविता के बीच-बीच में उसके ये वक्तव्य काफी बेजान लगते हैं : "कहता हूँ : मेरी जिन्दगी के सोलह साल मर गए, देश के कर्णधारों को खबर कर दो वे अपने दौरे से वापिस आयें।" 'मृत्यु बोध' और पहिया, कीचड़ और कैक्टस का बोध भी हल्का और बनावटी है। यहाँ कवि चौंकाकर प्रभाव हासिल करने के चक्कर में भटकने लगा है।

श्यामविमल के इस कथ्य के लिए उसकी भाषा बेपर्द और सपाट है। वह अनुभूति की तरह उस पर दीमक की तरह चढ़ती गई है और वह उसे महसूस करता हुआ अभिव्यंजना के द्वार तक ले गया है/यों भाषा की तलाश

कवि का उद्देश्य नहीं है। उसे भाषा के लिए किसी पालिश की जरूरत नहीं पड़ी हैं। उसकी जरूरत आदमी है। यह आदमी ही उसकी कविता का केन्द्र है और उससे चाही गई अनुभूतियों की गति के लिए वह किसी भी शब्द को गहराई से पकड़ लेता है और वही शब्द कविता की पंक्ति में आकर अर्थवान हो जाता है। यह अनायास ही होता है क्योंकि वह "अपनी कविता में—शब्द या शिल्प नहीं—आदमी रखकर सोचता है।" वह "अनुभूतियों की नदी को" किसी "नदी को भाषा" अर्थात् परिष्कृत और प्रवाहशीलता से नहीं जोड़ता है। अनुभूतियों के दबाव से वह स्वतः जुड़ जाती है एक ऐसे यथार्थ से, एक ऐसे प्रवाह से जिससे उसकी विश्वसनीयता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। उल्लेखनीय यह भी है कि श्याम विमल की शब्दावली आन्तरिक अर्थवत्ता से भरपूर तो है ही; उसमें बाहरी लयात्मक संयोजन भी कम नहीं है। इसी कारण विमल की कविता में व्यंग्य काफी तेज और रचनात्मक स्तर पर आया है। इस व्यंग्य में ठंडापन नहीं है, आदमी की मजबूरियाँ हैं, आक्रोश नहीं तनाव है, भटकेबाजी नहीं, अनिवार्य संतुलन है। कुल मिलाकर श्याम विमल की ये कविताएँ एक हिम्मतवर और जागरूक कवि की कृतियाँ हैं। इनमें एक खोज है और हर स्थिति में अपने पाँव चलने की और किसी गहरी तलाश की शुरूआत है। यह तलाश इसलिए सार्थक है कि कविताओं में बन्द गलियाँ और गलियारे नहीं है, वरन् आदमी के चेहरे पर पुती कितनी ही बोलती रग-रेखाओं का मानचित्र है—एक मुक्त मानचित्र जो इतिहास भी है और भूगोल भी।

रामदरश मिश्र और श्रीकांत जोशी :

रामदरश मिश्र की कविताओं का संग्रह "पक गई है धूप" कवि की प्रौढ़ चेतना का प्रतीक है। इसमें जो कविताएँ संकलित हैं वे अस्तित्व बोध प्रकृति बोध और संस्कृति के विघटित बोध से सम्बद्ध हैं। सारे संग्रह में बचकानी कविताएँ बहुत कम हैं। उनमें एक आधुनिक बोध के कवि का स्वर गूँजता दिखाई देता है। प्रथम खण्ड में जो कविताएँ है, उनमें अस्तित्व बोध की पहचान तो है ही, अस्तित्व और अनस्तित्व का संकट क्षण भी है : यही होने और न होने की स्थिति है। आदमी जिन मुखौटों को चढ़ाकर जी रहा है उसका पर्दाफाश करने वाली और उसके भीतर की हर छवि को उघाड़ने वाली ये कविताएँ आरोपित मनस्थितियों की उपज नहीं है। आदमी जो बाहर से दीखता है और जो उसके भीतर है उसका संदर्भ और उसकी स्थिति और परिस्थिति का सकट व पीड़ा दायक दंश भी इन कविताओं में है। ये

कविताएँ आदमी की असली पहचान के बिम्बों में बँधी साफ और जीवन्त हैं इनमें आदमी का छिपा हुआ रूप और वह तनाव और त्रास भी है जिससे वह परिवेश से सम्पृक्त होकर प्रतिपल दवता जा रहा है।

दूसरे खण्ड में अधिकाश कविताएँ कवि के रोमानी बोध और प्रकृति संपर्क की कविताएँ हैं। प्रकृति माध्यम है—एक सेतु है जिससे होकर कवि की चेतना प्रसंगतः जुड़ती है, किन्तु उसका लक्ष्य अनिवार्यतः आधुनिक वोध से ही जुड़ा हुआ है। "समय जल सा" खण्ड की कविताओं का सन्दर्भ आधुनिक है और उसमें प्रकृति-चेतना के विम्व होकर भी समय वोध का प्रसार काफी है। यद्यपि वह वसन्त से आवृत्त है; किन्तु फिर भी समय उनके सामने है। समय की निरन्तर परिवर्तनशीलता और पारिस्थितिक चुनौतियाँ उनके सामने है। यही वजह है कि वे प्रकृति से सम्पर्कित होकर भी उनमें रमते नहीं है, वसंत की प्रकृति उन्हें बाँध नहीं पाती है। एक सजग और जागरूक कवि के रूप में मिश्रजी की ये कविताएँ उपलब्धियाँ हैं। इस खण्ड की नवीन चेतना का अध्याय वहुत वड़ा है तभी तो सारे आकर्षण से असंपृक्त रहता हुआ कवि समय की आवाज को पहचान सका है। यह 'समय' जलसा टूट जाता है और कुछ भी हाथ नहीं रहता है। कैसी लाचारी है? कितनी निरर्थकता है? कवि इस सबको महसूस करता है।

तीसरे खण्ड की रचनाएँ अपेक्षाकृत लम्वी हैं। इनमें काल देवता से साक्षात्कृत संदर्भ है। इन लम्बी कविताओं में समकालीन परिवेश काफ़ी दूर तक दिखाई देता है। वर्तमान समाज में हो रहा सांस्कृतिक ह्रास: मूल्यों का विनाश और विसंगतियों से उत्पन्न मनुष्य की क्रूरता, निष्ठुरता और विवशता आदि सभी को व्यंजित करने वाली इस खण्ड की कविताएँ प्रतिबद्ध तो हैं ही, महत्वपूर्ण इसलिए भी हैं कि ये आरोपित स्थितियों की उपज नहीं है। इनमें न तो वक्तव्यों की भरमार है और न चालू मुहावरे का ही प्रयोग है। कवि की अनुभूति में मानव-स्थिति और परिवेश पूरी तरह सिमट गया है और उसकी अभिव्यक्ति सशक्त और कलात्मक है। मिश्र जी मानव-समाज और संस्कृति से कटे हुए कवि नहीं हैं। उन्हें उसके परिवर्तित और विघटित स्वरूप का अहसास है। "समय वोध" यहाँ भी है। वे "समय" को पूरी तरह पीते रहे हैं और उसके वाद जो नवनीत निकला है वह यह है:

समय अनुभूति है, सूर्य का उगना दिन नहीं है,
उस उगे हुए को, शिराओं की गति में पाना दिन है,
सूर्य का वुझना रात नहीं है, उस वुझे हुए को

मन के अनकहे सन्नाटे के बीच, पहचान लेना रात है,

पानी तो बहुत बहता है, लेकिन जितने को हम घड़े में बाँध पाते हैं,

उसे ही तो जानते हैं, शेष तो बह जाता है अनस्तित्व-अनजान,

"समय देवता" कविता काफ़ी लम्बी कविता है। उसका परिवेश भी काफी चौड़ा है तभी तो राजनीति, समाज, युद्ध और विघटित संस्कृति आदि कितने ही संदर्भ इसमें समा गये हैं। कवि की यह स्थापना सही है कि समय का न्याय बड़ा निष्ठुर होता है और इसके न्याय की तुला पर राजा-रंक, पर्वत-पंक सभी कुछ समान-भाव से तुल जाता है। कवि कहता है :

वड़े-बड़े साम्राज्यों का शीशा
तुम्हारी एक साँस की आँच से
चिटक कर टूट जाता है
टुकड़ों-टुकड़ों में खण्डित प्रतिबिम्ब
जख्मी चिड़ियों से हाँफते हैं, फिर ठंडे हो जाते हैं ...
बड़े-बड़े रावण, महिरावण, कंस, मुसोलिनी सिकन्दर
तुम्हारी मुट्ठियों की कबर में दुबक कर सो जाते हैं....

संक्षेप में मिश्रजी का "समय देवता' मनुष्य की नियति है, जीवन के हर सन्दर्भ में, हर कार्य-कलाप में समय की निर्मम और निर्भय भूमिका का क्रम चलता रहता है। कुछ भी इससे नहीं बचता। कला शिल्प की दृष्टि से यह श्रेष्ठ कविता है। एक और लम्बी कविता ',फिर वही लोग" भी मिश्रजी की उल्लेखनीय कविता है। इसमें आज की समाज व्यवस्था के कर्णधार और मुखौटे पसन्द लोगों के भीतरी जीवन के चित्रों का खुलासा वर्णन है। एक प्रकार से यह कविता सत्ताधारी व्यक्तियों के भीतरी जीवन के साफ बिम्ब देती है। इन दोनों कविताओं की भाषा-शैली संदर्भोनुकूल है। कहीं-कहीं व्यंग्य बड़ा मार्मिक है। उसमें तीखापन है और एक ऐसा आक्रोश है जो बचकाना नहीं लगता है। जब वे लिखते हैं "टर्ट टर्र टर्र, मुझे नहीं किसी का डर्र, बडे मेंढक के डर से दरार में बैठा हुआ, कुएँ का एक छोटा मेंढक चिल्लाता है, सारी दुनियाँ है मेरा घर्र,' तो चालू शब्दों के होते हुए भी व्यंग्य असर डालता है। कहीं-कहीं व्यंग्य में बहुत तीखापन है और वह युग की भयावह वीभत्सता का अच्छा संकेत करता है :

प्रभु मेरे क्षमा करो, करुणा का जल दो,
अभी-अभी जो मनुष्य खाया है, पचा सके बल दो,

कुल मिलाकर रामदरश का कवि एक प्रौढ़ और स्वतन्त्रचेता कलाकार है। उनकी रचनाएँ सही अनुभूति की देन हैं और उनमें मानवीय अस्तित्व की तलाश भी सतही न होकर गहरी है। कविताएँ भीड़ में खोये हुए आदमी के असली चेहरे पर रोशनी डालती है।

श्रीकांत जोशी :

जोशी का 'प्रश्न कौन तोड़ेगा' संग्रह ५५ कविताओं से लैस है। चार शीर्षकों में विभक्त ये कविताएँ कवि के मन की सहज और निश्छल अभिव्यक्तियाँ है। इनमें एक ओर रोमानी संदर्भ है, तो दूसरी ओर कवि की प्रश्नमुखी मुद्रा और इन दोनों के आसपास मानवीय सम्वन्धों की चिन्तनपरक वह भूमिका भी है जो सारी कृति से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध है। समूचा संग्रह सहज मानस का उच्छलन है। इसमें न तो आयातित संदर्भो की भीड़ है और न आरोपित भाव-शिल्प ही। यही कारण है कि कविताओं से गुजरते हुए आत्मीयता का अहसास होता है। संग्रह के पहले खण्ड की कविताओं में निरन्तर टूटते जाते व्यक्ति : उसके विकल्प-संकल्प, अनिश्चित मानस, आत्मलिप्त, आत्मनिर्वासित और अपने से अजनवी मानव के अपने होने और न होने का का संकट और नपुंसक आक्रोशी व्यक्ति उसकी सूनी जिन्दगी व उसकी वे हिसाव लाचारियाँ, झूठ और गलतफहमियों की वैसाखी लगाकर चलने वाले सत्ताधारी व समाज व्यवस्थापकों की फूहड़ मनोवृत्ति, विके हुए आदमियों का निश्चय अनिश्चय, निर्णय-अनिर्णय और कुल मिलाकर एक आत्मघाती संघर्ष की वेहद सहज और साफ़ तसवीरें इन कविताओं में उभरी हैं। परिवेश को सभी जीते हैं। ऐसे कितने ही कवि हैं जो सारे माहोल में हर जगह, हर विन्दु पर अपने हस्ताक्षर करते हैं। हर जरूरी गैर जरूरी संदर्भ को कविता में घसीटलाना परिवेश के प्रति सतर्क होने का उतना गवाह नहीं जितना कि वह आरोपण और कृत्रिमता के पक्षधर होते जाने का संकेत है। यह स्थिति श्रीकांतजोशी में नहीं है। उनकी कविताओं में जो परिवेश है, जो मानस है वह भारतीय संदर्भो की देन है। एक वाक्य में वह जिन्दगी के संत्रस्त और विघटित मूल्यों का वाहक है। कवि प्रश्नाकुल है और टूटते हुए सम्वन्धों और खण्डित मानस के युग में उसकी यह प्रश्नाकुलता स्वाभाविक है ,जब वह कहता है कि "हम सब तो टूटे हैं, खण्ड-खण्ड विन्दु-विन्दु, प्रश्न कौन तोड़ेगा", तो उसकी साहसिकता सामने आती है, निष्क्रिय व्यक्तित्वों की भीड़

का परिचय मिलता है। यह परिचय सहज शैली में होने से आत्मीय लगता है। मानव-स्थिति और मानव सम्बन्धों की कृत्रिमता का साक्षात्कार कराने वाली ये पंक्तियाँ भी उतनी ही बेपर्द और निश्छल हैं :

अपने ही आपमें मुझे लगता है
कि मैं नहीं हूँ
या जहाँ करोड़ों लोग
अपना ही शव भोग रहे हैं
मैं वहीं हूँ
+ + + +
हम सब बिके हुए लोग हैं
बीसवीं सदी के छोटे कद आदम हम
बाहर से जादा हैं, भीतर से कम !
औपचारिकता ने हमारी आत्मीयता खरीदली है
वेदनाओं की निर्झरिनी में जल नहीं है
महज आवश्यकताओं पर परम्परा जीती है !

मनुष्य की चेतना जिस 'पैरेलाइजेशन' से गुजर रही है उस सबके मूल में हमारे ही कर्म हैं। हम जी तो रहे हैं; पर नहीं भी जी रहे हैं। जीते हुए भी न जीने का संकट हमारे सामने हैं और श्रीकान्त ने इस संकट के मूल को पहिचाना है साथ ही उस समूची पीढ़ी के आत्मघाती संघर्ष की ओर संकेत किया है। कवि ने मितकथनों से काम लिया है, बडबोलापन और वक्तव्यबाजी उसमें नहीं है। वह सारे परिवेश को देखता है, उससे जुड़ता है और अचानक फूट पड़ता है। रचना-प्रक्रिया का यह क्रम ही सर्जक का सही धरातल है।

दूसरे खण्ड में कवि की संवेदना ऋजु और सरल रोमांस से सम्पृक्त है। कवि की सौन्दर्य-चेतना के बिम्ब संश्लिष्ट और संवेद्य हैं। उनमें अन्विति और औचित्य है। 'शरद-भोर' जाड़े का दिन, शाम आज की अस्तोत्सव आदि कविताएँ जितनी अच्छी है 'जाने के बाद', 'एक लम्बी बरसती हुई रात' और 'कितने पाषाणों' कविताएँ उतनी ही अर्थहीन और बेजान है। इनमें कवि एक ऐसे माहौल में पहुँच गया है जिसमें आधुनिक बोध का कोई संस्पर्श नहीं है और तो और शैली भी इन ठंडी कविताओं को कोई आग नहीं दे सकी है। यहाँ ठिठुरन और कम्पन-ज्यादा है। फलतः कविताएँ कविताएँ नहीं रहीं हैं। यों कुल मिलाकर प्रकृतिखण्ड के बिम्ब ताजा और प्रभावक हैं। 'यात्रा

स्मृति, और 'पुरुषार्थ' खण्डों की कविताओं में जिजीविषा है। मानव-अस्तित्व की खोज है, टूटे हुए परिवेश से मुक्ति का प्रयत्न है और रिक्तताओं को किसी जीवनास्था से भरने का संकल्प है : "जिन्दगी का चाहक भीतर देखे या बाहर जिन्दगी दिखेगी", यों रूमानियत यहाँ तक चली आई है और वह कभी दूब के हिसाब के नीचे अपने दस्तखत करता रहा है तो कभी 'भीड़-भाड़ के एकान्त में किसी खत की दिलचस्प हरकत को बरदाश्त करता हुआ चुप है। अपवाद स्वरूप एक दो युद्ध सम्बन्धी कविताएँ भी है, पर उनका प्रभाव ठंडा है। कारण वे स्थिति के निर्जीव बिम्बों में बँधी हुई हैं। उनमें न तो किसी प्रतिक्रिया का स्पंदन है और न जनमानस में हडकम्प मचाने वाली किसी मनस्थिति का प्रतिरूपण ही। वे युद्ध के लिए कविता लिखनी है इसलिए लिखदी गई हैं। असल में यह दोष श्रीकान्त का नहीं उनकी संवेदना या चेतना--का है जो एक खास किस्म के परिवेश को ही देखने और अभिव्यक्ति देने में समर्थ है और वहीं वह सहज और ईमानदार भी है। युद्ध-संदर्भो की कविताओं में वक्तव्यबाजी भी आ गई है और उनमें इतना सरलीकरण है कि वे कोई भी अनुभूति नहीं जगाती हैं। कवि को इससे बचने की जरूरत है। एक अच्छे संग्रह में ऐसे संदर्भ तकलीफ देते हैं कोफ्त पैदा करते हैं। व्यंग्य नही के बराबर हैं, किन्तु एकाध जगह वे अच्छे हैं 'अभोग का कवि : भोग की कविता' के अन्तिम अंश में व्यंग्य अकवितावादियों पर ही है। नपुंसक किन्तु मानसिक रूप से संभोगरत व्यक्तियों पर किया गया यह व्यंग्य पैना है। इस तरह यह संग्रह कुछेक सावधानियों के साथ पढ़ा जाये तो अच्छी 'इमेज' देता है और इसमें कवि की संभावनाओं के द्वार भी मौजूद हैं। श्रीकान्त जोशी को अभी भाषा से भी लड़ना है और वह लड़ाई बोलचाल के स्तर पर होनी चाहिए ताकि वह छायावादी शिल्प से बच सके।

सुरेन्द्र तिवारी और दिनकर सोनवलकर :

सुरेन्द्र तिवारी के संग्रह 'जूझते हुए का नाम कविताओं के आधार पर भी सार्थक होता है। इन कविताओं का परिवेश निजी और छोटा है। इनमें साधारण व्यक्ति की असाधारण विसंगतियों को साधारण भाषा में व्यक्त किया गया हैं। विसंगतियों का सम्बन्ध दफ्तरी जीवन से है। एक पक्ष की ही सही, किन्तु ये सच्ची और ईमानदार अनुभूतियाँ हैं। आज के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन में जो कटुता और भ्रष्टता है उसको एक पक्ष से ये अभिव्यक्ति देती हैं। कविताओं की उल्लेखनीय विशेषता हैं—चुटीला व्यंग्य। इस व्यंग्य का आधार सामाजिक जीवन व पहलू है जो दफ्तरी जीवन

से जुड़ा हुआ है। कोई छद्म, कोई मुखौटा और कोई छिपाव इन कविताओं में नहीं है। 'उन्नति के रास्ते' कविता का व्यंग्य बड़ा पैना है। इसमें आज की भ्रष्ट शासकीय व्यवस्था पर व्यंग्य है "जब मैंने सोचा कि सही काम करके फँस सकता हूँ, जब मैने सोचा कि गलत काम सिफारिश से करा सकता हूँ,''''जब मैंने अपने चारों ओर झूठ का महल खड़ा कर लिया,''''जब मेरी नीयत हर छोटी चीज के लिए डिगने लगी, हजारों बेगुनाहों का गला काटकर, जब मैंने अपने को क्षमा कर लिया, और 'मैंने लोगों को खरीदकर, अपनी तारीफों का पुल बनवाया, और अपने एक पुराने दुश्मन से, उसका उद्घाटन करवाया, तब मेरे विरोध की नदी मेरे पुल के नीचे से बहने लगी, और पुल पर भीड़, मेरी प्रतिष्ठा की कथा कहने लगी, तब मेरे अहंकार ने मुझ से कहा, कि अब तेरी उन्नति होगी,'

इसी तरह 'ग्राम-दर्शन' में कवि जब कहता है कि 'गाँव सिर्फ रेल की खिड़की से देखने की चीज है' तब उसकी बात साफ और सीधी होकर भी मर्म पर असर करती है। 'पश्चाताप' में सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य है। शब्दावली साफ और आत्मीय क्षणों की देन है, व्यंग्य के बीच-बीच में विनोद का पुट भी कभी-कभी आ जाता है, इससे सामाजिक विसगतियों की गंभीरता से कुछ क्षणों के लिए मुक्ति मिल जाती है। आधुनिक समाज और मानव जीवन जिस बिन्दु पर खड़ा है वह कृत्रिम है। इसी से आज जीवन के प्रति आस्था ही निश्शेष हो गई है :

मेरी आस्था, धीरे-धीरे मेरा साथ छोड़ रही है
एक बुढ़िया की तरह, फुटपाथ पर दम तोड़ रही है.

संक्षेप में तिवारी का काव्य संसार बहुत छोटा है। उसमें एक ही सदर्भ है। अतः यदि तीखे व्यग्य न होते तो यह संग्रह सबसे ज्यादा उबाऊ होता। इसकी सपाट कथनभंगिमा प्रभावित करती है। ऐसा ही व्यंग्य काव्य दिनकर सोनवलकर का है। 'अ से असभ्यता' शीर्षक ही व्यग्य बोधक है। सोनवलकर व्यंग्य बोध के अच्छे कवि हैं। इस संग्रह में समसामयिक स्थितियों और सामाजिक समस्याओं पर तीखे कटाक्ष हैं। व्यंग्य कटाक्ष के लिए व्यवहृत शैली बड़ी सीधी, किन्तु सशक्त है। इसमें नेता, मंत्री, समाज-सुधारक वकील, प्रोफेसर, विद्यार्थी, प्रशासक, देश, देश की राजनीति, राष्ट्रीयता, उद्घाटन समापन और निरर्थक व्याख्यानदाताओं के व्याख्यानों पर व्यंग्य काफी मार्मिक है। जिन्दगी में जो बेतरतीबी है उसके लिए कवि मानस का

क्षोभ व्यंग्य का सहारा लेता है। वह सीधे-सपाट ढग से समसामयिक संदर्भ को इस तरह वाणी देता है कि उसका असर काफी गहरा होता है :

'नही हम अभिमन्यु नहीं है
हमने नहीं सुनी, गर्भ में, व्यूह भेदन की लोरियाँ,
आदरणीया ममी, खाती रही
विटामिन की गोलियाँ,
अब पैनसिलीन और एंटीवायोटिक्स,
हमारे खिलौने हैं।

और जब कवि कहता है कि 'तारसप्तक की कसम, सच कहता हूँ : माई लार्ड ! प्रयोग वाद मैंने नहीं चलाया' तो व्यंग्य के साथ हल्का विनोद भाव उभर कर सारी थकान को दूर कर देता है। पूरा संग्रह व्यंग्य वोध की कविताओं से भरा पड़ा है।

'बजरंग विश्नोई' का विस्थितियाँ :

संग्रह समकालीन परिवेश की प्रतिवद्धता का सूचक है। आज समाज और जीवन जिस तेजी से भाग रहा है, उस भाग दौड़ में कवि को हर जगह अपना ही संशय, अपनी ही स्थिति कमजोर, अपना जीवन भी आत्म-निर्वासित, अपरिचित और अजनवी के साथ-साथ उवाने वाला लगता है। विश्नोई ने इन्ही संदर्भो पर अपनी कविताओं की भूमिका तैयार की है। इनमें भ्रष्ट राजनीति, अव्यवस्थित सामाजिक जीवन और कृत्रिम परिवेश के दवाव और तनाव से हुए कठावरोध की स्थितियों से साक्षात्कार किया गया है। इस अवरोध में वह कितना लाचार और सब कुछ सहकर भी चुप है वह अनुभव की चीज है। सग्रह की कविताओं में अजनवीपन और अकेलेपन की भरमार होने से जीवन की सारी निरर्थकता संकेतित हो उठी है। इन संदर्भो के लिए अपनाई गई भाषा संवेदनात्मक स्तर की वह भाषा है जिसमें ताजापन और आक्रामकता बेपर्द शैली के साथ मिलकर और भी संवेद्य वन गई है। 'कैद यात्रा' सम्पति की दूसरी यात्रा, संक्रमण यंत्र सेतु पर, 'उमस के वीच' और विस्थितियाँ, मजाक, चुनौती कविताओं में यह समूची भूमिका अभिव्यक्ति हुई है। कवि का सजग शैल्पिक चेतन प्रारम्भिक कमजोरियों के वावजूद पठनीय है :

लेकिन इस होने के पूर्व न होना नहीं था
और तुम बचते हुए भाग रहे थे
वैसे ही नकाब चढ़ाये
तुम्हें किसी आत्मीय की तलाश थी

लेकिन तुम
सन्निपाती ढव में बके जा रहे थे ऊलजलूल
अपने आप से टकराते हुए शब्द
शायद यह था, तुम्हारे अन्दर के विशाल गुम्बद में
गूँज रहा तुम्हारा अकेलापन
....

तुम हर घर में
अजनबी कदमों से घुसते थे
और घबरा जाते थे, उसके सन्नाटे से/

परिवेश से जूझते हुए कवि जिस संकट और उससे उत्पन्न एब्सर्डिटी को भोग रहा है, उसके कई ताजे बिम्ब सग्रह में मौजूद हैं : 'एक सुबह मैं अपनी हथेली खोलकर, सामने फैंकता हूँ—रोज, और उससे खेलता हुआ शाम तक, जूझने की स्थिति में पहुँच जाता हूँ,'/अधिकांश कविताओं में जूझते हुए और टूटते हुए व्यक्ति के संदर्भ हैं और वे आरोपित नहीं हैं वे परिवेश के प्रति सजग रहने और हर स्थिति को भोगने के बाद उत्पन्न संत्रास के बोधक हैं, मूल्य-भ्रंश, शताब्दी का संक्रमण, छद्माचार और मृत्यु का भयावह दंश कवि को अकेलेपन और अजनबीयत के धरातल पर पटक देता है, किन्तु वह टूटता नहीं है। उसकी जिजीविषा इस सबको सहती हुई हर मौके पर अपनी सार्थक उपस्थिति बताती है। कविताओं का शिल्प इस साझेदारी और उपस्थिति को पूरी सजगता से इंगित करता गया है।

सहयोगी प्रयास :

दिविक, संदर्भ, पंख कटा मेघदूत और छ × दस

'दिविक' सहयोगी प्रयास का एक आयाम प्रस्तुत करता है। इसमें संग्रहीत कविताएँ वर्तमान संत्रास और अविश्वास के गैसीले अंधकार से उत्पन्न मूल्य-बोध की कविताएँ हैं। इनमें अधिकांश रचनाएँ अच्छी हैं। वे समस्त निरर्थक और खोखलेपन के बीच भी सूर्यास्था और जीने की अदम्य लालसा की कविताएँ है। दिल्ली विश्वविद्यालय के युवा कवियों के इस संग्रह में सामाजिक प्रतिबद्धता बड़ी सहज और अनारोपित शैली में उभरी है। स्थापित सम्बन्धों के प्रति विद्रोह, भीड़ में रहकर भी अपने अस्तित्व को पहचनवाने का भाव, मूल्य मूढ़ता से उत्पन्न दाहक पीड़ा, परिवेश व्यापी कृत्रिमता से उत्पन्न खीझ और इसके बाद एक आस्था एक विश्वास का स्वर संग्रह का प्रतिपाद्य है।

हम—, वहाँ तक पहुँचेंगे भी,
इसका विश्वास न मुझे है,
न तुम्हें ही, पर जब भी हम अलग होते हैं,
तो, न जाने क्यों लगने लगता है कि,
हम—, वहाँ तक पहुँच चुके थे,

उनमें नंगी और खतरनाक सड़कों पर चलते रहने के बावजूद भी उनमें प्रतीक्षा और कामना का भाव है, निश्चेष्ट होकर ताकते हुए भी सुबह का इन्तजार है। यह इन्तजार, यह जीवनाकांक्षा और तमाम चीत्कार के बाद जो सकार का स्वर है, वही उन्हें मूल्यों से जुड़ने की भूमिका प्रदान करता है। आखिर नकारों के सहारे कब तक और कैसे जिया सकता है ? :

नंगी सडक पर चलना
है तो खतरनाक—
पर बजरंग लचीली लहरों के सहारे
आखिर कब तक जिया जा सकता है ?

प्रायः सभी कवि समाज की विसंगतियों, समय बोध और संकट के बोध से भीतर ही भीतर जर्जरित-टूटन तो महसूस करते हैं, एक कटाव तो अनुभव करते हैं, पर किसी न किसी स्तर पर इस विशृंखलन से ही कहीं गहरे जुड़ने का भाव भी उनमें है। इसके साथ ही सभी कवि अतीत से अपने को काटते हुए भी एक क्षीण रेखा से अपने को रोमानी संदर्भों से भी जोड़ते हैं, किन्तु इस जुड़ाव में भी वे सचेत हैं और उनका बौद्धिक संवेदन उनके साथ है। अतः कविताओं में व्यक्त संदर्भ आधुनिक बोध के समीपी है। वे आसक्ति में भी निरासक्त, आकर्पणों में भूलते हुए भी उनसे चैतन्य और एकांतबोध में भी सबके साथ है,। बैचेनी और छटपटाहट की सहज अभिव्यक्ति में कलात्मक परिष्कार न होते हुए भी कविताओं में स्पंदन है। वे अनगढ़ शिल्प में ढली होकर भी विश्ससनीय हैं। कवियों की जो भी जमा पूँजी है उसका सही इस्तेमाल करके वे भविष्य में और भी अधिक व्यापक परिवेश और चेतन शिल्प में सामने आयेंगे, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

संदर्भ :

विनय, कृष्णवात्स्यायन, कृष्णदत्त पालीवाल और देवेन्द्र उपाध्याय के स्वरों का संग्रह है चारों कवियों की कविताओं का परिवेश व्यापक तो है किन्तु सभी का निपेधात्मक स्वर अधिक ऊँचा हो गया है। वे सभी को बेमानी मानते हैं और सार्थक केवल अपनी अनुभूतियों को ही मानते हैं। उनके

अनुसार इन अनुभूतियों के दायरे में सभी कुछ समाविष्ट है, कुछ भी अलग नहीं—उपेक्षित नहीं। ये कविताएँ न केवल वर्तमान से सम्बद्ध हैं, बल्कि अतीत और भविष्य भी यहाँ है। ये तीनों मिलकर ही जैसे उनके काव्य को जीवनी देते रहे हैं। मानवीय सम्बन्धों की जो रूपरेखा आज एक बड़े परिवेश को घेरे हुए है, उनका एक सीमित अहसास इन कविताओं में मिलता है, यह अहसास इतना निर्जीव और ठंडा है कि कविता सही भूमिका पर आते आते रह गयी है। भूमिका में संपादक का दावा जो भी रहा हो, कविताओं से वह सिद्ध नहीं होता है। फिर दावे कविता नहीं होते हैं और न कविता की भूमिका ही। यही वजह है कि कविताओं से कुछ विशेष हाथ नहीं लगता है। अधिकांश कविताएँ आरोपित और चीख भर हैं और चीख भी घुटी हुई चीख।

अपवाद के नाम पर विनय की 'अजन्मे भविष्य के लिए एक स्वर', 'मैं जीता हूँ और मेरा देश भूखा व पर्तो का साँप, कविताएँ अच्छी हैं। इनमे कवि संत्रास, जड़ता और अर्थहीन संदर्भो की भीड़ में पिसता हुआ भी जीवन-दृष्टि खोजता प्रतीत होता है। 'मेरा देश भूखा' तो काफ़ी अच्छी रचना है। इसमें कवि व्यंग्य करता है और सारी विसंगति की चर्चा करता हुआ भी जीवन की गति खोजने के लिए व्याकुल है। उसकी पीड़ा यहाँ आरोपित नहीं है, वरन् कवि मानस की निश्छल अभिव्यक्ति है। अन्य कविताओं में आक्रोश है, अतिरिक्त साहसिकता है। यदि कवि इस से बचा होता तो कुछ बात बनती। यों जहाँ कहीं यह साहस सधा हुआ है या संदर्भ के भीतर से उठा हुआ है वहीं कवि प्रभावित करता है। 'मैं जीता हूँ' कविता में कवि इसी स्तर पर है।

देवेन्द्र उपाध्याय की कुछेक कविताएँ उल्लेखनीय हैं : आधुनिक परिवेश में यशोधरा, स्थितियाँ और एक स्थिति। इनमें कवि किसी तलाश के लिए बैचेन दिखाई पड़ता है। उसकी चेतना के पंख रास्ता टोहते दिखाई देते हैं, उड़ने की क्षमता उनमें आ नहीं पायी है। इसके अतिरिक्त युद्ध स्थिति से संबंधित कविताएँ तो तथ्यों का संग्रह मात्र हैं। उनमें रचना का कोई गुण नहीं है। बे बेहद हलकी और ठंडी कविताएँ हैं। कृष्ण वात्स्यायन और पालीवाल की कविताएँ फैशन के नाम पर लिखी जा रही ढेर की ढेर कविताओं में और कचरा मिलाने का कार्य करती हैं। इनमें परिवेश में फैले सदर्भो की भीड़ तो है, किन्तु उनमें कविता कहीं खो गई है। संदर्भो की मात्र भीड़—तथ्यों की यह बटोरन अनुभूति शून्य तो है ही, रचनाओं के लिए घातक भी सिद्ध हुई है। फलतः कविताओं में बेहद ऊल-जलूल बातें हैं, इस प्रकार विनय

और उपाध्याय की थोड़ी सी कविताओं के अलावा कुछ भी प्रभावित करने वाला प्रदेय इसमें नहीं है।

पंख कटा मेघदूत :

इसमें अक्षय जैन, मनोज सोनकर और रविनाथ सिंह की कविताएँ संग्रहीत हैं। ये चारों ही कवि अभी प्रारम्भिक भूमिका पर हैं। अक्षय जैन मनोज सोनकर की कविताओं में फिर भी दम है। रविनाथसिंह की कविताओं का कोई औचित्य ही समझ में नहीं आता है। न तो भाव के स्तर पर ताजगी है और न शिल्प के किसी प्रयोग की भूमिका ही उनमें है। उनकी शैली में वक्तव्यता है और वह भी वेहद कमजोर है। वे यदि कविता से बाहर रहें तो वेहतर होगा—उनके लिए भी और औरों के लिए भी। अक्षय जैन की कविताओं का मूल स्वर रोमांटिक है। यही वजह है कि रागात्मक संदर्भ की कविताओं के अलावा भी जो कविताएँ हैं, वे किसी न किसी रूप में राग-बोध से सम्पृक्त हैं। उनमें सहज अभिव्यक्ति है। प्रेम-और प्रकृति के सम्बन्धों से जुड़ी हुई अधिकांश कविताएँ उनकी रागात्मक चेतना की प्रतीक हैं तो इतर विषयों पर लिखी गई कविताएँ भी चाहे वे वियतनाम से ही सम्वन्धित क्यों न हों, उनकी शैली रोमानी है। मैं यह नहीं कह रहा कि रोमानी भावनाओं से कविता को मुक्त करना हर स्थिति में लाजिमी है, पर यह जरूर कहना चाहता हूँ कि उनमें एक आन्तरिक नियंत्रण तो अपेक्षित होता ही है। अक्षय जैन की कुछेक कविताओं में संयम है, संतुलन है। यदि यही संतुलन अन्यत्र भी होता तो ये रागबोधक कविताएँ काफ़ी अच्छी हो सकती थीं। कुछेक अच्छी पंक्तियाँ ये हैं :

कार्तिक लौट आ, लौट आ कार्तिक

१. जहाँ बुलबुल चहकती है
रह रहकर ढिबरी जलती है, उस घर के छप्पर पर
जहाँ बावन वीघा पोदीना होता है।

२. अभी-अभी आये हो, इतनी भी क्या जल्दी ?
लाल मिरच में रंग आजाये तव, चंदन को गंध,
आँखों को लाज आ जाये तव,
सूर का पद, मीरा का भजन,
कोई दवे स्वरों में गा जाये तव, चले जाना
अभी न जाओ कार्तिक,

उदाहरण और भी है जहाँ रोमानी संदर्भो की आत्मीय अनुभूतियाँ हैं। संग्रह की कविताओं में जो भी थोड़ा परिवेश है, वह 'वियतनाम', यथा स्थिति से विद्रोह, तनाव, डूबते सूरज को एक पंक्ति, अस्वीकृत और 'हास्पिटल की एक रात' कविताओं में हल्के रूप में ही सही पर उभरा जरूर है। मनोज सोनकर की काव्य-चेतना परिवेश से कटी हुई है। उनमें निजी दायरे में घूमते जाने का संदर्भ गहरा है। वे कहीं-कहीं अच्छे बिम्ब भी दे गये हैं। 'वेकेन्सी', आवागमन, फसलें, 'याद' तथा 'सपना' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। शेष कविताएँ मरी हुई हैं। वे या तो चौंकाती हैं या खीझ पैदा करती हैं। इन अच्छी पंक्तियों के रूप में उन्हें याद किया जायेगा :

अखबार के पन्नों में, सिमटी हुई सुबह,
उधेड़बुन में गुजरता हुआ दिन,
हिसाब-किताब में मशगूल रात।............

इसी तरह लाचारी की व्यंजक ये पंक्तियाँ :

तकदीर मुट्ठी में बंद है,
और सामने खड़ी है दीवार।
दीवार तोड़ता हूँ तो, तकदीर नंगी होती है,
और मुट्ठी में बद रखता हूँ,
तो दीवार बड़ी होती है।

"भीड़ से सटा हुआ/पर भीड़ से कटा हुआ/व्यस्त चौराहे पर खड़ा हूँ"/कहने वाले कवि की अनुभूतियों में प्रतिबद्धता तो है, पर उनके प्रति उसकी दृष्टि-योजना पूरी तरह साफ़ नहीं है। हाँ कुछेक बिम्बों में दृष्टि की साफ़गोई मिल जाती है : "नारियल के पेड़ों पर अटकी हुई शाम, ठीक समय पर आती है", कई कविताओं का प्रारम्भ अच्छा है, किन्तु अन्त और मध्य बिखरा हुआ है, 'बरसाती रात' और समय ऐसी ही कविताओं में से हैं। रविनाथसिंह की कविताओं के विषय में जितना कहा गया है काफ़ी है, शेष कहने को कुछ नहीं है। उनमें फैशनपरस्ती हैं, उनकी दृष्टि 'पोज' बद्ध है। वे इतने बातूनी हैं कि कविता एक भी ऐसी नहीं जिसमें अनुभूति की गहराई, परिवेशबद्धता या कोई शिल्प कौशल हो।

छः × दस

जीवन की असगतियों, टूट-फूट, सामाजिक दौर्बल्य व टुकड़ों में बँटी जिन्दगी के थका देने वाले संघर्षो से अलग थलग रोमांस के मधुर क्षणों में स्मृति-चित्र ही इन कविताओं में मिलेंगे। छहों कवयित्रियों का कथ्य

लगभग एक सा है, किन्तु कहने का ढंग अलग-अलग है। अधिकांश कविताओं में विगत प्यार जनित उदासी, निराशा, कचोट, रिक्तता, मानसिक तनाव, खोये हुए को फिर से देखने और पाने की ललक, प्रिय की चट्टानी निष्ठुरता, अनास्था और उससे खण्डहर बना विश्वास लक्ष्मण रेखाओं से उत्पन्न विवशता का भोग, जड़ता और अँधेरापन ही कई तरह से व्यक्त हुआ है। यही इनकी सीमा है और विवशता भी। आज के रबर प्लास्टिक युग में जहाँ हर क्षण गर्दन पर प्रश्न बनाकर लटका दिया हो और गर्दन रबर सी खिंच रही हो, हृदय बाहर से चमकीला होने पर भी अन्दर से शुष्क और खोखला बजने वाला हो वहाँ केवल इतनी निजी अनुभूतियाँ कवि-धर्म निभाने में अक्षम हैं। यों इन अनुभूतियों के 'खरेपन' की दाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता है क्योंकि ये अनुभूत है—बनावटी नहीं कम से कम उनकी तुलना में ज्यादा विश्वसनीय जो 'प्रतिबद्धता' और नग्न याथार्थ के नाम पर सिवाय चौंकाने के कोई अर्थ नहीं साधती है।

'रोमांटिक' मिजाज की जो सीमा होती है वह इनमें है (अभी शक्ति की बात करना ठीक नहीं) यह एक ऐसी सीमा है जहाँ पर कलात्मक अनुभव के बिना ही जीतने की नहीं तो आकर्षित करने की संभावना रहती है। आकर्षण का दूसरा रूप कुछेक कविताओं में पुर्नमिलन की आस्था, हर्ष और आनन्द लेकर भी अवतरित हुआ है। फिर भी कविताओं का वृत्त एक ही है—प्रणय और उससे जुड़ी हुई जरूरी मनःस्थितियों का अंकन। कहीं दर्द को सहलाने का मरहम है तो कही कहीं नासूर बनकर रिस रहा है। यही दर्द कहीं जड़ किये दे रहा है। इसी क्रम में जन्मी-अजनमी अगणित इच्छाओं की मुर्गाबियाँ रात-रात भर पंख फड़फड़ाती हुई चित्रित की गई हैं। यह मन का पागलपन ही तो है कि जो जिन्दगी से 'पाप बोध' व स्मृतिदंश को घुलने-मिटने नहीं देता है। एक बात सच है कि इन कविताओं में जो वृत्त है वह वृत्त पर वृत्त बनाता हुआ भी उलझा नहीं है। क्योंकि सभी ने अपनी अनुभूतियों को आधुनिक संदर्भ देकर पूरी निश्छलता और निर्भीकता से कहा है। यह सहज स्थिति ही भविष्य के लिए आश्वस्त करती हुई संभावनाओं के द्वार खोल सकती है।

इस वृत्त से हटकर जो भी कवितायें लिखी गई हैं। वे या तो बड़े शहरों की नंगी और बेहूदी जिन्दगी पर व्यंग्य करती हैं या फिर तेजी से बढ़ती विलासिता पर चोट करती है। "शराब में डूबे हुये शहर" से यह शुरूआत होती है। दुनिया के मानचित्र में सभ्यता के नाम पर सराहे जाने वाले इन बड़े

शहरों का, जिनकी नालियों में सैकड़ों डालर सड़ जाते हैं तथा जहाँ अन्धेरी शामों की कीमत हजारों में आँकी जाती है, आधुनिकता के नाम पर की गई तमाम हरकतों को सही करार देते हुए अन्तर्विरोधी संघर्षों का जाली दस्तावेज, बुद्धिजीवी वर्ग का शापित अहंकार और बेशर्म जिन्दगी का फैशन नाम धारी विज्ञापन आदि सभी कुछ सांकेतिक शैली में उभरा है। यान्त्रिक सभ्यता की जकड़ से आदमी की हड्डियाँ टूटने लगी हैं और उसका दम घुट रहा है। ये पंक्तियाँ देखिये :

यान्त्रिक सभ्यता की
प्रभुता का मौसम है
घडी और तराजू बीच
तड़प रहा मानव
टूट रहा दम है।

शहरी जिदन्गी के इसी वृत्त में अस्पताल हैं जिसके संदर्भ से पलंग पर पड़ी मौत, उससे जूझती जिन्दगी, नर्स की चाही या अनचाही हरकतें और इन सबके साथ डाक्टर की सहृदयता भी उभरी है। इतने पर भी यह सच है कि यह वृत्त छोटा है और इसमें सभी कवयित्रियों का साझा नहीं है। यह तो लगता है कि ये सभी जिन्दगी को "सपना नहीं सवाल–सही बटे का सवाल" मानती हैं "लेकिन जिन्दगी को एक कठिन सवाल कह देने भर से न तो परिवेश के प्रति सक्रिय चेतना उभरती है और न सामाजिक दायित्व ही पूरा होता है। फिर केवल "रोमांस" को लेकर सभी सवाल हल होने वाले नहीं– विशेषकर इस शताब्दी में। सकलित कवयित्रियों में उषा अर्चना और कृष्णा ने वृत्त को फैलाने की कोशिश भर की है। अभी कम से कम इस संकलन की कवितायें तो एक ही कोंण से ली गई तसवीरें भर हैं। अपवाद स्वरूप लिखी गई "ससंदर्भ" कविता प्रभाव डालती है और आश्वस्त भी करती है। इसमें अनगिनती मुखोटों वाली, बेनाम जिन्दगी जीने वालों (जो इन नकली सदर्भों को असलियत दिखाकर जीते हैं) पर करारी चोट की गई है। विडम्बना तो तब और बढ़ जाती है जब :

ज्वार का उन्मद बहाव
सही गलत सदर्भों की
उधेड़ बुन में
तट पर खड़ी मुझको
बिना हुए ही मुझ पर से
होकर गुजर जाता है

मैं : अपनी उधार ली अनुभूतियों की
किताब में
उसका संदर्भ खोजती रह गई हूँ ।"

(अर्चना सिन्हा)

किन्तु जैसा कहा है वह वृत्त गाहे-बगाहे ही क्षीण रूप में आया है । यदि कवियत्रियों ने अपनी वैयक्तिक सीमाओं के पार खड़ी जिन्दगी को भी देखा होता तो संकलन और स्वस्थ बन सकता था । कविताओं के शिल्प में एक अनिवार्य सादगी है जिनसे कथ्य प्रेषणीय हो जाता है । बहुत ही कम शब्दों व संकेतमयी शैली में अपनी बात कही गई है । आरम्भिक कच्चेपन और भावाकुल तन्मयता ने कहीं-कहीं प्रभाव को "पीठ दिखा दी" है ।

○○

राजस्थान की नयी हिन्दी कविता

ऋतुराज, विजेन्द्र, रणजीत, मणि मधुकर, रामदेव आचार्य, जयसिंह नीरज, वीर सक्सैना, भारत भार्गव, नंद चतुर्वेदी, तारा प्रकाश जोशी व भागीरथ भार्गव आदि की कविताएँ

पिछले दशक में राजस्थान के अंचल से भी कुछ प्रतिभाओं ने अपना आकार गढ़ा है : कुछ ने फैशन और अपने को पहचनवाने के लोभ से और कुछेक ऐसे भी हैं जो हाशिये पर नही लिखते । उन्होंने कविता में आधुनिक बोध को छुआ है । अब यह मानी हुई बात है कि राजस्थान में नयी कविता का एक स्वर बड़ी तेजी से सामने आया है । प्रदेश की कविता में गहराई आने लगी है और कई कवि अपनी जागरूक चेतना से समय और परिवेश को जीते हुए सही कलम का इस्तेमाल कर रहे हैं । इनकी सवेदनाएँ सूखी हुई नहीं, इनका परिवेश आरोपित नहीं और इनका शिल्प अनगढ़ नहीं । ऐसे कवियों में ऋतुराज, विजेन्द्र, रणजीत, हरीश भादानी, मणि मधुकर, रामदेव आचार्य, ताराप्रकाश जोशी, वीर सक्सेना, नंद चतुर्वेदी, जयसिंह नीरज, भागीरथ भार्गव आदि के नाम लिये जा सकते हैं । नाम और भी हैं; किन्तु उनकी सवेदनाएँ या तो अतीत की गुफाओं के किसी कोने में कुछ पाने के लिए सिर पटक रही हैं या फिर उनका परिवेश अंधा और सीमाधर्मी है । कुछेक ऐसे भी है जो फैशन के बतौर कविता लिखते हैं—या किसी समसामयिक घटना प्रसंग या रेड़ियो प्रसारण के लिए लिखते है । इनमें प्रतिभा नहीं, संवेदना नहीं और तो और किसी परिवेश का कोई अहसास नहीं है । अस्तु ऐसे नाम मैंने छोड़ दिये हैं; कुछ इसलिए भी कि उनकी कविताएँ उनके किसी कृतित्व की बोधक नहीं हैं । यों बीच-बीच में आवश्यकतानुसार उनका जिक्र किसी न किसी रूप में आ ही गया है ।

"ऋतुराज" का "मैं आंगिरस" छियालीस कविताओं का संग्रह है। अधिकांश कविताओं का स्वर वेदना के ताप और अवसाद की छाया से बोझिल है; किन्तु यह जिन्दगी का बोझ है, उधार लिया हुआ नहीं। इसमें कवि की संवेदना पूरी तरह आर्द्र है, उसमें ताजगी है क्योंकि कविताओं की पृष्ठभूमि में छिपा निजी परिवेश वजनी होकर भी समकालीन परिवेश से प्रतिवद्ध है। उसका अवसाद चलताऊ नहीं है। उसकी जड़ें काफी गहरी हैं क्योंकि उसके अंगों में समस्त सृष्टि के अवयवों का प्रयोजन निहित है"। "फ्लैप" पर छपी कविता पंक्तियों में कवि की वेदना का धरातल सार्वजनीन है। यों संग्रह में भी उसने लिखा है:–

हम अपने दुखों का नहीं/औरों के दुखों का विश्लेषण करें/

क्योंकि वे ही तो हमारे/दुखों के कारण हैं/

"सब दुखी हैं/सब दर्द से कराहते हैं/सब मजबूर हैं/विवश हैं/और इसी विवशता में कुछ न कुछ कर रहे हैं/पंकियों में भी यही बात है;। दर्द की व्यापकता और उसे सभी में बिखरा हुआ देखना परिवेशजीवी दृष्टि का प्रतीक है। यही नयी कविता का प्रारम्भिक संकट भी है। अब कविता काफी कदम चल चुकी है। उसमें यान्त्रित संदर्भों से उत्पन्न दर्द का पश्चाताप अब नहीं है। किन्तु "विवशता में सभी कुछ न कुछ कर रहे हैं। कवि की चेतना में समाया दर्द जिन्दगी की लाचारियों से प्रेरित है। पश्चाताप उसे भी नहीं है, उसे संतोष है जीने का और इस बात का कि शायद ये लाचारियाँ ही हमें कहीं किसी सूर्यास्था से जोड़ दें। तभी तो थके जीवन के असीम दबावों को मुट्ठी में बन्द करने वाला कवि एक झटके में ही इन सबसे मुक्त हो जाना चाहता है। "मुक्ति" की यह खोज दबावों के जी लेने के बाद की सहज माँग है। संग्रह की कविताओं में कहीं-कहीं विद्रोह और आक्रोश भी है, जिसकी जिम्मेदारी वह परिवेश को सौंपता हे। अपने परिवेश में प्रतिबद्ध कवि अबूभी चिन्ताओं और अतृप्त सम्बन्धों की गठरी भी सिर पर लादे हुए है और उक्त आक्रोश कभी–कभी उसकी निजी अतृप्तियों से भी जुड़ता है। 'कुँआरेपन की नाप' और 'समाधि लेख' से यह स्पष्ट है। कवि भी संवेदनाओं का बिन्दु एक ही है, किन्तु वही जरा से दृष्टि–स्पर्श से चारों ओर फैलती रेखाएँ बन गया है। बिन्दु से रेखाओं में हुआ यह परिवर्तन अनेक कविताओं से झाँक-झाँक जाता है: 'दाय,' 'नचिकेता,' 'महानगर,' 'निर्वेग' निस्वेद, 'संदर्भ,' 'युद्ध' 'प्रतिश्रुतपीढ़ो,' असम्बद्धताएँ और 'मैं आंगिरस" कविताएँ इसका सबूत है।

विवशताओं से जन्मे आक्रोश मिश्रित व्यंग्य की मुद्रा कई जगह प्रभावित भी करती है क्योंकि ऐसे प्रभावक संदर्भों में कवि संवेदना के स्तर पर काफी दूर तक चला गया है, अभिव्यक्ति भले ही ठण्डी हो :

यदि धनुष युग होता तो मेरे दो तीर एक साथ
इतिहास और भविष्य को बेध देते
किन्तु अब गोलियाँ बम, मिसाइल्स और रड़ार
हमें पीटकर फिर शांत हो जायेंगे
+ + + +
एक पिटी हुई पीढ़ी का रुदन उठता है
हम क्या करेंगे ? हम कैसे इन्हें रोकेंगे ?
हमने एक दूसरे को कभी नहीं पीटा
तो अब हम उन्हें कैसे पीट सकेंगे ?

संग्रह में कुछ अच्छी कविताओं के बीच में ऐसे वक्तव्य और फिकरे भी हैं जो कवि-कर्म को कलुषित करते हैं। सपाट कथनों की आड़ में ऐसे हल्के बल्कि छिछले वक्तव्य भी हैं जो झटका देते हैं/और सारी गम्भीरता "कुछ सीरियसली पढ़ने का मूड़ हो तो मेट्रीमोनियल पढ़ो/पेशाब करो जाओ" या "ऐसे को भला कोई प्रेम कर सकता था/, ऐसे का भला कहीं विवाह हो सकता था"/जैसे वक्तव्यों में डूब जाती है। ऋतुराज एक सम्भावनाशील कवि हैं। उनकी कविताओं में ऊष्मा है, संवेदनाओं में गांभीर्य है और परिवेश के प्रति सजग दृष्टि है। अतः उन्हें वक्तव्यता से बचना चाहिए। ऋतुराज के पास एक दृष्टि है : जीवन को नापने वाली दृष्टि। अतः अधिकांश कविताओं में जिन्दगी के दबाव-तनाव और एकान्त पीड़ा-बोध के बिम्ब बड़े सुथरे और स्पष्ट हैं। ऋतुराज जो जिन्दगी जीता है, वह बहुतों की जिन्दगी का एक हिस्सा है। वह झूँठन नहीं वरन् सच्चाई का एक संदर्भ है, भले ही वह 'संकुल कोणों' के भीतर रचे जाते अकेलेपन का बोध ही हो; है वास्तविक। वह 'ऋतुराज' जो 'अपने दुख से नहीं रोया/जब कभी भी पाशविक शक्ति का उपयोग हुआ/मैंने अपने बाल नोंच लिये थे'/ का अहसास देने वाला कवि यदि इस कथन को कविताओं में और व्यापक परिवेश देता तो कविताओं की सच्चाई और उसकी जीवनानुभूति दुगुनी हो जाती। खैर सम्भावनाओं के रूद्ध द्वारों को खोलने की क्षमता उसके शिल्प में भी है। भाषा में लयात्मक संयोजन है। वह सधी हुई, बिम्बों से बँधी हुई और प्रतीकों की अपेक्षा अप्रस्तुतों से अधिक जुड़ी हुई है। कहीं-कहीं उसके रोमांटिक शब्दों के बिम्ब बड़े सश्लिष्ट और सवेद्य है।

१. शाम का रोगी चेहरा
गम्भीर एकान्त 'लुढ़का हुआ
हसती हुई नर्स—चाँदनी उढ़ा जाती है ।
२. हमारे हृदय की सील टूटती है
जब रात की रानी महकती है
३. रात की मच्छरदानी-सी
कहीं लटकी हुई कहीं उखड़ी हुई
अप्रैल की खपरेल से/टोह लेती किसानों की टोली
मुस्कराती कभी । गम्भीर होती
४. दो पहियों का दर्द कोई नहीं समझता है ।
इतने गतिमानों में थका हुआ दर्द रेंगता है ।
सड़कों पर ।

'ऋतुराज' के साथ ही 'विजेन्द्र' की अनुभूतियों में भी 'त्रास' है । वे भी परिवेश से जुड़े हुए हैं । उनकी चेतना के विम्ब भी एक छोरपर 'रोमांटिक' हैं, तो दूसरे छोर पर वे उससे अलग हो कर चेहरों की भीड़ में एक नया चेहरा खोजने को व्याकुल हैं । वे अँधेरे में भटकते प्रेत की अंधी कोठरियों में 'नया दिनमान' रच रहे हैं । यह रचाव 'संक्रमण' की पृष्ठभूमि से उचक कर वाहर आने को है । 'त्रास' के कवि की अनुभूतियों में सर्वहारा मनुष्य के वर्तमान संघर्ष और उससे निष्पन्न एक जिजीविषा है—मनुष्य को सही आकार देने की माँग है । आज के युवा लेखन की भड़कीली और हड़बड़ी भरी चेतना उनमें नहीं है । वे पूरे संतुलन से कवि कर्म को निभाते हैं और जो महसूस करते हैं उसे युगीन यथार्थ के परिवेश में रखकर अभिव्यक्त करते हैं । उनकी कविताओं में कच्चा माल नहीं है, पक्वान्न है । यही वजह है कि त्रास की कविताएँ दिशाहीनता और बिखराव की गिरफ्त से बची हुई है । 'त्रास' की कविताओं में जिन्दगी के कई पहलू भी हैं और उन्हीं के आस-पास उस चेतन आकृति का अन्वेषण भी है जो इस धुएँ के वाहर उगते दिनमान की आस्था का प्रतीक है । संग्रह की कविताओं में 'पिघलता सा धुआँ, फसलों पर दहकता है, फूलों की तलाश में, वोध, सूखा पेड़, फर्श के खुरदरे छोर पर, एक विषैली कंदरा से गुजरने के वाद, एक व्याहत शुभ्र कपोत तड़प रहा है, उसी खतरनाक विन्दु के आस-पास, जो चीस उन्हें चैन नहीं लेने देती, मेरे पद आकाश के भीतर और धूप आदि अच्छी वन पड़ी है । इनमें जिन्दगी को विविध कोणों से देखा गया है और उसके भीतर ही भीतर जमा होती कच्ची

मिट्टी के बेड़ौल ढेर को सहते हुए कवि ने अनुभूतियों को उकेरा है। बीच में आये तनाव, ऊब और पीड़ा के संकट-क्षरा कवि की जीवनानुभूति से सम्बद्ध होकर कविताओं को जीवन्तता प्रदान करते हैं। 'फूलों की तलाश' में यही जीवनास्था है और उसी की खोज इस कविता से व्यक्त होती है।

आखिर यह बिखराव का बिखराव
आकाश और सागर
और यह नन्हें बाजुओं की तीखी तड़फ
डरते हुए सशंकित बच्चे
घुस गये हैं ओस अँधेरे में खोजने खोया हुआ एहसास

'अबाबीलों के झुण्ड' कविता भी त्रास से मुक्ति की कविता है। वहाँ कवितान्त तक पहुँचते-पहुँचते उसकी 'बिगड़ी हुई बदिश को देखकर विश्वास बढ़ रहा है' या 'अबाबीलों के झुण्ड चीत्कार करते हुए बाहर निकल रहे हैं और उस अनिश्चित वर्षा की फिर एक साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं। जो सबको एक साथ भिगोयेगी यह प्रतीक्षा-कुलता ही आस्था की भूमि है।

इस प्रकार विजेन्द्र की काव्य चेतना में अवसाद, दाह और त्रास भी है और उनसे उबरने का संकल्प भी है। रोमानी संदर्भों की छाया उस जगह दिखाई देती है जहाँ कवि गाँव, प्रकृति या किसी स्मृति में लौटता दिखाई देता है। परिवेश में कई त्रासक कदम चलने के बाद उसका इस तरह लौटना पारिस्थिति की अनिवार्यता को रेखांकित करता है। अतः यह रोमानी संदर्भ सताता नहीं, क्षुब्ध नहीं करता, अपितु उस त्रास को ही प्रमाणित करता है जो कमोवेश रूप में संग्रह की आधी कविताओं में व्याप्त है :

स्मृति की शताब्दियों का बोझ

१. एक जल की ओर
मुझे लगातार उलीच रहा है
जहाँ सतह पर फिलहाल हिलौरें उठ रही हैं।

२. यह मुकुट मेरा/कितना सार्थक दूसरों का भी
बहता जलाशय है
कभी उठ बैठता इसमें
एकांत वृत्ताकार
कभी भयभीत संज्ञाहीन बिखरी आकृतियों के
जीवित चित्र

३. अपने हस्ताक्षर के आखिरी अक्षर की बन्दिश
मैं आज भूल रहा हूँ
जबकि मुझे हूबहू अपने हस्ताक्षर की लिपि/यहाँ दे देनी है/
और जब तक आखिरी अक्षर की बंदिश/ठीक नहीं होगी।
आगे की भीड़ ज्यों की त्यों बोझा लिए/नसों के तनावों को सहती रहेगी।

ये कुछ नमूने हैं जिनमें कवि निजी पीड़ा—बोध से संसिक्त हो कर भी परिवेश की बात कह रहा है। उसका पीड़ा-बोध उथला नहीं हैं, उसमें कितने ही दूसरों का दर्द है। इस दर्द का औचित्य है और इससे उत्पन्न तनाव की भूमिका भी अनिवार्य स्थितियों से सम्बद्ध होने के कारण कवि के आधुनिक सकंट बोध को स्पष्ट करती है। वर्तमान जिन्दगी में चारों ओर अनिश्चतता और अर्धमृतावस्था की जो स्थिति दिनों दिन बढ़ती जा रही है, उसे कवि ने गहराई से देखा है। वह उस आग को महसूस करता है जो मानव-नियति को जलाकर खाक करती जा रही है। प्रखर लपटों के बीच का संदर्भ यही है। एक ओर तो हमारी निष्क्रियता है और दूसरी ओर प्रखर लपटों के बीच में पड़े हम तुषारापन्न खेत की भाँति अर्द्धमूर्छित है। कैसी भयावह और कँपा देने वाली स्थिति मनुष्य की हो गई है। "अनिश्चित कल्प का भयावह/और कुत्सित मनोयोग/हमारी ऋतम्भरा को पिघलाकर/उसे वायवीय बना रहा है"/कैसी विडम्बना है कि आज आदमी में आदमी की तलाश की जा रही है जैसे मासूम बच्चे धूप में ही धूप को खोजते हैं/कहना यही है कि विजेन्द्र ने परिवेश को सही रूप में पकड़ा है और रोजमर्रा की जिन्दगी के गहरे अक्स कविताओं को सौंप दिये हैं। विजेन्द्र की चेतना कभी स्मृति के गैर तरतीब प्रसार में तरतीब ढूँढती है तो कभी मानवात्मा के अस्थि-पंजर में जमा होते जाते त्रास को भोगती हुई कितने ही दिशासूचक प्रतिमानों की तलाश करती है। यही वजह है कि उनकी तलाश किसी गहरे अर्थ को प्रतिध्वनित करती है। उसमें भड़कीले और चकाचौंध करने वाले सतही संदर्भ नहीं हैं। जो है वह एक शील और शालीन स्थितियों के आस-पास मँडराता परिदृश्य है।

विजेन्द्र की भाषा से शिकायत है। उनकी भाषा में जो शब्द हैं वे वर्तमान परिवेश की विसंगतियों को अभिव्यक्त करने में उतने सक्षम नहीं हैं जितने ऋतुराज के। असल में 'विजेन्द्र' सारे अन्तर्विरोधों को जीते हुए भी एक गरिमा बोध से जुड़े हुए हैं, उनका लक्ष्य मानव-स्थिति का साक्षात्कार

होकर भी एक शालीन संदर्भ से जुड़ा हुआ है। यही वजह है कि कविताएँ कथ्य के धरातल पर जितनी दाहक हैं, उनमें जितनी गर्मी है और तपिश है, भाषा के धरातल पर वे उतनी ही सर्द और ठंडी हैं। 'संक्रमण' जो संग्रह की बड़ी कविता है वह सारे सही संदर्भों से सम्बद्ध होकर भी 'पर्वतारोहक', 'प्रत्यूप', 'वृक्षोद्गम', 'अभिचिह्लिता' 'वाहनाकुल', 'शापित गह्वरो', 'अग्नि-जात्मा', 'चन्द्रहासी त्रास', 'त्रिमूर्धा' पर खिचे 'तिर्यक् चाप' और 'प्रद्योत' जैसे शब्दों से बोझिल हो गई है। आज के परिवेश की सच्चाई जिस शब्दा-वली की माँग करती है; वह सरल, सहज और बोलचाल का रूप है। मैं यह कहना नहीं चाहता कि भाषा को इतना गिरा दिया जाय कि वह मरियल हो जाय, पर आधुनिक बोध के लिए यह भाषा भी उपयुक्त नहीं है। 'फिर सूखेपेड़' और शाम "आदि कुछ कविताओं की भाषा बिल्कुल दूसरी है। इनमें सहज प्रेषणीयता है और इसी से वह बिम्बोद्भावक है :" पुराना सूखा पेड़/ताल के जल में/झाँकता है मौन/व्यग्र लहरों में/सूखा पेड़ रह रह काँपता है क्यों ?" सामान्यतः विजेन्द्र की भाषा बिम्ब नही उकेरती है, वह अप्रस्तुतों और प्रतीकों में ही अटक कर रह जाती है। कारण स्पष्ट है। उनकी भारी भरकम शब्दावली में संश्लिष्टि का अभाव बिम्बों की अनुपस्थिति का कारण है। कहीं-कहीं तो सीधी सपाट भाषा के बीच में आये बेडौल और भारी भरकम शब्द प्रेषणीयता के मार्ग में दीवार बन गये है। सक्रमण, पिघलता सा धुँआ और फसली पर दहकता आदि कई कविताओं की बेमेल शब्दावली इसका सबूत है। एक उदाहरण काफी होगा :

तुम्हारी ध्वंसशेष धुँधली पत्तियों पर
फिर से उतरते श्वेत पक्षी मिथुन
अब मेरी सुषुप्सा भंग करने लगे हैं
अव्याहत वक्ष पर
खिची वक्रताएँ
आज में ही
पुनर्जीवित करूँगा
तुम्हारी पराछाइयाँ ही
इस तरह तुमको मृषा छलेगी
और वह त्रास तुमको ढोना पड़ेगा
किसी टूटते नक्षत्र मे
तुमने कलश ग्रीवाओं पर खुदवा दिये थे
सुनहरे नाम उनके

इसी तरह—

एक अतृप्त विवक्षा/अपनी धमनियों में समेटे।
जब मैं खाली मैदान से गुजरा।
वह एक **अनादिम भराव** था।

मोटे टाइप में छपे शब्दों के आस-पास के शब्दों पर ध्यान दिया जाय तो मेरे कथन की स्पष्टता का आभास हो सकता है। कभी गाहे बगाहे विजेन्द्र ने जब भी सरल और और अनुभूति संपन्न भाषा को प्रयोगा है, तब वह अच्छे बिम्ब दे गई है :

पास के छप्परों पर धूप
चटाई की बनावट से
एक कासनी शून्य भर रही थी

एक बात अवश्य है कि 'विजेन्द्र' का कवि रंग-बोध का अच्छा अहसास करता है। कभी-कभी उनकी रंग योजना गिरिजाकुमार माथुर की याद दिलाती है। 'विपाद उड़ान' इस संदर्भ में उल्लेखनीय कविता है। इसमें प्रयुक्त शब्दावली अच्छे रंग संवेद्य बिम्बों से युक्त है।

'रणजीत'

रणजीत के काव्य की भाषा बिल्कुल दूसरे स्तर की है। उसमें घिराव नही, व्यर्थ का बोझ नही और कोई प्रभामण्डल नहीं है। वह साफ, सहज और प्रगतिशील अनुभूति के क्षणों की उपज है। यही कारण है कि उसमें प्रवाह विजेन्द्र की भाषा से कई गुना अधिक है। पढ़ते समय उसके शब्द दीवार नहीं बनते। वे पारदर्शी हैं। उसके आर-पार भावों को देखा जा सकता है। फिर रणजीत का कवि अपनी अनुभूतियों के लिए कहीं से भी, ज्यादातर अपने आस-पास से, शब्दों को उठा लेता है। ये शब्द किसी प्रभा या चाँदनी के मुहताज नहीं हैं। उनमें खुद इतनी खूबी है कि वे उसी से झिलमिलाते हैं और कविताओं की पंक्तियों में बैठकर पूरे धीरज से अनुभूति के द्वारा पकड़ लिये जाते हैं। रणजीत की काव्य यात्रा के परिचायक दो संग्रह हैं : ये सपने ये प्रेत' और 'इतिहास का दर्द'। 'ये सपने ये प्रेत' को ही लें तो इसकी भाषा में प्रवाह है : भले ही इसका कारण उनकी प्रगत्युन्मुखी चेतना और गीतात्माकता रही हो। असल में इनकी भाषा में एक लहजा है और उसी की अभिव्यक्ति के लिए यह भाषा कवि के निकट अनिवार्य हो गई है। मै यह नहीं कहता कि भाषा पूरी तरह कलात्मक है। कलात्मक होने के लिए कवि को संयोजन और सतुलन से काम लेना होगा। विजेन्द्र की भाषा के साथ

रखकर मैं इन दोनों की तुलना भी हर पहलू से नहीं कर रहा। बात केवल सहज और आभिजात्य शब्दावली के प्रयोग से ही सम्बद्ध है। पूरी तुलना का आधार तो इसलिए भी नहीं कि दोनों कवियों की चेतना में नाक और कान का अन्तर है।

'ये सपने ये प्रेत' और 'इतिहास का दर्द' दोनों संग्रहों में आधी कविताएँ एक ही हैं। कवि ने इसका कारण भी बताया है। अतः विवेचन भी एक साथ। बहरहाल यह साफ है कि रणजीत प्रगतिशील कवि है और उसकी प्रगतिशीलता का आधार शोषण और अत्याचारों से सम्बद्ध है। असल में उनकी कविता पूंजीवादी और राजनैतिक सत्ता के अधिष्ठाताओं के विरोध से उपजी कविता है। रणजीत की अधिकाश कविताओं में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति घृणा, खीझ और विद्रोह का स्वर है। यह स्वर आस्था विरहित नहीं है। इसमें मानव चेतना में समाते जाते घुप्प अँधेरे को फाड़कर सूर्यास्था से आलोकित प्रकाश किरण है। इसलिए यह किरण जिस किसी भी जीवन-संदर्भ पर पड़ती है वही अलोकित हो उठता है, परन्तु इस आलोक के लिए प्रयुक्त शैली एक रस है। इसी से विरोध और प्रतिक्रिया से वह समाजवाद की बात करते हैं। राजनीति पर पूरे जोश से लिखते हैं और अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त करते हैं। 'ये सपने ये प्रेत' की कविताओं के पहले खण्ड में जूझती प्रतिभाएँ वर्तमान से जूझती हुई भविष्यधर्मी दृष्टि की कविताएँ हैं। रोमानी गीतात्मक चेतना का कवि होने के नाते उनकी दृष्टि स्वप्नों पर है। वे किसी भी कीमत पर अपने सपनों को छिन्न-भिन्न होते नहीं देख सकते। इस खण्ड में जो कविताएँ हैं वे मानव समाज की विषमता और व्यवस्था हीनता से संघर्ष की कवितायें हैं। कवि अनगढ शिलाखण्ड के भीतर/ मूर्तिमान होने को जूझ रही जो प्रतिमा/सब पाषाणी बंध काटकर/उसको बाहर लाना होगा"/कहता हुआ मानव प्रतिमा की खोज का कवि है। वह मेहनतकशों पर निछावर है और उसकी कविताएँ इसी अभिशप्त वर्ग के लिए है। वह कलम की रेती बनाकर इन्हीं के भाग्य की पत्थर लकीरें घिसता है। साम्यवाद का सहारा लेकर मानवता का अलख जगाने वाले रणजीत जहाँ तक मानवात्मा की प्रतिष्ठा की बात करते हैं वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु इस एक ही बात के एक ही संदर्भ को कविताओं मे पचास बार करने से क्या मानवता की प्रतिष्ठा का सपना, सपनों के विश्वासी कवि के सामने खुद बखुद चला आयेगा? फिर इस कथ्य या तथ्य ही के लिये प्रचारवादी शैली और वक्तव्यों से भरी ये कविताएँ आखिर कवि को कहाँ खड़ा करती हैं। कवि

रूप मे तो शायद कही नही । ढेर के ढेर अकाव्यात्मक वक्तव्यो और अनाप-शनाप घटनाओ और सदर्भो की भीड़ मे कविता का चेहरा छिप गया है। भाषा के एक खास लहजे के बावजूद भी उसकी आकृति नही उभरती है। हर पाँच-सात पक्तियो के बाद एक दो फतवा, एक दो सिद्धान्त वाक्य या कोई प्रचारात्मक कडी संग्रह की अनेक कविताओ मे मौजूद है

'मर गया ईश्वर' कहने वाले रणजीत का स्वर साफ है : तेज है और उसमे एक साहस है/अपनी बात कहने के लिए साहस का यह अतिरेक धर्म को अफीम के नशे की तरह मानने वाले धर्मावलवियो और भक्तो के गाल पर पडा चटापट चाँटा है। पर यहाँ भी उनका कवि कम; विश्लेषक अधिक सजग है। कविता विश्लेषण नही सश्लेषण होती है। "पीले प्रेतो की बस्ती मे रहते-रहते प्रेत होने' के भय से डरा हुआ कवि कविता की शुरूआत अच्छी करता है, किन्तु अगली हर पक्ति उसकी शुरूआत की साहसिकता और बेपर्दगी को वक्तव्यो मे बदल देती है। इन वक्तव्यो से और कुछ हो या न हो यह जरूर सिद्ध होता है कि कवि सत्य-कथन करता है। ये सूत्र वाक्य जिन्दगी मे किशोरो के याद करने के लिये अच्छे है। वैसे ठीक भी है जुल्मों के असह्य हो जाने पर कलम उठाने वाला कवि और क्या लिखे ? सूत्रवाक्य, वक्तव्य और आकर्षक निर्णय ही दे सकता है। इससे ज्यादा अपेक्षा बेकार है—कम से कम इस सग्रह की कविताओ के आधार पर। "सपन न छीनो/गगन न छीनो/लगन न छीनो"/और "साँसो की सपनो के साथ सगाई"/कहने वाला कवि अपने अकेले क्षणो मे ये वाक्य और वक्तव्य ही गढता रहा है। तमाम बातों के बावजूद वह यथार्थ की जमीन पर खडा नही हो सकता है। वह अधिकाश कविताओ मे स्वप्नो व आकाक्षाओ को ही सँजोता रहा है, सच्चाई का सन्दर्भ अभी उसके हाथ नही लगा है। पूरी कोई भी कविता सच्चाई की कविता की नहीं है। बीच-बीच मे ऐसी पक्तियाँ भर है जो शायद इसलिए कि उसे याद आ जाती कि मै मानवता का चितेरा सच्चाई के बिना कैसे चल सकता हूँ।

लेकिन मै

१. उफ ! मेरे भीतर यह कौनसी अभिशप्त आग जल
रही है।

२ एक भटकते आदम के अभिशप्त पुत्र को
कुछ क्षण की राहत मिलपाए
बहुत दिनो के प्यासे तनको
मानव तनका
साथा, नरम, परम मिल जाए

३. मर गया ईश्वर कि उसके त्रा न सारे मर गये ।
आदमी ने जब तलक पूजा अँधेरे में उसे जिन्दा रहा
रोशनी के सामने ज्यों ही पुकारा, मर गया ।

४. अब मैं भटक रहा हूँ—
अपने आत्मा हीन अस्तित्वों के कंधों पर
अपने असफल विद्रोह की लाश रक्खे हुए

अतः सच्चाई की द्योतक, सही बोध को जगाने वाली पंक्तियाँ कविताताओं के बीच में शिल्प की दृष्टि से टाट में रेशम और भाषा की दृष्टि से पानी में आग है। काश ! ऐसे ईमानदार व्यक्तित्व वाले कवि के पास आग होती, सच्ची तपिश होती तो वह सही अर्थों में कवि होता और उसे यह कहने की जरूरत महसूस नहीं होती : "कविता को मैं सोच सोच कर बहाता हूँ। कविता मेरे सामने एक सजग सामाजिक कर्त्तव्य है।" कविता सजग हो तो ठीक : किन्तु वह कर्त्तव्य भी हो तो बेठीक क्योंकि कर्त्तव्य में आपद्धर्मत्व का हल्का सा भाव भी है, एक लाचारी की गूँज भी है।

कविता उसके लिए विवशता है। यह तो उनकी कविताओं से भी जाहिर होता है : "जुल्म जब सहे नहीं जाते तब कलम उठाता हूँ।" खैर इस विवशता में भी वह जो लिखता है वह विखण्डन और विखराव के प्रति विद्रोह है। वह मानवता का सम्यक योग चाहता है। ईश्वर का दाह संस्कार करने वाला वैमनस्य को भी समाप्त करने की बात कहता है। इस दृष्टि से उसकी विचारणा अच्छी है, किन्तु उससे बनी कविता की उम्र राजनीतिक प्रचार में छोटी हो गई है। सामाजिक दायित्व को पूरा करने के लिए उम्र का बड़ा होना जरूरी भी है। 'इतिहास का दर्द' भी प्रचार का दर्द है। शायद प्रचार, विज्ञापन, वक्तव्य और आकृति उसकी ऐसी फुंसियाँ है जो दोनों संग्रहों में इकट्ठी होकर फोड़ा बन गई हैं—'अदीठ'। अब आपरेशन ही उसका इलाज है।

कुछ अच्छी कविताओं में हारे हुए सिपाही का वक्तव्य, 'फाउस्ट के कन्फेशन', 'इतिहास का दर्द', इतिहास का न्याय, एक विराट पवित्रता और संवेदनाओं के क्षितिज का नाम लिया जा सकता है। इन कविताओं में कवि का संघर्ष, द्वन्द्व और तनाव रचनात्मक स्तर पर व्यक्त हुआ है। उसका प्रचारक मद्धम है और भीतर का कवि सजग है। इसी से इनमें मानवीय भविष्य और आस्था के प्रति एक कलाकार का दृश्य है :

सचकी दुश्मनी सिर्फ झूठ से होती है,
पर यहाँ तो प्यार के खिलाफ प्यार खड़ा है।
काश ! यह दुनियाँ कुछ उलझन भरी होती
सच की दुश्मनी सिर्फ झूठ से ही होती

अधिकांश कविताओं की सृजन भूमि एक ही है। रणजीत वैसे एक साथ दो स्थितियों को जीते है : कलाकार के सर्जन क्षणों को और सामाजिक कर्त्तव्य को। ये दोनों एकमेक नही हो सकते। यदि होते हैं तो सामाजिक कर्त्तव्य का पलड़ा ही हल्का होने की सम्भावना है। प्रेम मूलक रचनाओं में प्रेम के सन्दर्भ में एक झिझक और एक संकोच है। शायद प्रगतिशीलता में प्रेम संकोच पैदा कर देता है। 'संवेदनाओं के क्षितिज' में निजत्व से परत्व की भूमिका है और व्यक्ति और दुनियाँ दोनों में द्वन्द्व दिखाया गया है। 'एक विराट पवित्रता' प्रभावित करने वाली रचना है। इसमें स्त्री-पुरुषों के बीच की त्रासक स्थितियों से उत्पन्न शून्यता; शरीर सुख से जुड़ी विद्युत-कौंध और नीली गहराइयों में डूबने के बाद की रिक्तता और औपचारिकता को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है :

उस विराट पवित्रता से मुझे छुए रहो।
क्योंकि कुछ ही क्षण बाद
तुम्हारे चेहरे पर उभरती मुस्कान में मुझे बनावट नजर आयेगी
और मेरे लहजे से निकलती अभिमान की गन्ध
तुम्हें असह्य लगने लगेगी............

व्यंग्य कविताओं में व्यग्य समाट है, पर तीखा नहीं। उसमें सीधी मार मारने वाला व्यंग्य है वह अनजाने ही गहरे चुमने वाला नहीं है। एक दो कविताएँ अच्छी हैं। 'आस-पास के लोग' और 'नये आयाम' अच्छी रचनाएँ हैं। 'प्रतिश्रुति का गीत', 'इसका मैं क्या करूँ' कविताओं में व्यक्त चेतना अन्य कविताओं से बदली हुई है। यहाँ कवि का अहसास गहरा और कविता जीवन्त है। बनावट इसमें नहीं है। बिम्बों की दृष्टि से 'पृष्ठभूमि' कविता महत्वपूर्ण है। इसमें आये बिम्ब रोमानी भावबोध की भूमिका पर पूरी संश्लिष्टता से उतारे गये हैं। कुल मिलाकर रणजीत अपने अब तक के सृजन से प्रचारात्मक काव्य के रचयिता के रूप में ही सामने आते हैं। यह ठीक है कि वे एक सही आवाज दे रहे है, किन्तु वह आवाज एक आवाज न रहकर पूरी 'स्पीच' हो गई है और वह भी शुरू से अन्त तक एक जैसी। वह अच्छी

सामग्री तो देती है; किन्तु काव्यात्मक कम है। जहाँ कविता उभरी है (करीब एक चौथाई कविताओं में) वहाँ यह नहीं है। इससे सिद्ध है कि उनका कला-कर्म और सामाजिक कर्म को मिलाने का प्रयत्न कविताओं से तो सफल नहीं हो सका। फलतः इस दुविधाबोध में कविता हल्की हो गई और दायित्व अधूरा रह गया।

हरीश भादानी :

मूलतः गीतकार हैं और उनकी चेतना में जो पिण्ड सुलग रहे हैं वे समाज व्यवस्था की वर्तमान स्थिति को लेकर हैं। उनमें व्यवस्था-हीनता के लिए जो स्वर है वह रोमानी चेतना के सपनों की भाषा में व्यक्त हुआ है। यद्यपि वह "रातों में बाजार लगाती यादों को जहर पिला देने को उत्सुक है", परन्तु फिर भी सपनों से चिपका हुआ है। "सौगंध दिलाता हूँ सपनों को/मैं अपनी घरवाली/सती धूप की/वे केवल मेरे ही होकर जीना सीखें" कहने वाला भादानी आधुनिक बोध से कोसों दूर है। उनके दोनों संग्रह एक उजली नजर की 'सुई' और 'सुलगते' पिण्ड एक ही बात को दो अलग जिल्दों में कहते हैं। कविताओं से गुजरते हुए बरावर यह विचार पक्का होता रहा कि वे सुमित्रानंदन पत की (कला और वूढ़ा चाँद) तरह ही अपनी गीतात्मक चेतना को नयी कविता की छोटी बड़ी पंक्तियों में बिठाकर अपने को नयी काव्य चेतना से जोड़ने का भ्रमित और अर्थहीन प्रयास करते हैं। कोई जरूरी नहीं कि जो अच्छा गीतकार है वह अच्छा नया कवि भी हो—आधुनिक बोध को मुक्त छंद में बाँध सके। ऐसी घुसपैठ करने से बेहतर है कि वह गीतकार ही बना रहे। वहाँ वह 'अपील' तो करता है। असल में भादानी का नयी कविता के खेमे में आना एक 'वैक डोर ऐन्ट्री' के अलावा कुछ नहीं है। वे प्रयत्न पूर्वक अपने को साठोत्तरी कथ्य से जोड़ना चाहते हैं। अतः ऐसी स्थिति को कोशिश नहीं 'खतरनाक साजिश' ही कहा जायेगा। वैसे गीतकार के रूप में उनकी स्थिति काफी मजबूत है और वे वहाँ असल दिखते हैं। अतः उन्हें अपने ही संस्कारों में जीते हुए कविताएँ लिखनी चाहिए तभी वे अपनी सही पहचान करा सकेंगे।

हरीश भादानी के दोनों संग्रह रोमांटिक है, गीतों को तोड़कर लिखी गई कविताओं के संग्रह हैं। यही वजह है कि वे साफ पहचान में आ जाते हैं। करीब तीन चौथाई कविताएँ इसी तरह की हैं। 'एक उजली नजर की सुई' का उत्तरार्द्ध तो बिलकुल गीत है। धुन, लय और शब्द-संयोजन सभी कुछ गीतों के खोल में लिपटा हुआ है। छंदों की कविता का अपना अर्थ होता है,

अपनी प्रभाव-क्षमता होती है। हरीश के पास वह है, किन्तु वही बनी रहे तो कवि निजी वैशिष्ट्य दे सकेगा। इस तरह की सायास हरकतें जिनमें वह पंक्तियों को छोटी बड़ी, ऊपर नीचे करके लिखता है तब उसपर संदेह होने लगता है। नतीजा अच्छी अनुभूतियाँ भी टूक-टूक होकर विखर गई हैं। आप कह सकते हैं कि यह कृति की आलोचना नहीं है। मैं कहता हूँ यह आलोचना का बहुत बड़ा दायित्व है कि वह कवि की असली चेतना को पकडे। फिर तब तो यह बात और भी अहम हो जाती है जब कवि खुद ही अपनी पैरोकारी करता हुआ नये बोध और अपनी नयी कविता की नई संवेदना और शिल्प की बात करे।

हाँ तो भादानी गीतकार हैं—ज्यादा से ज्यादा वे नवगीत की सीमा का स्पर्श करते हैं। 'सुलगते पिण्ड' का स्वर आस्थावादी है। रोमांस, प्यार की ललक, रूप की तृषा और वेदना का ताप उनकी कविताओं में है। धूप, सूरज, संध्या, चाँदनी, रात, रातके तारे और अँधियारे के बिम्ब उनकी कविताओं में हैं। वह सपने सजाता है, धूप को सेंकता भी है और उलीचता भी है। 'सूर्य के मेहमान बनने को चले हम/धूप से सेंका हवाओं को मगर दर्द का नासूर बढ़ता ही गया/और पीप रिसता ही गया'। उनकी संध्या बूढ़े सूरज की सहचरी है जिसने 'जाये कुछ अवैध सपने ये सपने ओट-ओट में पले/चाँदनी पी पीकर हो गये सयाने'। उनका अफीमची अँधेरा 'कभी गूँगा हो जाता है तो कभी वही काटने को दौड़ता है—दर्द की चादर पहनाता है और कभी अँधेरा सभी के मुखौटे भी उतार देता है। कुल मिलाकर हरीश के इन संग्रहों का परिवेश रोमानी, यथार्थ से कटा हुआ और बेहद सीमित है। उसमें आस्था तो है, जिजीविषा तो है, पर वह एक प्रेमी या किसी सुलगते व्यक्ति की आस्था है। आस्था और प्रतीक्षा के मिले-जुले स्वर की बोधक ये गीतात्मक पंक्तियाँ अच्छी हैं, :

ओट में दुबके हुओं को उत्तर भेज दो, कि—
कच्ची मौसमी दीवार के
उस पार
जन्मने अकुला रही
एक अरुण ज्योति—
जीवन की नई संभावना !
बस, हमारे पहुँचने भर की प्रतीक्षा है।

इन संग्रहों में आस्थामूलक पंक्तियाँ और भी बहुत है और काफी अच्छी हैं,

किन्तु वे रोमानी परिवेश की धुरी प्रेम और दर्द पर ही घूमती हैं। अपवाद हर जगह होते हैं, किन्तु उनसे नियम नहीं बनते। ठीक वैसे ही हरीश की कतिपय कविताएँ वर्तमान व्यवस्था और सामाजिक विषमता को भी वाणी देती हैं, किन्तु अपवादस्वरूप ! इस तरह की अपवादपरक पक्तियाँ तब लिखी जा सकी हैं जब कवि अपने सपनों से बगावत करने की सोचता है या फिर रातों में जब बाजार लगाने वाली यादों को जहर पिलाने की बात करता है या फिर तभी जब वह प्रश्नाकुल हो उठता है :

ये जो सपने हैं—
सुबह की सीटियों के बाद
क्या अस्तित्व है इनका

यह बगावत की बात, सपनों की अस्तित्वहीनता और उन्हें जहर पिलाने की बात सिर्फ 'रात भर' रह जाती है। वह इनसे छूट नहीं सका है। यों इनसे विच्छेद की बात भी उनकी रोमानी चेतना के किसी दर्द की ही लिखावट है। दर्द, सपनों और प्रेमिल संदर्भों से जीवन्त विद्रोह कहीं नही है। "हर सुबह के साथ/मैं अभावों के हजूम में बहता हुआ "कवि या तो सामाजिकता के नारे लगाता रहा" या फिर धूप खाता हुआ कड़वी भाप से प्यास बुझाता रहा है। यही वजह है कि "नारे लगाता हूँ/झण्डे उठाता हूँ" के बाद भी वह "पाँवों के तले मायूस यादे" लिए खड़ा है। असल में कवि को सामाजिकों की खोखली मजबूरियों का ख्याल भर है, तभी तो वह बढ़ती हुई भूख को बदतमीजी की संज्ञा देता है। उसे भूख से ज्यादा प्यास का ख्याल है। निजी घावों और दर्दों की मीनार उसकी सारी प्रतिबद्धता, तमाम परिवेश की विसंगतियों को चाट गई है :

अघोरी अभावों के जुलूस में
पर भीड़ से टूटी हुई/हर इकाई
सिर्फ अपने ही लिये
कुछ इस तरह झूझी
कुछ इस तरह टकरी कि
चोटिल हो गया फिर घाव........

भादानी की भाषा एक अच्छे गीतकार की भाषा है और उसकी शैली एक सच्चे गीतकार की शैली है। इसी में वे रस-बस सकते है। उनका परिवेश किसी भी रोमानी गीतकार के समान बहुत ऊँचे तबके का है। अतः उनकी कविताएँ रोमानी मिजाज की गीतनुमा अभिव्यक्तियाँ हैं, परिवेश उनमें नहीं।

हरीश भादानी की ही तरह ताराप्रकाश जोशी भी गीतकार हैं। उन्होंने अच्छे गीत लिखे हैं, उनके गीतों की चेतना रोमानी और प्रगतिशील तत्वों की संधि पर खड़ी है। वे प्रेम के गायक भी हैं और सामाजिक संदर्भों के चितेरे भी, उनमे एक जागरूकता है। वे भादानी की तुलना में परिवेश के प्रति अधिक सजग हैं। यही वजह है कि उनका बोध परिवेशबद्ध है, उससे अनुस्यूत संदर्भ है। जोशी जी के गीतों में जिस प्रगतिशीलता का स्वर है वह कहीं गहरे मानवता और जिजीविषा से जुड़ा हुआ है। वे सामाजिक विभीषिकाओं को पूरे रंग रोगन के साथ देखते हैं और उसके बाद जिस मूल्य को संकेतित करते हैं वह मानवीय मूल्यों से जुड़ने की प्रक्रिया है। उनकी गीत रचनाएँ काफी छपी हैं और वे सचेना गीतकार हैं। 'समाधि के प्रश्न' के बाद 'जलते अक्षर' उनके गीतों का संग्रह है। 'समाधि के प्रश्न' स्वर्गीय नेहरू से सम्बद्ध है, किन्तु उसमें समाजव्यापी घृणा, शोषण, दंभ, छद्म और धर्म के नाम पर हो रही ठगी पर तेज हमला किया गया है। सामाजिक अव्यवस्था और सभ्यता का दिवालिया होना इस युग की सबसे बड़ी विडम्बना है। 'समाधि के प्रश्न' में कवि प्रश्नाकुल है, व्यंग्यपरक है और उसमें एक जोश है सारी असमानताओं को बदलने का। उसका स्वर जन-जागृति का स्वर है; तभी तो वह अव्यवस्था और शोषण की गर्दन पर खड़ा होकर माताओं, बच्चों, वाणीपुत्रों और मजदूर किसानों को जगा रहा है। 'जलते अक्षर' में ताराप्रकाश जी के ३३ गीत हैं। मूल स्वर मानवास्था और मानवकल्याण का है। पौरुष का यह कवि कविताओं मे ओज भी भरता है और इन्द्रधनुषी सौन्दर्य भी। ओजस्वी स्वर और इन्द्रधनुषी सौन्दर्य दोनों की समकालीनता का प्रश्न भी है। एक हमें प्रचारक बनाता है और दूसरा हमें डुबोता हुआ परिवेश से काट देता है। आस्था अच्छी भी होती है और जीवन की अहम जरूरत भी, किन्तु कोरी आस्था के गीत गाने से कुछ बनता नहीं। कहीं-कहीं जोशी जी में आस्था का अतिरेक है, परिवेश को भूलकर जब वे अतिरिक्त आस्था की बात करते हैं तो उसकी प्रामाणिकता का प्रश्न न होते हुए भी उसके औचित्य का सवाल तो रहता ही है। यह अच्छी बात है कि 'जलते अक्षर' में ऐसे स्थल कम ही हैं। सामान्यत: प्रस्तुत कृति धुँए को चीरती हुई संघर्षरत बने रहने की कामना की पोषक है। कवि में हर अँधेरे, हर पहाड़ और हर समुद्र के संतरण का संकल्प है, पीछे एक अनिवार्य शक्ति है।

संग्रह की अच्छी कविताओं में 'मेरी शवयात्रा', 'फिर आगे बढ़ जाता है,' 'बाट जोहता होगा' और 'जिन्सवर्ग के नाम' उल्लेखनीय हैं। इनमें कवि का

भावलोक शिल्प के साथ ऊँचाई की कई सीढ़ियाँ चढ़ता दिखाई देता है। आस्था का संदर्भ इन कविताओं में ठोस है, उसके पीछे झाँकता संघर्ष इस आस्था को जिजीविषा के निकट ले जाता है। उसे कुंठित और लिजलिजे व्यक्तित्वों से चिढ़ है। मातम और मर्सिया ही जिनकी धरोहर है, उनके लिए कवि कहता है :

जो लोग ढूँढ़ते फिरते,
मरघट में नये कथानक
बस्ती के जन्मोत्सव में
वे लोग नहीं आते हैं।
मातम जिनका पेशा है, मर्सिया विरासत जिनकी
वे लोग सुबह होने पर, भैरवी नहीं गाते हैं।

संग्रह में 'जिन्सवर्ग के नाम' कवि के नये मोड़ की सूचक है। वह मुक्त छन्द में ढली एक सशक्त व्यंग्य रचना है। असल में मुझे संग्रह की यही अकेली कविता सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है। यदि ताराप्रकाश 'जलते अक्षर' में इतनी सारी कविताएँ न देकर केवल यह कविता और 'मेरी शवयात्रा' जैसी कुछेक कविताएँ ही देते तो भी उनके कृतित्व का मूल्य आँका जा सकता था। इधर पिछले कुछ दिनों से वे मुक्त छंद की ओर मुड़े हैं और अपने आपको नयी कविता शैली से जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। पिछले दिनों भारत पाक युद्ध के दौरान लिखी कविता 'असमय की चेतावनी' देखने को मिली। समसामयिक घटनाओं पर प्रतिक्रियास्वरूप कविताएँ हमेशा से लिखी जाती रही है, किन्तु उनकी नियति अच्छा प्रभाव नहीं डाल सकी। जोशी जी की यह कविता मुक्त छन्द की सीमाओं में विचरती हुई बहुत बिखर गई है। कवि का मूल कथ्य वजनी है, उसकी अनुभूतियों में भी ताप है, किन्तु परिवेश को फैलाने का लोभ कविता की सारी मुद्रा को दीन करुण संदर्भ दे देता है। अनेक नाम, घटना प्रसंगों और बार-बार कुछ व्यक्तियों का संदर्भ देने से कविता असंश्लिष्ट हो गई है। फिर लम्बी कविता में 'लौट जा ओ सातवें आणविक बेड़े लौट जाओ' की सदर्भ च्युत आवृत्ति से यह प्रखर कविता भी याचक मुद्रा में बदल गई है। सभी बड़े देशों के संदर्भो की भीड़ में भारतीय कवि का स्वर दब गया है। ऐसी प्रतिक्रियावादी कविताओं से अतिरिक्त जोश की अपेक्षा तीखे व्यग्य की आशा की जाती है, किन्तु इसमें व्यंग्य नहीं। अपने को करोड़ों मेहनतकशों का गीतकार कहने वाला कवि भटकन का शिकार हो गया है। उसका साहस दूसरे का आसरा माँगता है : 'रूस/लेनिन से ब्रेझनेव

के रूस/शान्ति के पहरेदार/सावधान रहना/दो नीली आँखें/हवा में एक जहरीली गैस/फेंकने के लिए/कमजोर जगह खोजने लगी हैं।' इसी के साथ कवितान्त में लौट जाने की याचक मुद्रा के साथ ही ये पंक्तियाँ 'समय थोड़ा है/और जितना आज है उतना कल नहीं होगा/जल्दी करो–आधे रास्ते से ही लौट जाओ।' धमकी है या भयाक्रान्त हो आफत से छुटकारा पाने की कमजोर मुद्रा। एक प्रगतिशील कवि जिसने पौरुष की चेतना को वाणी दी, वह अपनी नयी कविता में इतना दबा हुआ बोले और उसके शब्द इतने कमजोर हों तो आश्चर्य होता है। यों शब्द अपने आप में कोई आग नहीं होते कोई व्यंग्य नहीं होते, किन्तु उनका प्रयोग-विधान ही उन्हें यह सब देता है। कहना यह है कि यदि कवि सावधानी से संतुलित होकर इस रचना में प्रवृत्त होता और संदर्भ के मूलबिन्दु पर ही अपनी दृष्टि रखता तो कविता काफी अच्छी होती। फिर भी बीच-बीच में कई पंक्तियाँ व्यंजक हैं। उनकी इस बड़ी कविता से कहीं अच्छी कविता 'वे लोग' है जो 'हम' में छपी है। 'वे लोग' में कवि का अहसास गहरा है। वे लोग कोई और नहीं, हमारे ही बीच के आम आदमियों मे से है। यहाँ प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अपनी संश्लिष्टि में अकेली है। दिग्भ्रमित और अन्तर्विरोधों के शिकार और उनसे ही सम्बद्ध अर्थहीन स्थितियों की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति उनकी अन्य कविताओं में नहीं है :

> जो जन्म से/एक पगडंडी विहीन
> जंगल मे बोलते हैं/तोलते हैं भूख और इत्र/को साथ-साथ
> जो समय और/क्लब को जीते है, पीते हैं शराब और मौसम
> साथ-साथ/जो रोज खबरों का दातून/थूकते हैं
> वे सब इकट्ठे
> होकर आ रहे हैं/मेरे घर की ओर/और मेरा घर है गाँव में

अब कहना जरूरी नही रह गया है कि तारा प्रकाश जी गीतात्मक अनुभूतियों के कवि है। 'जलते अक्षर' का कवि काफ़ी साफ़ और तेज है तो आणविक वेड़े लौटने की भीख माँगने वाला कवि वेहद कमजोर और वक्तव्यपरक।

राजस्थान में और भी कई गीतकार हैं और वे भी यदा-कदा मुक्त छन्द का सहारा लेकर नयी कविता से जुड़ने की कोशिश करते देखे जाते हैं। इस कोशिश में वे एकाध अच्छी कविता भी लिखते है, पर उनकी मूल चेतना गीतात्मक रहती है। फलतः इस क्षेत्र में वे असफल ही है। न तो उनके पास

आधुनिक भावबोध है और न वैसा शिल्प ही। कारण इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो अवसर विशेष के लिए कविताएँ लिखते हैं या जिनकी ध्वनि रेडियो पर यदा-कदा सुनी जाती है या किसी समकालीन घटना-बिन्दु की प्रतिक्रिया मात्र होती है। ऐसे कवियों में श्री हरिराम आचार्य, मंगल सक्सेना, राकेश, अकिंचन शर्मा, छोटू खाँ निर्मल, प्रकाश आतुर, शिवकुमार शुक्ल और तारादत्त निर्विरोध आदि का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी मूलतः गीतकार हैं और सभी की चेतना रोमानी है या जागृति मूलक गीतों की परिधि के आस-पास घूमती दिखाई देती है। नयी कविता के क्षेत्र में कार्य करने वालों में ऋतुराज, विजेन्द्र, मणि मधुकर, जयसिंह नीरज, नन्द चतुर्वेदी, रणजीत, जुगमन्दिर तायल, प्रकाश जैन, वीर सक्सेना और भारतरत्न भार्गव आदि का नाम विशेषोल्लेख्य है। इनमें से अधिकांश के संग्रह उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ की चर्चा की जा चुकी है। श्री मदनगोपाल शर्मा ने भी नयी कविता के क्षेत्र में कुछ अच्छे प्रयोग किये है। श्री शर्मा की कुछेक कविताएँ पिछले वर्ष उनकी डायरी से देखने को मिलीं। सफेद रुमाल पर स्याही के दाग, सभ्यता का सन्नाटा, अँधेरी रात में भौंकते कुत्ते, भुतहा मकान और जागरण के अग्रदूत आदि उनकी अच्छी कविताएँ हैं। 'सफेद रूमाल पर स्याही के दाग' की प्रतीक योजना विशिष्ट है जिसके सहारे मर्यादावादी मान्यताओं को नवीन परिप्रेक्ष्य में नई अर्थवत्ता प्रदान की गई है। यों कविता की मूल संवेदना रोमांस ही है। 'सभ्यता का सन्नाटा' वर्तमान परिवेश की जड़ता और अर्थशून्यता को रेखांकित करती है। इसमें कवि ने आधुनिक सभ्यता की असंगतियों, सामाजिक व्यवस्थाओं की विकृतियों तथा राजनीति की विडम्बनाओं पर व्यंग्य किया है। 'भौंकते कुत्ते' व 'भुतहा मकान' में भी व्यंग्य रचनाएँ हैं। एक में आज के समाज के नीति-नियामकों की निष्क्रियता, निष्ठाहीनता और भ्रमित मनोवृत्ति पर व्यग्य किया गया है, दूसरी में युद्ध और महाविनाश के कगार पर खड़े संशयग्रस्त विश्व की भयावहता उद्घाटित हुई है। इस प्रकार के प्रयोग सराहनीय तो है, किन्तु इनका शिल्प मँजावट मांगता है। उसमें बचकानी शब्दावली का अतिप्रयोग कथ्य का गला भी घोंटता देखा जाता है। यह स्थिति उनकी गीत चेतना के कारण है। उनमें शब्दों का अपव्यय है जो किसी भी नये कवि की सबसे बड़ी कमजोरी है।

नरेन्द्र भानावत की 'आदमी मुहर और कुर्सी' में जो कविताएँ हैं उनमे कतिपय रचनाएँ : 'इकतीस दिसम्बर की शाम', 'ड्राइंग रूम और दीमक', 'परम्परा और प्रगति' व 'व्यक्तित्व की फुलझड़ी' ही कुछ अच्छी रचनाएँ हैं।

शेप में अप्रस्तुतों का घटाटोप इतना है कि कथ्य ही दब गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नये प्रयोगों की धुन में कवि ने कुछ चलताऊ उपमान बटोर भर लिये हैं। उनमें संवेदना का अभाव है। असल में सारी कविताओं को पढ़ने के बाद दो ही तथ्य स्पष्ट होते हैं : एक तो यह कि कवि अप्रस्तुतों के नये ग्रहण को ही कविता समझता है और दूसरा, उसका आधुनिक बोध प्रारम्भिक है, सीमाधर्मी है। कोई 'इमेज' नहीं उभरती है। यही वजह है कि अधिकांश कविताएँ नोटिस मात्र हैं। उनमें न कोई परिवेश है और न कोई शैल्पिक प्रयोग ही। कविताएँ 'ड्राइंगरूम पोयट्री' भर हैं। 'गरमी की क्लास, परीक्षार्थी, गुड़ा बांध, जिन्दगी की बस और नये कवि का आत्मनिवेदन, बेहद बचकानी रचनाएँ है। कवि ने अपनी भूमिका में लिखा है कि "कहीं व्यंग्य तीखा और नुकीला है तो कहीं वह फैलकर इतिवृत्त का सहारा ढूँढ़ने लगा है।" व्यंग्य का अर्थ यदि सपाट कथन और वक्तव्य ही है तो कवि ने उसकी असली परिभाषा को ही बदल दिया। व्यंग्य के लिए जिस 'सजेस्टिविटी' और जागरूक चेतना की अपेक्षा होती है वह किसी भी कविता में नहीं है। इससे कहीं बेहतर व्यग्य तो समकालीन घटना चक्र की उन प्रतिक्रियात्मक कविताओं में हैं जो 'सबलराष्ट्र' में बसन्त बसु और उन जैसे ही कुछ कवियों ने लिखी हैं। 'बसन्त बसु' की शह और मात व भूख और बगावत स्वाधीनता जैसी कविताएँ प्रतिक्रियात्मक और ठण्डी आवेशपूर्ण शैली में लिखी गई होकर भी अच्छी बन पड़ी हैं। अनेक नामों, स्थानों और संदर्भों की भीड़ और बावजूद तथ्य-कथनों के ये कविताएँ संवेदना को छूती हैं। इनमें एक तीखी प्रतिक्रिया तो है, भले ही ये तात्कालिक हैं। यह ठीक है कि इन कविताओं की उम्र ज्यादा नहीं है, किन्तु एक संदर्भ तो इनमें है, एक सम्भावना कुल व्यक्तित्व तो इनमें है।

सुरेन्द्र उपाध्याय ने भी नयी कविता के कवि के रूप में अपनी पहचान कराई है। उनकी 'कौनसा संदर्भ दे दूँ" उल्लेखनीय कृति है। सुरेन्द्र की कलम बिम्ब अधिक उठाती है, उसमें पूरे परिदृश्य को समेटकर मूर्तित करने की क्षमता है। यह बात जुदा है कि उनके बिम्बों का स्रोत मात्र प्रकृति ही है। सुरेन्द्र एक जागरूक और चेतन कवि हैं। फिर भी न जाने क्यों समकालीन संदर्भों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई है। इसी से उनका कथ्य एकरस है। हाँ, शैल्पिक रचाव के प्रति उनमें मोह है। भाषा को आम आदमी के स्तर पर लाने का आग्रह उनकी कविताओं से स्पष्ट है। आज जो जिन्दगी हमें जी रही है और उसके द्वारा जिये जाकर हम कितने खाली और अर्थहीन होते जा रहे हैं, जैसी

स्थितियों की व्यंजक पंक्तियाँ सुरेन्द्र में नहीं मिलती हैं। स्पष्ट ही कवि का दायरा सीमित है. उसकी दृष्टि सीमाधर्मी है। अतः अभी तक तो 'सुरेन्द्र' के कवि को एक प्रारम्भिक शिल्पी के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

'मनोहर प्रभाकर' राजस्थानी से सम्बद्ध होकर भी कतिपय नये प्रयोगों के कारण ध्यान आकर्षित करते हैं। वे मूलतः गीतकार हैं, राजस्थानी भाषा के मनीषी सर्जक हैं, फिर भी उनकी दो-तीन कविताएँ मुझे अच्छी लगीं : 'अकाल' 'बाढ़ और स्वीमिंग पूल' और 'वे अजाने शब्द शिल्पी।' 'अकाल' में कवि की चेतना व्यंग्य-बोध जगाती हुई प्रतिपादित करती है कि अकाल गरीबों के ही लिए है। वह एक अभिशाप है, किन्तु शोषण का बहाना भी है। 'बाढ़ और स्वीमिंग पूल' भी व्यंग्य रचना है। असल में कवि का व्यंग्यकार बड़ा सजग है। वह महीन मार मारता है और एक साथ ही सामाजिक विसंगति और विषमता-बोध को बिम्बों में बाँधता हुआ मंच से चुपके से हट जाता है :

> बाढ़ में बह गये घर बार/आदमी औरत बच्चे…………
> और फिर शाम को/जब मैं अपनी सैक्रेट्री
> मिस लारेना के साथ/स्वीमिंग पूल में तैर रहा था
> तो अचानक मुझे अहसास हुआ था/कि बाढ़ में बह जाने
> और डूब जाने की बात/महज बेवकूफी है।

वे अनजाने शब्द-शिल्पी' .भी व्यंग्य रचना है। कवि की दृष्टि अपने आस-पास के परिवेश में व्याप्त शोषण, अनाचार और कृत्रिमता के पुजारियों पर पड़ी है। कवि की स्वाभिमानी चेतना भी यहाँ है। स्पष्ट ही 'प्रभाकर' की कविताएँ आधुनिक बोध की सीमा का स्पर्श करती हैं और एक नयी आस्था जगाती हैं।

वीर सक्सेना की स्थिति भी ऐसी ही है। वे मूलतः रोमांटिक और करुण चेतना के गायक हैं। सक्सेना के गीत मैंने सुने हैं और पढ़े भी हैं, उनमें निजी परिवेश का एक संदर्भ है। वे एक ही वृत्त में घूमते हैं। इधर उनकी एक नई काव्य कृति भी सामने आई है : अ-यात्रा सैंतीसवीं सुरंग तक। इसके माध्यम से उन्होंने नयी कविता से जुड़ने की कोशिश की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संग्रह की कविताओं में भविष्य का सर्जक छिपा हुआ है। ऐसा लगता है कि उसके भीतर कोई चीज है जो उसके मानस में एक छोर से दूसरे छोर तक करवट बदल रही है, एक ठहराव में चाकू की धार की तरह तेज हो रही है, पर इस संग्रह में वह तेज नहीं हो सकी है। आगे हो सकेगी इसका सबूत शताब्दियों से अलग, निष्क्रमण कथा, उत्तरार्ध, अन्तराल, ऋतुमंत्र, नयी

मृत्यु से पूर्व और अप्रत्याशित जैसी कविताओं में छिपा हुआ है। संग्रह की अधिकांश रचनाओं का प्रभाव रोमांटिक ही है। यद्यपि कवि ने कोशिश की है कि वह रोमांस-विरोधी कविताएँ लिखे, पर वह उससे चिपका हुआ है। यही वजह है कि एक अच्छी मनःस्थिति की कविता भी या तो बीच में रोमांटिक हो गई या अन्त में। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि कवि परिवेश से प्रतिबद्ध होने की धुन मे अकस्मात् अभिधाशैली में अपनी उपस्थिति को लिख जाता है, जिससे प्रभाव घटिया किस्म का हो जाता है। जैसे वह अचानक चौकन्ना हो जाता है कि यदि मैं इस भीड़, जुलूस या पंक्ति में नहीं रहा तो शायद प्रतिबद्धता में कमी आ जायेगी। वीर अपने अनुभव क्षणों की अभिव्यक्ति को भी संश्लेषण की स्थिति में ले आता है। आज की म नव स्थिति की व्यजक ये पक्तियाँ अच्छी हैं :

> हर बार/मैं नेपथ्य में होता हूँ
> और रंगमच पर/मेरी भूमिका कर रहा होता है/कोई तीसरा।
> हर बार/मुझ से भाषा छीन ली जाती है/कोई और मेरे संदर्भ से एक झूँठा व्याकरण दुहराता है।

वर्तमान सामाजिक संदर्भों की कुत्सित मनोवृत्ति और उसी के शिकार होते जाते मानव की लाचारियाँ ही उसकी शृँखला बनी हुई है जो उसे सब कुछ चुपचाप सहने के लिए वाध्य कर रही हैं। हर तरफ की भयावहता से आतंकित व्यक्ति यही सोच कर रह जाते हैं 'कुछ और लोग भी यही बातें/करना चाहते हैं/पर अपनी पींठ पर/छुरे की कोई एक नोक/महसूस करते ही चुप हो जाते हैं।' यह एक स्थिति है जिसे अधिकांश मध्यवर्गीय भोग रहे हैं। एक वेमानी आक्रोश, एक खटाऊ चीख और सब कुछ महसूस करते हुए भी निढाल हो जाने वाली स्थिति की बोधक पक्तियाँ संग्रह में कई जगह हैं। अर्थहीन आवेगों के आहत परिन्दों, सिर के चारों तरफ फड़फड़ाते रहे, पाँव के नीचे अचानक दबने लगे सर्प, परिवेश व्यापी हताशा, आत्मनिर्वासित स्थिति और सब ओर ऊब ही ऊब या अकेलापन ही अकेलापन महसूस करने वाला कवि कभी-कभी औरों के साथ पंक्तिबद्ध होने की कामना करता है, 'कृशकाय लोगों की पैदल यात्रा के साथ पंक्तिबद्ध होना चाहता है," किन्तु उसकी यह पंक्तिवद्धता आरोपित है। वह सारी कविताओं में अकेला है, आत्मनिर्वासित है। उसकी चेतना में राग बोध का दर्द भी है और उसकी कराह भी। 'अनाम यात्री' कविता का संदर्भ : "सामान के नाम पर/उसके पास जरूरत की चीजें है/हवा

में घूमती हुई एक मुट्ठी/भटकाव की पुनरावृत्ति करती एक यात्रा·····"आदि सर्वेश्वर की उपलब्धि के नाम पर मेरे पास एक झोला है", आदि पंक्तियों को देखकर या सामने रखकर लिखी गई प्रतीत होती हैं। यदि सर्वेश्वर की कविता का संदर्भ सामने न हो तो कविता अच्छी है। वीर की भाषा में आये शब्द भी अधिकतर रोमानी हैं। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी भाव और शिल्प का हलका-भारी होना है। शैली तो शुरू से आखिर तक एकरस है। यह एकरसता तोड़ कर ही वीर एक अच्छे कवि हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न संदर्भों में अलग-अलग अनुभूतियों में एक ही शब्द को बार-बार लाना भी कविता को गड़बड़ा देता है: व्याकरण लिपि और मानचित्र ऐसे ही शब्द हैं। व्याकरण शब्द को तो कवि ने कई जगह घसीट लिया है। यह स्थिति संभावनाशील कवि के लिए अच्छी नहीं है।

मणि मधुकर :

नयी कविता के अच्छे कवि हैं। पहले वे भी गीत लिखते थे, किन्तु बाद में नयी कविता लिखने लगे। राजस्थान के नयी कविता के इने-गिने लोगों में मणि की कविताएँ पूरी तरह परिवेश और मानव-साक्षात्कार की कविताएँ हैं। उनके लेखन में परिवेश की जितनी गहरी पकड़ है और मानव की जटिल स्थिति के जितने सशक्त संदर्भ हैं, उतने राजस्थान के दो तीन कवियों में ही हैं। मणि का परिवेश काफी चौड़ा है। उसमें समाज, धर्म, राजनीति और मानव-मूल्यों के विघटन का एक सही प्रारूप है। उनकी कई अच्छी कविताएँ प्रान्त के बाहर अच्छी पत्रिकाओं में भी छपी हैं। उनकी अब तक की लम्बी कविता 'खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व' है। इसके अलावा भी उन्होंने कुछ उल्लेखनीय कविताएँ लिखी हैं: स्थगित (ज्ञानोदय अक्तूबर १९६७) 'रात नक्शे और गलियाँ' (लहर नवम्बर १९६६) और सिंधु-घाटी में शंख (वातायन १९६ मई-जून)। इन कविताओं में मणि का परिवेशजटिल और व्यापक है। 'रात नक्शे और गलियाँ' में परिवेश का घिनौना संदर्भ है और साथ ही अस्वीकृति का स्वर काफी तेज है। निहित संदर्भों में असम्बद्धता भी है और असंगत आक्रोश भी। ऐसा लगता है कि कवि परिवेश को एक झपट्टे के साथ पकड़ता है, किन्तु उसे संभाल नहीं पाता और यही वजह है कि सारे संदर्भ मजबूत होते हुए भी अन्विति के अभाव में अर्थच्युत हो जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कवि परिवेश से सीधी और साहसिक टक्कर लेता है, किन्तु उसके शिल्प की अक्षमता उसे कलात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाती है। उसका बिखराव साफ तौर से पाठक के सामने फैल जाता है। यह उल्लेखनीय

इसीलिए है कि इसमें परिवेश के प्रति साक्षात्कार की मुद्रा है। यदि मणि ने इस परिवेश को संयोजना और संघटना भी दी होती तो श्रेष्ठ कविता होती। ऐसी ही स्थिति सिन्धुघाटी में शंख की है। कविता की शुरूआत बड़ी आत्मीय और सहज है, किन्तु कविता के बीच में कवि दिखावटीपन और बनावटीपन से आक्रान्त हो गया है। शब्दों का बेमेल संदर्भ, शैली की कृत्रिमता और अन्विति-हीनता से सवेदना को आघात पहुँचा है। कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ ये हैं :

यह सब सनसनी खेज है, यह मेमने की
कच्ची आँखों में काँपता हुआ तिलिस्म यह एक दूसरे के
औपचारिक अंगों पर छुट्टी
की दरख्वास्त लिखता हरापन, यह पोस्त
के मुलायम नशे में बवंडर के छिलके तोड़ता हुआ
विभावन, यह आरपार की चुप्पी यह नींद की मजबूरी
और भलमनसाहत की खाट से नीचे लटका हुआ पैर
यह सब पूरा है....

आगे चलकर बिम्ब इतने बिखरे हुए, शब्द इतने ऊष्माहीन और बेमेल हैं कि कविता की कोई आकृति ही नहीं उभरती है। 'स्थिति' अच्छी कविता है। पूरी कविता में संगति है, एक तारतम्य है। शब्द भी सार्थक और अर्थगर्भित हैं। कवि सधे हुए ढंग से भाव और शिल्प में एक अनिवार्य नैकट्य बिठाने में सफल हुआ है। सामाजिक व्यवस्थाहीनता और विकृतमानवीय सम्बन्धों पर कवि का अहसास गहरा है, वह अनुभूतिशून्य नहीं है। एक छोटी कविता होने के कारण उसमें कसाव और बँधाव भी है :

पृथ्वी किसी का आधार नहीं है/पीले सफेद
फफोलों की तरह उठते और फूटते हुए दिन
वस्तुएँ हैं और वे मुझमें हैं वस्तुओं के द्वार संचरणशील
— मेरे इरादों पर हावी/उनके भुजग सत्य/
लिपटे हुए है पूरी व्यवस्था के चारों ओर/तारल्य के
विस्तार का वह नीलापन/... ठहर जाता है लँगड़े
सम्बन्धों की भांति/प्राणों में एक उन्मत्त, क्षुब्ध पृष्ठ है।

वास्तव में 'मणि' यदि बहक और शब्दों की फिजूलखर्ची से बचें तो अच्छी और अन्विति पूर्ण कविताएं लिख सकते हैं। उनकी पकड़ अच्छी है, अनुभूति साफ है, किन्तु इस सबको ढोने वाला शिल्प कमजोर है। उसमें अनगढ़पन के

साथ-साथ अवकचरे शब्दों की भरमार है। 'सबल राष्ट्र' में छपी उनकी कविता 'आँखों और अंगुलियों के फासले में!' वर्तमान भारत पाक संघर्ष के माध्यम से मानवता की खोज के रूप में एक प्रतिक्रिया है—एक 'डेड रिएक्शन' है। 'रिएक्शनरी पोयट्री' की तरह यह कविता भी नोटिसमात्र है। कथ्य स्थूल और शिल्प हल्का है। कविता लिखने के लिए कविता का यह अच्छा उदाहरण है। उसी के एक पार्श्व में छपी कमर मेवाड़ी की 'नया सूरज' एक स्तुति कविता भर है।

'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' लम्बी कविता है। बातचीत की शैली मे उभरती हुई यह कविता एक यथार्थ परिदृश्य को प्रस्तुत करती है। इसमें कोई शक नहीं कि यह कविता समकालीन सच्चाई का एक गहरा पहलू प्रस्तुत करती है और उसमें निरूपित स्थिति अनेक संभावनाओं की प्रतिरूपक है। कवि ने अपनी ओर से पूरी हिम्मतवर शैली में उसे उभारने की कोशिश की है। कहीं-कही वह बहुत सफल है और यथार्थ परिदृश्य को गहराई से पकड़ती है। वर्तमान अपरिचय, अजनबियत, ऊब और 'एब्सर्डिटी' को तेज़ी से व्यक्त करती है और अर्थहीन स्थितियों का एक खाका पेश करती है : "समझ के झरोखे में बैठे हुए शिष्ट सत्तान्ध/ने एक दम निहत्था कर दिया मुझे/और इससे पहले कि मैं/परस्परता के भाग को साबित करूँ कोई सुविधाजनक रग या हवाला देकर/ मूसा नदी का पानी सूखने लगा/रेत में तड़फ-तड़फ कर मंत्रोच्चार करने लगीं पवित्र मछलियाँ/""एक खराब लकड़ी के अच्छे नाम से/चिढ़ता रहा मैं, बेवजह/....मैंने रास्तों और पड़ौसियों के साथ/इस आश्वस्त नगर-ताप में/एक लफ्ज तक नहीं पैदा किया/प्यार या सदेह का सभागारों में/ जादूगर सा फालतूपन ओढ़े रहा।"

यह एक उदाहरण है जिसकी भाषा सधी हुई है, उसमें मँजावट का आभास है। इसी तरह बातचीत की शैली में सहज संवेद्य पंक्तियों के रूप में ये पंक्तियाँ काफी गहरे छूती हैं :

वह जाने लगी/और अचानक मुझे भाने लगी पर
मैंने उसे रोका नही/रोकने का अर्थ है उसके नजरिये को
ओढ़ना/अपने लिए एक अपरिचित नरक खोजना

यह सही है कि मणि के पास शिल्प है; किन्तु जब वे शिल्प का तिलिस्म गढ़ने लगते हैं या केवल शिल्प के ही सहारे सारी अनुभूति को संप्रेषित करना चाहते हैं तब कविता रचनात्मक स्तर से गिरने लगती है। इस गिरने में उनकी वक्तव्यबाजी चालू शब्दों और मुहावरों की भीड़ व अर्थ

के शब्दों की उल्टी सीधी ईंटों का एकत्रीकरण भी सहायक होता है। फलतः कविता की इमारत से भावों का चूना झरने लगता है और उसमें जगह-जगह चितकबरे दाग और धब्बे साफ़ नजर आने लगते हैं। ऐसा लगता है कि शिल्प का प्रयोग मणि पूरी प्रचेता बुद्धि से न करके एक रौ में करते हैं। शब्दों की अर्थहीनतर भीड़ 'खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व' में जगह-जगह है। साथ ही गद्याभास से भरी हुई वह कविता जगह-जगह तुकों की बेतुकी जिद को भी अपने में समेट लाई है। इसी से कविता की सफलता कम हो गई है :

"नेहरू शास्त्री उदाहरण पुछल्ले समाधान नहीं थूक/आदर्शों के दुर्गम
शिखरों तक झगबगाता आथूक (जो सब झोली में भर जायेगा)
खाद्य पदार्थ नहीं वायदे ध्रुवतारे की भाँति/चमकता विश्वास जिसे
पाकर हुई कुपित/दुर्भिक्ष, हिन्दी, नासिर, लाल रक्षक
करांची भ्रष्टाचार बीमारी वेतन, अणुबम, आबादी,संभोग
हड़ताल, बेकारी की चर्चा नहीं छेड़ेगा धँस जायेगा आकंठ

इस तरह के गद्यगर्भित विवरणमात्र जिनमें बेचारी कविता की फजीहत हो गई है; 40 पृष्ठों की इस लम्बी कविता में जगह-जगह टाँके हुए हैं। श्रीकांत वर्मा के पैटर्न पर तुकों का प्रयोग, सर्वेश्वर का सा एकांत लिजलिजापन, अज्ञेय सा आभिजात्य और रघुवीर सहाय सा राजनैतिक परिदृश्य सब कुछ मिलाकर गड्डमगड्ड करने की प्रवृत्ति मणि की इस कविता में है। कहीं-कहीं तुकों का बेतुका प्रयोग महज तुक के लिए है जिससे न कई अर्थ उभरता है और न कोई 'इमेज' ही/फिर बेकार में शब्दों और तुकों का फालतू एकत्रीकरण किस लिए :

दरख्त हरे लम्बे गँवार बुझक्कड़ फक्कड़ दरख्त....
जानते हो कुछ उन मुहावरों के बारे में जो पंचतन्त्र से निकलकर
गणतन्त्र में खो जाते हैं।

या

एक लकड़हारा था ठोस और ठस्स

या

शौक सिर्फ बोझ के भाड़े का
(पायजामे के नाड़े का)

नयी कविता में लम्बी कविताओं का इतिहास बताता है कि उनकी जमीन वक्तव्यों और आप बीते निष्कर्षमूलक कथनों से पटी हुई है। मणि की यह कविता भी इसका अपवाद नही है। इसमें जनरलाइजेशन का टोन भी है और अनर्गल पंक्तियाँ भी। यही शायद डॉ. जगदीश जोशी के शब्दो में 'बौद्धिक बलात्कार है" और डॉ, विश्वम्भर उपाध्याय के शब्दो मे "एक अजीब घुन्नापन और अनापशनापी भुनभुनाहट भी है।" इन वक्तव्यों में वास्तविकता को दर गुजर कर दिया गया है। सारी कविता से एक प्रकार का अवास्तविक और ठण्डा आक्रोश जाहिर होता है। आश्चर्य की सीमा नही रहती जब देखता हूँ कि इतने सही सदर्भ को लेकर चलने वाली कविता वक्तव्यों की भीड़, बेमेल शब्द प्रयोग और अन्विति हीनता का शिकार हुई तो जरूर इसके पीछे कवि की कमजोरी है और इसमे दो राय नही कि इस कमजोरी का रहस्य एक सीमा तक इन पक्तियो मे है .

मेरी असलियत मे एक छेद है
चुगलखोर है और सचमुच मुझे इसका खेद है
महसूस तो करता हूँ कि मुझ मे एक गर्मी है या गर्मी की
शैली है
(मौलिकता पर भरोसा नही रहा)।

यों इन पक्तियो मे आज की मानव-स्थिति पर व्यग्य भी है, पर वह आत्म-परिचय शैली के प्रयोग से दबा रह गया है।

कविता कोई फतवा नही, कोई बेमेल शब्दो का सयोजन नही है। वह एक उत्तरदायित्व पूर्ण कर्म है। एक अर्थ मे जीवन की परिभाषा है, कल्पना का व्याकरण है। अतः उस व्याकरण को कलुषित करने या गैर जरूरी बातों का गोदाम भर बनाने का किसी को हक नहीं है। 'मणि' को अपने शिल्प-प्रयोगों मे कल्पना का दिवालियापन प्रदर्शित नही करना चाहिए। चालीस पृष्ठो की यह कविता और इसकी पृष्ठभूमि मे शिल्प की बेतरतीबी से दबा कथ्य कल्पना के दारिद्रय के कारण ही सिसकता रह गया है। यही वजह है कि कविता मे निहित आधुनिक परिवेश का यह जटिल और यथार्थ परिदृश्य बड़ी ईमानदारी से उठाया जाने पर भी इस तरह बेकार साबित हुआ है कि वह खण्डों में बँटा हुआ पाखण्ड बनकर रह गई है। कविता केवल दस पृष्ठों मे ही है, शेष भरती का माल है। बीच बीच मे व्यंग्य भी है : धर्म पर, राजनीति पर, सामाजिक व्यवस्था पर, किन्तु वह भी इसी कारण प्रभाव नही छोड़ता है।

रामदेव ग्राचार्य :

नयी कविता के ग्रच्छे कवियों मे ग्राचार्य का नाम लिया जा सकता है। उनका संग्रह : 'ग्रक्षरों का विद्रोह' कवि के भाव बोध ग्रौर शिल्प बोध का परिचायक है। उनका विद्रोह काव्यात्मक है। उसमें प्रदर्शनी वृत्ति ग्रौर नारेबाजी नहीं है जो ग्राजकल कवि नामधारी लोगों में मिलती है। एक संवेदनशील कवि की तरह वे हर ग्रनुभव क्षण को सहेजते हुए 'रेशनलिस्ट' भी है। दुनियाँ ग्रंधकार में दौड लगा रही है ग्रौर कवि उस सारी भाग दौड़ को ग्रपने मे भरता जा रहा है। उसे देखता हुग्रा भोग रहा है ग्रौर परिवेश में रहने की विवशता को ग्रनचाहे जी रहा है। इससे वह पीडित है, क्षुब्ध है ग्रौर इसीलिए विद्रोह के लिए सिर उठाता है। पहले साहस की तैयारी करता है फिर ग्रोठ काटता है, खीझता है। वह ग्रक्षरों से पुराने शिल्प के प्रति विद्रोह करता है। एक ग्रोर तो उसके ग्रक्षर उससे विद्रोह करते है ग्रौर दूसरी ग्रोर वह ग्रक्षरो के माध्यम से जीवन व्यापी ग्रसगति, सभ्यता, शहरी जिन्दगी की स्वार्थलिप्सा ग्रौर सामयिक परिवेश से जन्मी समस्याग्रों के प्रति विद्रोह करता है। वह ग्रतीत से जुड़कर भी संस्कार से मुक्त है। नई राहो को ग्रन्वेषी कवि जब 'मेरी परछाईयाँ' लिखता है तो बात साफ हो जाती है। 'जिन्दा मुर्दे' मे ग्राज की स्थिति का सही ग्रंकन है। 'नये वर्ष पर' का कथ्य निजी होकर भी ग्रखरने वाला इसलिए नही कि वह ग्राज बहुतों का है। बहुतो का है इसलिए केवल निजी नही रह गया है। फिर उसका सहज ग्रौर ग्रात्मीय शिल्प उसे ग्रौर दमदार बनाने में सफल हुग्रा है। संकलन मे 'रोमांटिक' मिजाज भी है, पर वह नया नही लगता है। ग्राचार्य जी एक ग्रास्थावादी कवि हैं। उनकी मान्यता है ग्रौर ठीक है कि निषेधों ग्रौर ग्रस्वीकृतियों के सहारे जीवन कब तक चल सकता है ? यही ग्रास्था ग्रौर सभावना उन्हे ग्रपने लघुत्व के प्रति भी ग्रास्थावान बनाती है। जब वे कहते हैं :

> मुझसे मेरा छोटापन मत छीनो
> मुझे बस वही रहने दो
> जहां मैं हूँ—

तो ग्रपने ग्रस्तित्व की स्वतन्त्रता व ग्रपने प्रति ग्रास्था तो व्यक्त करते ही हैं, समूह से जुडे रहने की कामना भी व्यक्त करते है। 'भीड़' में रहकर भी ग्रपने स्वर को बनाये रखने की भावना उनमे है। वे उसकी विशिष्टता के प्रति ग्राग्रहशील नही है। इन कविताग्रो का शिल्प सीधा, जाना-पहचाना ग्रौर देखा है। साधारण से शब्द भी कविताग्रो मे विशिष्ट ग्रर्थ के बोधक बनकर

आये हैं। लम्बी कविताओं में बिखराव है, अन्विति की कमी है। कवि भावनाओं को सँभाल नहीं सका है। अत उसकी बहक और आरोपित वृत्ति साफ-साफ झलक आई है। 'आत्महत्या पर्याय नारी' कविता अच्छी हो सकती थी; यदि इसमें चौंकाने और 'वक्तव्य प्रियता' जैसी स्थिति न आई होती। और भी कविताओं में यह बात मिलती है। संकलन का समग्र प्रभाव विद्रोह का नहीं है, व्यंग्य, खीझ और आकुलता का है जिसमें ठण्डा विद्रोह है। मेरी समझ में काव्य के लिए 'विद्रोह' जैसा भारी भरकम शब्द अपेक्षित भी नहीं है। यदि कवि को इस शब्द से मोह रहा ही हो तो उसकी समर्थता कम से कम इन कविताओं से सिद्ध नहीं होती है।

'अक्षरों का विद्रोह' संकलन में मुझे आचार्यजी की 'उजागर क्षणों' की कविताएँ यानी छोटी कविताएँ ही पसन्द आईं। इनमें गहराई है, सामान्य कथ्य को अनुभव की पीठ पर खड़ा कर विशिष्ट बनाकर कहने की प्रवृत्ति है और इन सबके ऊपर वे इनमें अपने परिवेश के प्रति ज्यादा सक्रिय हैं। कवि का विद्रोह उस परिवेश या वर्ग के प्रति ज्यादा सक्रिय है। कवि का विद्रोह उस परिवेश या वर्ग के प्रति ज्यादा उभरा है जो योजनाओं का विश्वासी, आतंकवादी और कृत्रिम जिन्दगी जी रहा है। उनकी घुटन या परेशानी का कारण यही परिवेश है और यही उनके विद्रोह का केन्द्र बिन्दु भी। 'दो प्रतिक्रियाएँ' और 'प्रजातंत्र का गीत' ऐसी ही कविताएँ हैं जिनमें एक में करुणा और व्यंग्य साथ-साथ चले हैं और दूसरी में केवल व्यंग्य जो राजनैतिक स्तर पर किया जाने से कहीं अधिक गहरा है। आज समाज में सर्वत्र विरूपता और कृत्रिमता, स्वार्थी व ईर्ष्यालु शोषक और दंभियों का राज्य है। कवि इससे क्षुब्ध है। उसके क्षुब्ध और सशंकित मानस की अभिव्यक्ति कई कविताओं में मिलती है।

सीधी और सरल जिन्दगी में दरार पड़ती जा रही है। सर्वत्र खण्डित आदर्श, राख का ढेर बनी अभिलाषाएँ और अस्वीकार के बोझ से दबी मानव जाति जैसे-तैसे दिन बिता रही है। कवि की संवेदना में आकर यही जिन्दगी 'टूटन का गीत', 'विद्रूपता' 'विवशता' और 'खण्डित आदर्शों का गीत' बनकर फूट पड़ी है। 'ईमानदारी, प्रणय गीत', 'नये वर्ष पर', 'चाँदनी रात में गाँव', 'समय की गतिशीलता', 'जिन्दा मुर्दे' और 'वह संध्या' कविताएँ बहुत रुचीं। वस्तुतः कवि में प्रभाव डालने की क्षमता है। 'एक्यूरेसी' उसमें है। वे पाठकों को भुलावा नहीं देते हैं। सही शब्दों के प्रयोग से अभिव्यक्तिगत संयम का आ जाना स्वाभाविक है। यह संयम अपने यथार्थ परिवेश को जैसा देख पाया

है वैसा ही कविता में बाँध सका है। 'बँधाव' छोटी कविताओं में है, तभी तो उनका कथ्य और शिल्प मन को गहरे तक छूता है।

जयसिंह नीरज

नीरज का नाम भी नयी कविता से जुड़ा हुआ है। उनके दो संग्रह: 'नील जल सोई परछाइयाँ' और 'दुखान्त समारोह' मेरे सामने हैं। 'नील-जल सोई परछाइयाँ' एक गीतकार का प्रयोगवादी संग्रह है। इसमें रोमानी संस्पर्श भरपूर है : रूप, तृष्णा, ललक और एक दर्द—गहरा दर्द कविताओं में लिपिबद्ध हुआ है। सौन्दर्य और प्रेमिल अनुभूतियों का परिदृश्य काफी दूर तक कविताओं में फैलता चला गया है। बावजूद तमाम रोमानियत के इस संग्रह की कविताओं में प्रयोगवाद की प्रारम्भिक भूमिका है। इस भूमिका पर ही कवि ने महसूस किया है कि सारे संदर्भ—सारा निजी परिवेश उसमें अनास्था कुण्ठा और अहं को भरता जा रहा है जैसे सब कुछ उसके लिए चुनौती बन गया है। इस चुनौती को वह अपने अहं के साथ स्वीकार करता है। वह लघुता से आक्रान्त है और इसी क्रम में वह समाज से जुड़ता है—कटता है। इस जुड़ाव-कटाव में वह घुटता है। घुटन का घेराव बढ़ने पर फिर उसे तोड़ने का प्रयास भी करता है। 'नीरज' ने सामाजिक बंदिशों को तोड़कर मुक्ति की ओर भी चरण-निक्षेप किया है :

आखिर यह बंदिश क्यों ?
मै अपने आँसू पी न सकूँ
अपनी चाहत पर भी जी न सकूँ
हर-बार हर घड़ी

मुक्ति का यह प्रयास ही नीरज की सम्भावनाओं का दरवाजा खटखटाता है। फलतः वह सारी विषमता और दमघोंट स्थितियों से संघर्ष करते हुए टूटन का अनुभव करता है। 'नीरज' की यह अनुभूति प्रयोगवाद का प्रारम्भिक संकट है। इस तरह सारे संग्रह के दो छोर हैं : एक कवि की रोमांटिक भूमिका का और दूसरा समाज में अपनी स्थिति की अस्तित्वपरक माँग का। अस्तित्व की माँग से सम्बद्ध कविताओं में तोड़-फोड़ की वृत्ति अधिक है। वह रोमांटिक भावबोध से जुड़कर भी कभी कभार जीवन की विकृत स्थितियों पर हल्के व्यंग्य भी करता है :

हम सब शुतुरमुर्ग
धोखे में बसते हैं रेत में सर देकर
रक्षित समझते हैं बहुत, पर कुछ नहीं करते····

यह व्यंग्य एक स्थिति के प्रति है : मानव-स्थिति के प्रति । इस संग्रह की भाषा रोमानी संदर्भों से जुड़ी हुई है । उसके शब्द बिम्ब बहुत उठाते है । उनमें एक ओर सौन्दर्य के गठे हुए बिम्ब हैं तो दूसरी ओर 'अमलतासी यौवन' का उभार भी खूब है ।

दुखान्त समारोह

दूसरा संग्रह है जो एक अर्थ में पहले से आगे की यात्रा है । यों यहाँ भी कवि आखिरी कविताओं में रोमानी भाव-बोध से जुड़ा हुआ है । 'शोभा यात्रा' का परिवेश कमलवन, शहनाइयों की गूँज और 'रात के सन्नाटे को चीर कर सुगन्ध के सागर में तैरती एक नाव में' वह बहता दिखाई देता है, कहीं 'मेरे दिल में जम गया है दर्द/गर्म शीशा फर्श पर बिखर कर/जम गया है मेरे दिल में'/गहराता दर्द है तो कहीं वह 'अमूर्त शक्लों में ढले दर्द को ढो रहा है; दर्द, प्यार और सौन्दर्यानुभूति के कतिपय अच्छे बिम्ब इन कविताओं में हैं । रंग और स्पर्श संवेद्य बिम्बों से युक्त यह 'शोभा-यात्रा' खण्ड कवि की सौन्दर्यानुभूति का परिचायक भी है और उसके निजी परिवेश का मधुर अहसास भी । सौन्दर्य के इन बिम्बों में कवि की हताशा की एक बूँद भी नहीं, वह किसी छायावादी कवि की तरह उल्लास और धूप वितरित करता है । सब तरह से धुले-पुँछे ये चित्र एक सादगी से सम्पन्न हैं । यहाँ न तो अप्रस्तुतों की भीड़ है और न रूपकों का सहारा लेकर एक व्यर्थ का बोझ बढ़ाया गया है । सब कुछ पानी पर हवा की तरह तैरता हुआ संवेदना को स्फूर्ति प्रदान करता है । एक बिम्ब देखिये :

फेनिल लहरों में फुफकारता समुद्र
धरती तक लटक गया है आसमान
नतशिर खडे हैं गुम्बदाकार
त्रिशूली मकान
भागता हुआ सूर्य मुँह छिपाये पड़ा है ।

संग्रह के पहले खण्ड की कविताओं में यथार्थ का एक व्यापक परिदृश्य है । इसमें समाज की विसंगतियों, जिन्दगी की बेबसी, अकुलाहट और भटकते मानव-समाज का एक परिवेश है । कवि की ये कविताएँ उसकी नई पहचान की भूमिका प्रस्तुत करती हैं । उल्लेखनीय बात यह है कि कवि ने निर्मम वास्तविकताओं को देखा है और उन्हें एक सहज शिल्प में बाँधकर प्रस्तुत किया है । अधिकांश कविताओं में जिन्दगी में निरन्तर भरते जाते अन्तहीन अधकार का सदर्भ है, जो कहीं-कहीं भयावह भी हो गया है । 'भागमभाग' हल्की रचना

है। इसमें कहीं-कहीं शब्द प्रयोग भी बेतुके हैं : 'सत्यान्वेषी बहाव के बोध में' यहाँ बोध शब्द अटपटा लगता है। इसी तरह 'चील और कौओं की भीड़ फिलहाल आकाश में उड़ रही है'/में यदि 'फिलहाल' न भी होता तो भी फिलहाल अर्थ-बोध में कोई कमी नहीं आती। बात ज्यों की त्यों थी, अनुभूति ज्यों की त्यों संश्लिष्ट बनी रहती। 'फिलहाल' का जोड़ बिम्ब को आघात पहुँचा रहा है। अंधकार युगबोध यात्रा, दिनमान और दुखान्त समारोह काफी सफल रचनाएँ हैं—केवल कविताएँ नहीं हैं। इनमें जिन्दगी का अंधकार, यान्त्रिक जीवन, सामाजिक व्यवस्थाहीनता और राजनैतिक परिवेश की लिजलिजी स्थितियों के संकेतक चित्र हैं। कही-कहीं जीवनव्यापी ऊब्र भूख और प्यास के प्रश्नों से सिर पटकती भीड़, जड़ता, रिक्तता, अपने स्थान के लिए की गई साजिशें, सड़क नापती जिन्दगी और अंधकार में खोये सवेरे को टोहती मानवीय स्थिति के संदर्भ हैं, पारस्परिकता को दो टुकड़ों में बाँटती जीवन-पद्धति के चक्रान्त है। कवि ने परिवेश के एक बड़े हिस्से को कविता में समेट लिया है।

आपत्तिजनक बात यह है कि कवि ने 'अंधकार' शब्द का दुरुपयोग किया है। यह ठीक है कि इसका प्रतीकार्थ आज की स्थिति का वाहक है, किन्तु अंधकार का प्रयोग जरूरत से ज्यादा होने से कविताओं में उसकी स्थिति बिना पैसे घसीट कर अर्थ-कार्य करने का भाव व्यक्त करती है। शब्दों की स्थिति वाध्यता से लिपटकर अर्थ खो बैठती है। कहीं कहीं 'अंधकार' से कांशस होने पर कवि ने उसके पर्याय को भी ग्रहण किया है : 'अंधकार ने सब रंगों को बाँध लिया है काले किट में', 'आकारहीन अंधकार' 'रूपहीन अंधकार, अंधकार ही अंधकार' और कहीं अँधेरे में, अन्धी दिशा, अँधेरे में फुसफुसाते लोग, अँधेरे में आत्मरति, अँधेरे में नेता, अंधेरे में भटकती पीढ़ी, अंधे कुए में जनता लगाती है जयहिन्दी नारे और अंधकार को वेधती चुप्पी आदि कितने ही प्रयोगों में अंधकार की खपत ज्यादा है। यह ठीक है कि आज हम सभी अंधकार में दौड़ लगा रहे हैं (कवि भी) किन्तु इस शब्द का प्रतीकार्थ के रूप इतना प्रयोग अतिप्रयोग का ही उदाहरण है। नया कवि तो शब्दों को नया अर्थ देता है और अपने आस-पास चक्कर काटते शब्दों में प्रतीकत्व भरता हुआ आगे बढ़ता है। सम्भावनाशील कवि को इस 'मेनरिज्म' से बचना चाहिए। 'शोभा यात्रा' की स्थिति विपरीत है। वहाँ कमनवन हैं, संगमरमरी ताल है, झूलती हुई किरणें हैं, सुगन्धि का सागर है और सोनल धूप का उल्लास है। यों यहाँ भी कवि अँधेरे में सुगन्धित स्पर्श महसूस करता है।

संग्रह में वर्तमान मानव-स्थिति के कई चित्र बड़े साफ हैं। निरीह और असहाय स्थिति के व्यंजक कई संदर्भ वडे सटीक है। उनमें कहीं 'कठपुतली के धागों से बँधी है जनता' तो कहीं क्रास पर लटकी दिग्भ्रान्त भीड़' है और कहीं :

१. भिनभिनाता टिड्डियों का दल
कुण्ठित, अनिश्चित
जिन्दगी ढोता हुआ

खोखली और अस्तित्वहीन जिन्दगी का अहसास कराने वाली ये पंक्तियाँ—

२. सुवह सफेद सूरज के कपड़े पहन
भव्य लगने लगता है समाज
भीड़ में भी अकेलापन
घुन की तरह वेवता है
हम जैसे कहीं है ही नहीं
ब्रहन्नला बनकर, जी रहा है अधिकांश शहर
हर आदमी का पेट, जानवरों की कब्रगाह बनता जा
रहा है।

३. वाहर नहीं है गति
आफिस से घर और घर से आफिस
सड़क नापती है जिन्दगी
एक दिन चलते-चलते ही
बुढ़ा जाती है।

४. पहियों पर भागती हुई भीड़ में से
एक इन्सान खोज लिया गया है
वह थके बैल सा पटरी पर
गिनता है साँसें
ऊपर से गुजर जाती हैं
अनेक घोड़े और गधों की टापें

इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि के साक्षात्कृत चित्र गहरे और संवेदनापूर्ण है। 'दुखान्त समारोह' में आये विविध कोणीय संदर्भ समूची पीढ़ी की विवशता, हताशा, अकेलेपन के वोझ और उबाऊ जिन्दगी के बोलते चित्र हैं। लम्बी कविता में भी स्खलन का आभास नहीं है। नीरज ने वड़े सधे कदमों से

तेईस वर्षीय दुखान्त समारोह का तिलमिला देने वाला इतिहास ही नहीं, भूगोल भी प्रस्तुत किया है और यह प्रस्तुतीकरण सहज शैली में हुआ है। भटकाव और बहक कहीं नहीं है। कहीं-कहीं 'सजेस्टिविटी' बड़ी तेज और सटीक है : 'ट्रक, बस, स्कूटर धुँआ पादते हुए भागते हैं :' 'इन्सान प्याज की झिल्लियों सा/कतर ब्योंत कर छितरा दिया जाता है, घिर्री की तरह चक्कर काट रहा है/ यह शरीर/आदि। असल में संग्रह के सहारे कवि अभिधा से व्यंजना के समीप आया है और इसी समीपता में कविता अच्छी हो गई है। यों कहीं-कहीं लक्ष्मीकांत वर्मा की 'एक्वीरियम में पड़ी हुई मछलियाँ, एक दूसरे की मूँछे नोंचती हुई, बेखटके चली आई हैं। प्राय ऐसा होता है कि कवि की अवेचतना में रसे-बसे कितने ही शब्द एक झटके के साथ कविता की पंक्तियों में आ जमते हैं। उस वक्त यह सवाल अहम् नहीं होता कि यह शब्द चला हुआ सिक्का है या उधार का माल। अनुभूति का वेग इतने प्रवाह से गूँथता है कि 'पेट पर झुकी जनता (के कवि-प्रतिनिधि) की आँखें नहीं देख पाती हैं खुला आकाश।' खैर यह सही है कि नीरज की कविता की वही में जो जिल्द लगी हुई है वह ताजा है और उसमें लिपिबद्ध अनुभूतियाँ प्रभावित करती हैं, एक अक्स छोड़ती हैं। तमाम संघर्ष और आपाधापी को जीता हुआ कवि निराश नहीं है। यही वजह है उसका दुखांत समारोह सुखान्त की ओर बढ़ने का साहसिक कदम है। समूचे अधकार को लीलता हुआ भी कवि एक प्रकाश किरण के लिए बैचेन है। यही वह संदर्भ है जो उसकी रचना को मूल्यों से जोड़ता है : 'बस करो ! बस करो !! सीलबंद पेटियाँ हो नहीं सकते हैं अदना लोग।"

विश्वम्भर उपाध्याय

हिन्दी आलोचना में आकस्मिक रूप से आए अन्तर्विरोध और गति-रोध को तोड़ने का साहसिक कार्य करने वालों में विश्वम्भर उपाध्याय का नाम काफी ऊँचा है। वे एक सही चिन्तक और चिन्तक से भी ज्यादा सम-कालीन साहित्य के भीतर जमते जाते ऊल-जलूल संदर्भों का पर्दाफाश करने वाले हिम्मतवर विश्लेषक हैं। इधर उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखी हैं। कल्पना जून १६७१ में प्रकाशित उनकी चार कविताएँ : 'कशमकश', 'मुठभेड़', 'आदमखोर' और शून्य समकालीन दमघोंट स्थितियों और उनमें पड असहाय आदमी की दबी चीख को तेज तर्राट शब्दावली में व्यक्त करती हैं। 'शून्य कविता वर्तमान सन्नाटे और समूची रिक्तता जिसपर कुछ' तहजी-बिया दाग' हैं को उघाड़ती है। मुखौटों' के भीतर छिपे नकली चेहरों की

असलियत की 'पोल खोल बुलेटिन' का एक बरखा उलटती है। कविता छोटी है, पर उसकी व्यजना बहु आयामी है। जब कवि 'अब क्या है ?' के बाद लिखता है : 'सिगरेट के बेहया-टुकडे / इत्र में बेसुध रूमाल..../ सब एक सचेतन मेहतर की झाड़ू के शिकार' तो वह सारी कृत्रिम स्थितियों पर एक साथ चोट करता है। यह चोट रचनात्मक है। इसमें एक चिन्तक और सर्जक की साझेदारी है। कशकमश' में बाहर-भीतर के खिचाव और दर्द को सहलाते हुए एक चुप्पी के साथ सहते जाने की विवशता केवल इतनी सी पंक्तियों में ही अभिव्यक्ति हो गई है पर उससे क्या ? बात इतनी सी है/मैं खिचता हूँ। यह मेरी भौगोलिक नियति व शायराना सनक नहीं है/यह तो बस खींच है जो बस है।' उपाध्याय जी की कशमकश और तनाव का कारण सामाजिक प्रणालियों की भ्रष्टता और अर्थ हीनता से सम्बद्ध है। यही वजह है कि ऊपर से मीठी और भीतर से गंदी यह व्यवस्था परिवेश में कहीं पास ही बहती नालियों से और भी बेबुनियाद हो गई है। आदमी इसे सहने और भोगने के बाद यही कह सकता है कि मैं तमतमाए चेहरों की फसल का खाद हूँ, इन दोनों कविताओं में रचना का गुण है। अभिव्यक्ति की प्रसन्नता इनकी कविताओं में मिलती है। सजेस्टिवटी और घनात्मक प्रभाव इन दोनों कविताओं में हैं। 'मुठभेड़' एक भड़भड़िया कविता है। इसमें मानव-नियति का एक साक्षात्कार है। इसमें कोई शक नहीं कि यह एक तीखी प्रतिक्रिया है और तमाम टूटन और कुतरन के बाद की चिंचियाती अभिव्यक्ति है, किन्तु सही है, एक ऐसी बही है जिसकी जिल्द साबुत, पर सफे नुचे हुए। यों ये नुचे हुए सफे और उनकी लिखावट अपनी तमाम 'चटकन' के बाद भी साहसिक है क्योंकि : 'निमिष भर को भी शत्रु का व्यूह अस्तव्यस्त कर देना मामूली–उपलब्धि नहीं है'। यह एक स्वाभिमानी और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लड़ते आदमी की साजिश नहीं, खोज है—टूटे सींगों और चटखी हड्डियों को' फिर जोड़ सँवारकर अस्तित्व की खोज की भूमिका है। एक साहसिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त इसमें रचना का गुण कम और प्रतिक्रियात्मक अंश ज्यादा है। फलतः औरों की तुलना में हल्की कविता है। ऐसी ही कविता 'आदमखोर है' जो एक तेज आक्रोश के खोल में लिपटी हुई है। शैली में इतना खतरनाक आक्रोश है कि वह कविता के तत्व को ही दबोच देता है। यह ठीक है कि आज आक्रोश की कविता लिखी जा रही है, पर आक्रोश ही कविता नहीं है। यह कथ्य सही और अनुभूति तीखी है जो परिवेश की समूची तल्खी को एक

साथ चाट जाने के गुण से पैनी हो गई है, किन्तु शैली में इतना गुस्सा और चिल्लाहट है कि एक यथार्थ परिदृश्य उभरते-उभरते रह गया है। यह कविता आज की मानव स्थिति को अभिव्यक्त करती है। इसमें एक अस्तित्व की एक दूसरे मोटे अस्तित्व और उसकी स्थापित व्यवस्था के मुखोटों की शल्य क्रिया है और जरूर है, किन्तु यह शल्य-क्रिया इतनी तेज और अतिरेक युक्त है कि उससे कविता ऊँचाई पर पहुँचते-पहुँचते रह गई है या यों कहें कि वह ऊँचाई और निचाई के बीच में भूलती भर रह गई है। डॉ उपाध्याय जिस वक्तव्यबाजी की आलोचना औरों की कविताओं में करते हैं, वह यहाँ भी मौजूद है। फर्क यही है कि वक्तव्य यहाँ आक्रोशी शब्दों की भीड में एकदम पकड़ में नहीं आते। कुछेक स्थलों पर शब्द-प्रयोग में व्यंजना भी उभरी है और उससे एक साथ ही मानव-स्थिति के संवेद्य बिम्ब भी उभरे हैं :

तुम्हारा वजूद ?
वह तो उसी दिन नकटा होगया था
जिस दिन तुमने मान लिया था कि तुम सिर्फ लिफाफे हो,
जिसपर थूक से टिकिट चिपकाकर कहीं भी भेजा जा सकता है
तुममें अब सिवा गोस्त के क्रुन्द टुकड़ों के और रह ही क्या गया है।
या अधिकतर लोग पिचक रहे है, मगर तुम फूलते जा रहे हो।
या तुम घिस्सों को घेवर बनाकर जीम जाने में—
निपुण होगए हो।

ये ही कुछ बिम्ब हैं जहाँ कथ्य व्यंग्यात्मक होने से कविता की सृष्टि करता है। लगता है कवि अपनी प्रतिक्रिया में सध नहीं पाया और आक्रोश में भी जिस संतुलन की (कविता के दौरान) आवश्यकता होती है वह खूँखार शब्दों और संदर्भों की भीड़ में सुरक्षित नहीं रह सका। नतीजा यह कि एक निर्मम और क्रूर वास्तविकता से लैस कथ्य भी बहक का शिकार हो गया, कविता कविता न रहकर डस्टबिन' में पड़ी चन्द कतरनों का ढेर बनकर रह गई।

नद चतुर्वेदी में भी नयी कविता का स्वर काफी गहरा और तीखा है। वे बिन्दु के सम्पादक भी है। उनकी कविताएँ अनुभूति और शिल्प की मिली जुली तसवीरें हैं। वे जिन्दगी की बहुकोशीय स्थितियों के चितेरे हैं,

उनकी चिंतना हमेशा उनके साथ रहती है। जीवन, मृत्यु, समाज, राजनीति और अस्तित्व की खोज उनकी कविताओं में हैं। वे सब कुछ को सहते हुए एक खोज के कवि हैं। उनकी यदि प्रारम्भिक कविताओं को छोड़ दिया जाए तो कहा जा सकता है कि वे अब जिंदगी के काफी करीव आए हैं। कवि, अलिप्त चेहरे, भावहीन जिन्दगी और घातक संदर्भो में भी उस काली जल वाली नदी–वार-वार याद आयगी जिसकी रेत में आत्महत्या की छोटी सी चीख गढ़ी हुई है, कहता हुआ भी, एक आस्था एक जीवित विश्वास से युक्त है। मृत्यु शीर्षक कविता में :

वाह ईश्वर तव ये दोनों चेहरे अंधकार से फिर उठेंगे
मुझे प्रतीत होने लगा कि इन प्राणों में ईसा और मुनरों के
चेहरे विल्कुल एक से हैं निर्लिप्त, इच्छा शून्य, अगम्य

नन्दजी क्षण वोध की तीव्र अनुभूति से भी जुड़े हुए हैं और यहीं वे अस्तित्व की माँग भी करते हैं। वे अपने व्यक्तित्व के लिए केवल कुछ सार्थक क्षणों की कामना से युक्त हैं। एक दो क्षणों में ही जिन्दगी को नापने वाला कवि कहता है :

मुझको दो एक क्षण
जिसमें मैं भेंट सकूँ
जो कुछ मैं हूँ
उस सवसे।
आज वस इतना ही
शेप फिर, शेप फिर।

'शेष फिर शेष फिर' कहने वाला कवि शिल्प और भाव स्तर पर विश्लेषक नहीं है। हाँ, उसमें वेकार का आक्रोश और लिजलिजा संदर्भ नहीं है। वह साफ और सुथरी हुई अनुभूतियों का कवि है। अधिकतर एक गरिमा वोध उससे जुड़ा रहता है। इसी से अस्वीकृत और निषेध का स्वर कम है। इधर व्यंग्य का तीखापन उनकी रचनाओं में उभरा है। समाजवाद का पोषक यह कवि सामाजिक विसंगतियों और भ्रष्ट सदर्भो पर जमकर व्यंग्य करता है। व्यंग्य के दौरान वे कितनी स्थितियों को अपने में समेट लेते हैं। आदमी में आदमियत खोजने वाला यह कवि परिवेश से छूटकर अलग दिखती मानव नियति का एक दृश्य प्रस्तुत करता है। वह चारों ओर फैली नपुंसक साहसिकता को भी देखता है और धड़ाधड़ चलते खोटे सिक्कों को

भी। इन सबकी भीड़ में खोया आदमी और उसका चेहरा जिस तेजी से अनपहचान होता जा रहा है, उसका परिचय नन्द जी को है।

लेकिन मैंने कहा न
उन्हें भय है
तुम उन्हें आदमी नहीं रहने दोगे सिर्फ।

आज मानव-स्थिति कितनी बेपैंदे की है और उसका भविष्य कितना अनिश्चित और अनिर्दिष्ट है उसका एक संकेत यहाँ है :

ज्योतिषियों से भाग पूछने की जरूरत नहीं
एक उखड़े हुए समुद्र को मुट्ठियों में बाँधने वाले लोग
नजर बचाते हैं और छिपकलियों को बंदगी करते हैं।
सब ऋतुओं का सूर्य करीब-करीब एक सा है
नदियों का उद्गम और बहाव और अन्त मुझे
मालूम है।

समय के हर आम रास्ते पर भीड़में दर्द महसूस करने वाले सजग कवि नन्द को तमाम जड़ीभूत संदर्भों के भी अनास्था का कोई चिन्ह नहीं मिलता है। वह संभावनाकुल होकर सोचता है : मुझे अफसोस नहीं है खरा के पहिये पर बैठी/बीसवीं शती के लिये/इस पुराने और मुर्दार नाटयगृह में/बैठने की अपेक्षा/उस शहर से गुजरना बुरा नहीं है/ जिसकी कुछ सभावनायें हैं। 'प्रकाश आतुर' भी गीतकार थे। उन्होंने कुछेक अच्छे गीत लिखे। इधर वे नये काव्य की ओर भी आकर्षित हुए हैं, किन्तु उनमें भी प्रयोगवाद का प्रारम्भिक कथ्य ही है। निरन्तर जटिल होते परिवेश का अहसास बहुत हल्का और सतही है। कभी-कभार अच्छे व्यंग्य भी उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। यह व्यंग्य मनुष्य के बनावटीपन और दिखावटी संदर्भों पर अधिक हैं, किन्तु इस भूमिका पर कवि टिक नहीं सका है। नए बोध की कविताओं में भी रोमानी संदर्भ और आत्मघाती स्थितियाँ बराबर उनसे लगी हुई हैं। प्रकाश जैन भी गीतकार रहे हैं। पहले जो किशोर-भावुकता उनमें थी, वह अब परिवेश से जुड़ गई है। उनकी मूलचेतना का वृक्ष अवसाद और अतृप्त साधों का है, भले ही वे परिवेश से सम्पृक्त हों। अपवाद स्वरूप कतिपय कविताओं में प्रकाशजैन यथार्थ परिदृश्य को भी प्रस्तुत करते हैं। यही वजह है कि विवशता और करुण लाचारी की व्यंजक पंक्तियों में वे बड़े सहज हैं। भीतर ही भीतर दमघोटू स्थितियों का भोक्ता जब कहता है कि शब्दों के अर्थ ही नहीं,। रेखाएँ भी धुँधला गई हैं या :

भेड़ियों के झुण्ड के बीच छोड़ दिया गया हूँ अकेला
तोड़ दिया गया हूँ वेजुवान पाँखुरी की तरह

तो लाचारी की मनस्थिति अनारोपित भूमिका पर बड़ी सहज लगती है। तायल का कवि सहजता उन्हीं संदर्भों में प्रस्तुत कर सका है जहाँ वह रोमानी संस्कारों से जुड़ा हुआ है। जैसे ही वह इससे बाहर आता है कृत्रिम भाववोध और संवेदना से कटा हुआ शिल्प सामने आ जाता है। उनकी वे ही कवितायें अच्छी हैं जिनमें सौन्दर्यपरक दृष्टि है। रोमानी भाव–वोध की पंक्ति में खड़ा **'हथेलियों पर ब्रह्माण्ड : भागीरथभार्गव'** की कविताओं का संग्रह है। अनुभूतियाँ ज्यादातर गीतात्मक है। उनका टोन छायावादी है। वही वेदना का स्वर, वही एक करुण-सदर्भ और वही रोमानी भूमिका कविताओं में हैं, जो छायावाद में थी। पीड़ा का स्वर गहरा है। पीड़ादायक मनस्थितियों में कवि अधिक आवेग के साथ उभरा है। यों एकाध सदर्भ ऐसा भी है जहाँ कवि परिवेश के घेराव में कैद का अनुभव करते हुए उससे मुक्ति की इच्छा से जुड़ा हुआ है, किन्तु अभी वह कम साहसिक और घेरावों का ही कवि है। यही वजह है कि :

इसे भेदन का साहस जुटाने में मै स्वयं टूट जाता हूँ
और मुझे अपना गुहा-गृह ही अधिक प्रिय लगने लगता है।

समर्पण कविता में वह परिवेश तक अपनी 'पहुँच भर' को ही व्यक्त करता है। उसका साक्षात्कार अभी प्रसव-पीड़ा को झेल रहा है। परिवेश की दूषित संक्रामक स्थिति उसके मानस में हलचल पैदा करती है, उससे जुड़कर कोई ठोस बात कहने की भूमिका भी अभी तैयार नहीं हुई है। 'तीन छोटी कविताए' बहुत हल्की हैं। उनमें कोई ठोस सदर्भ नहीं है। 'हथेलियों पर ब्रह्माण्ड' और मैं कहाँ? कविताएं बहुत अच्छी हैं। इनमें कवि की प्रश्नाकुलता परिवेश में अपनी, पहचनन के लिए व्यग्र है। यह व्यग्रता और 'और जहाँ सब कुछ है' नहीं हूँ सिर्फ मैं का वोध भी हल्की जागरूकता को ही संकेतित करता है। 'तनिक ठहरो' और आह्वान तुम्हारा से कवि की आस्था व्यक्त हुई है। कुल मिलाकर भार्गव रोमानी वोध के ही कवि हैं, किन्तु इसी भावभूमि पर कवि अच्छे बिम्बों की सृष्टि भी करता है :

किनारों पर खड़े वृक्षों की सनसनाहट
स्वच्छ जल में ऊपर उठ
खेलती मछलियों की छपछपाहट
वहुत मन को भरमाती है.....

अतः नये कवि आज जिस परिवेश को जी रहे हैं उस विन्दु से भागीरथ भार्गव की कविताएँ अप्रासगिक हैं। उनमें रोमानी बोध इतना गहरा है कि भविष्य के लिए कुछ भी यथार्थ-संभावना सँजोना कल्पनाभर होगा। इसी से जुड़ा हुआ करीब-करीब ऐसा ही बोध 'सुधागुप्ता' का 'अनचीन्हा परिवेश' प्रस्तुत करता है। सुधा जी का परिवेश नितान्त निजी और एक औरताना परिवेश है। उसमें एक ओर यादें हैं, क्षणों की मुस्कान हैं, मन के कोटर में सालता अकेलापन है, स्मृति-गंध है, भीतर की टूटन है जो दर्पण की टूटन से मिलकर गहराता दर्द बनी हुई है और नानी की कहानी के किसी जादुयी व्यक्तित्व वाले राजकुमार की प्रतीक्षा है तो दूसरी ओर गुलमुहर के गाछ हैं, धूप के टुकडे है, चाँदनी की स्निग्ध गरमाहट है, रात और दिन के प्रतीक्षाकुल व सम्मोहक संदर्भ हैं, श्वेतबादलों के टुकड़े है, ठंडी हवा का वहकता स्पर्श है। लकवे के मरीज सा सुन्न शहर है और खालीपन को भरता हुआ हवाओं का वेतहाशा शोर है। कुल मिलाकर 'अनचीन्हा परिवेश' कितना जाना हुआ परिवेश है। उसमें शुरू से अत तक प्रेम और सौन्दर्य का बहाव है, किशोर मन की भावाकुल तन्मयता है और प्रकृति का छायावादी संदर्भ है जो जहाँ-तहाँ नयी कविता के शिल्प में बँधा हुआ है। सामने फैले प्रश्न और उनसे जूझता परिवेश जो हमारे जीवन का अनिवार्य संदर्भ है, वह होगा किसी और के लिए किसी उसके लिए जिसने यादों को नहीं जिया, जिसने समर्पण की कीमत नहीं जानी या जिसने सबसे अलग-थलग एक मधुमास रचाया है, किन्तु सुधाजी उससे—उस बड़े संदर्भ से जिसमें भयावह स्थितियाँ हैं, विसंगतियाँ हैं या कृत्रिम जिन्दगी का एक प्रालेख है: काफी दूर हैं। उनके लिए दुनियाँ की या उस सब की कोई कीमत नहीं। आज के जटिल परिवेश और यथार्थ के विभिन्न स्तरों को कोई कैसे अनछुआ या अचीन्हा कर देता है इसका उदाहरण 'अनचीन्हा परिवेश' में है। सारे संग्रह में—नब्बे कविताओं के इस परिवेश में एक भी कविता का परिवेश वह नहीं जिसमें हम जी रहे हैं। इसी अर्थ में यह अचीन्हा परिवेश हो तो हो। कवयित्री के मानस में जो लहरें हैं उनमें प्रसार नहीं संकोच है, यथार्थ का साक्षात्कार नहीं, वरन् एक चिन्तित करने वाली उपेक्षा है।

हाँ बावजूद इस उपेक्षा के यह सही है कि उसमें जो है वह एक अनुभूत सदर्भ है, सहज और आत्मीय भी, किन्तु आज जब कि जिन्दगी एक 'क्रास' पर लटकी हुई हो और हर आदमी की गर्दन विसगतियों के फंदे में झूल रही हो तब उसका हल्का अहसास भी यदि किसी रचनाकार को न हो तो उसे

कल्पनाजीवी, अतीतजीवी और निहायत गैर जिम्मेदार ही कहा जायेगा। जब प्रेम एक प्रश्न हो और सौन्दर्य में असौन्दर्य को खोजता मानव जिन्दगी के तीन बटे चार हिस्से को अनेक प्रश्नों से जोड़ रहा हो तो फिर यह गैर जिम्मेदारी और भी सालती है। कविता हर स्थिति में परिवेशबद्ध होकर ही साँसें गिन सकती है, उससे टूटकर उसकी ईमानदारी पर शक भी किया जा सकता है। अब वह युग नहीं और वे मूल्य नहीं जो सबसे अलग रहकर किसी कोने में बैठकर जिये जा सकें। हमारे सामने कितने ही दुराहे, तिराहे और चौराहे हैं, किन्तु उनसे फूटता रास्ता कहीं नहीं और यदि वह कभी दीखे भी तो चौराहा या तिराहा ही गायब हो जाता है और फिर जिस झटके से हम वहाँ से हटते हैं तभी हमारे मुड़ने की दिशा में फिर वही झंझट हों तब कविता उनसे अलग रहकर अपनी बाँसुरी छेड़े तो धक्का लगता है। सुधा की कविताएँ ऐसा ही धक्का देती हैं। असल में वे बंद 'ड्राइंग रूम' में कोने में रखी किसी 'टेबुल' पर सिर धुनती मुद्रा में लिखी गई कविताएँ हैं या उसी कमरे की किसी खुली रह गई खिड़की से आती हवा, धूप, चाँदनी, रात्रि या किसी फूल की बहती गंध की कविताएँ हैं। उनमें सौन्दर्य तो है, पीड़ा तो है, समर्पण तो है, किन्तु यह सब दीन-दुनियाँ से एक दम कटा हुआ। यह एकांत बोध की निजी दुनियाँ समर्पण, आह्वान, एक सम्मोहन, आना व जाना, नेह का विखा, विभिन्न मनः स्थितियाँ, मुझसे अलग कोई, बेगानापन, मन हिरनी, सिर्फ क्षण भर के लिए और वह कौन है आदि कई कविताओं में पूरी भावुकता के साथ छायावादी शिल्प में उभरी है। प्रकृति का संदर्भ भी यहाँ काफी गहरा है : धूप, दिन, सूरज चाँदनी और संध्या के बिम्ब काफी अच्छे हैं। उनमें संश्लिष्टता है, पर वे मानव स्थिति से कहीं नहीं जुड़ते। वे छायावादी संदर्भों का पुनर्लेखन भर प्रतीत होते हैं। प्रकृति-बिम्बों की दृष्टि से एक क्षण, रात, दिन, आश्रय, वसन्त प्रतिक्रिया जैसी छोटी कविताओं में बँधाव है, बिम्बोद्भावन की क्षमता है : एक उदाहरण काफी होगा :

सिर पर पीली पाग बाँधे
बादल भेड़ों को हाँकता
मस्ती से गाता धीरे-धीरे
गुजर रहा है वसन्त गडरिया
मेरे पास से।

या

पीले लिफाफे में बंद दिन को
साँझ पढ़कर फाड़ देती है।

यों उनके बिम्बों में विकृति और बिखराव भी है। एक स्थान पर 'आकाश' को वधू बताकर उसके गले में चाँद का 'पेन्डेन्ट' लटका दिया है और एक दूसरी जगह "भूखा आकाश/जंगली शेर सा/चिंघाडने लगा है", 'चिंघाडने' का प्रयोग विकृति का कारण बना है। अपवाद स्वरूप एकाध जगह मानव की कृत्रिमता, सामाजिक छल या जीवन की विरूपताओं का शाब्दिक उल्लेखभर है या सिर्फ इतना :

सड़ी गली मान्यताओं के, ठूँठ को
जड़ से काट डालो + + + +
आज की, सफेद बतखों वाली सभ्यता
खा रही है। सड़ी हुई मछलियाँ

कि यहाँ एक सतही कथन भर उभरा है। भाषा आत्मीय है, सहज है, किन्तु रोमानी शब्दों का सरोवर बनकर रह गई है। शैली शुरू से आखिरतक एक रस प्रेम के संदर्भ से उत्पन्न दर्द की जड़ता की सूचक!

भारतरत्न भार्गव :

भार्गव की कविताएँ जो पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं, अधिकांश में जीवन की छटपटाहट दमतोड़ असंगतियों और स्थापित व्यवस्था के प्रति तीखा आक्रोश है। यों आक्रोश युवा कवियों की एक शैली ही बन गई है, पर भारत भार्गव में वह औरों से कुछ विशिष्ट है, संतुलित है। उनकी कविताओं में 'गलाफाड़ चिल्लाहट' नहीं है, वरन् एक अनुभूत सत्य की संजीदा अभिव्यक्ति है। वे व्यंग्य भी करते हैं तो उसमें 'झपट्टामार शैली' न होकर एक काव्यात्मक व्यंजना होती है। जीवन को कई कोणों से या कहें कि हर कोण से देखने वाले भार्गव शब्दाडम्बर और उस शैल्पिक तिलिस्म से दूर हैं जो कवि के कथ्य को भी भटकने के लिए छोड़ देता है। उदाहरणस्वरूप अक्तूबर ६८ ज्ञानोदय में छपी 'संक्रमण काल की प्रार्थना' इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है। इसमें कथ्य और शिल्प का संयोजन बहुत अच्छा है। संक्रमणकाल से गुजरती मानव-पीढ़ी का सही परिदृश्य कविता में है। मानव-सम्बन्धों की औपचारिकता और अपने-अपने दायरे बँधी स्थिति को रेखांकित करती हुई कविता ढेर की ढेर लिखी जाने वाली कविताओं में काफी सहज और संवेद्य है :

तुम और मैं और वे
या तो मिल कर शीश कटे घड़ों वाली भीड़ बन जाते हैं
या फिर गले मिलकर भी रह जाते हैं एक दूसरे से अपरिचित!
लगता है—

कब्रगाह के इर्द-गिर्द घास-फूस
तेजी से उग रही है
और घुटने लगी है आत्मा———

इसी तरह 'क्यों नहीं ??' शीर्षक कविता में परिवेश के विकृत और विवश संदर्भ मिलकर जिस भूमिका को तैयार करते हैं वह आज के परिवेश की वह भीतरी पर्त है जिस पर दैहिक आग, मृत प्राय चेतना और भुखमरी की लिखावट काफी तेज शब्दों में लिखी हुई है :

नींद की गोलियों और कान्ट्रासेप्टिव की जरूरत महसूस करती है
दैहिक आग/उगल नहीं पाता जर्जर वक्त हलक में अटका हुआ
कालाखून/खाँसती है/जूठी पत्तलों के ढेर में सिर/
छुपाने की कोशिश करती है भूख/जकड़ लाती है
आक्टोपस का गिरफ्त/वाहर छटपटाता है लहूलुहान घड़....

इधर **कृष्ण बिहारी सहल** ने भी 'अहं और आत्मबोध' के माध्यम से अपना परिचय दिया है। २६ कविताओं का यह संग्रह युवा पीढ़ी के आक्रोश और अहं की शैली में अपनी पहचान लेकर आया है। समाज व्यापी—असंगति और निरर्थकता के प्रति कवि की दृष्टि अभी उग रही है, उसमें परिवेश के प्रति गहरी पकड़ नहीं है। अभी तो वह भूख और भोग जैसी स्थितियों से जूझते हुए कोई हल खोज रहा है। कहानीकार कृष्ण बिहारी की आत्मरति और उससे सम्बद्ध अहमबोध को कवि सहल में भी देखा जा सकता है। प्रयोगवाद में पहले-पहल जिस झल्लाहट और 'फ्रस्ट्रेशन' को कतिपय प्रतीकों से आकार मिला था, वही स्थिति यहाँ है शायद आत्मसाक्षात्कार के क्षणों में। इसीलिए उसकी कलम से जो लिखा गया है, वह काफी साहसिक और वेपर्द है। निम्नांकित उद्धरण में पहली दो पंक्तियाँ जितनी सहज और विश्वसनीय हैं आखिर की दो पंक्तियाँ उतनी ही कमजोर और अहंग्रस्त व्यक्तित्व की सूचक हैं :

जितना जो कुछ/मैंने अकेले जिया है भोगा है
और लिखा है
उसे कोई और न जियेगा
न भोगेगा और न पढ़े

संग्रह की कुछ अच्छी कविताओं में त्रिशंकु और मैं, ह्यूमैनिज्म, प्रतीक्षा, कंकाल और 'फार्मेशन' अच्छी हैं, परिवेश की सीमितता और शैलीगत बिखराव तो संग्रह की काफी कविताओं में है। असल में सहल अपने आस पास बिखरे शब्दों को उठा तो लेते हैं, किन्तु कविता में बिठाने से पहले वे उन्हें तौलते नहीं; शब्द की क्षमता का अनुमान लगाये बिना रख देते है। यही वजह है कि कविता एकदम सीधी व गद्याक्रान्त हो जाती है। बँधाव और अन्विति के अभाव में उसका 'कन्टेन्ट' भी दबा सा रह जाता है। 'मंत्रद्रष्टा' कविता में आये बिखराव का भी यही सबब है। बावजूद इस सबके यह निर्विवाद है कि कृष्ण बिहारी में अनुभूतियों का ताप है, मुक्त संदर्भो को पकड़ने वाली कल्पना है, किन्तु सही शब्दों की तलाश अभी बाकी है। साथ ही बाकी है उस परिवेश से सीधा साक्षात्कार जिसके लिये कवि ने अभी यही संकेत दिया है :

"मेरा एकांत/कोलाहल से आपूरित है
मेरी साधना असंख्य मनुष्यों से भरे
नगरों, गाँवों, कस्बों, मिलों फैक्ट्रियों
और मानवी जंगलों में अनुस्यूत है।

कृष्णबिहारी के साथ ही केदार शर्मा की **'शीर्षक की खोज'** कृति एक सीमित और बहुत कुछ उनके निजी परिवेश की ही देन है। इसकी अधिकांश कविताएँ उस काल की हैं जब वे नवलगढ़ में थे। वहाँ का अध्यापकीय परिवेश और अनेक चिन्तनाओं में उलझा मस्तिष्क यहाँ हैं। कुछेक ऐसी भी हैं जिनमें कवि का मीठा आक्रोश है या तमाम आक्रोश को पी लेने के बाद की विवश स्थितियों की अवश अभिव्यक्ति है।' उनमें सहजता है, सीधे मर्म को छूने की शक्ति हैं : तपता रेगिस्तान, देश मेरा, गर्मी का एक दिन, सांध्यचित्र एक व्यक्ति परिचय और चोर १,२,३। 'तपता रेगिस्तान' में तपन है और बादल के ऊपर से यों ही चुपचाप गुजर जाने की स्थिति का अहसास है। 'देश मेरा' में प्रजापंत्रीय प्रणाली में जीवित झुकी कमर वाले व्यक्ति के खड़े होने में ही निरंतर टूटते जाने का बिम्ब अच्छा है। वह एक शब्द में टूटे देश का एक ग्राफ है। 'गर्मी का एक दिन' में एक जड़ स्थिति की सफल अभिव्यक्ति में कवि का चिन्तक भी आकर मिल गया है। फलतः कविता का अन्तिम छंद यों सामने आता है :

नदी : पिघली हुई रेख चाँदी की
तट-पात्र में
धरती : तप रही थी
जैसे धैर्य !

केदार की कलम बिम्ब अधिक उठाती हैं और यही वजह है कि कई कविताओं में संश्लिष्ट बिम्ब पूरी अन्विति और औचित्यपूर्ण शैली में उभरे हैं : सांध्यचित्र, विलोम अनुभूतियाँ, तब लगा मुझको, एक व्यक्ति परिचय और जिन्दगी का अर्थ कविताएँ अपनी तमाम चिन्तना के बावजूद अच्छे बिम्बों में बँधीं हुई हैं। 'चोर' शीर्षक से लिखी गई तीनों कविताओं में ताजी अनुभूतियाँ हैं और उन्हीं में कहीं छिपी हुई मध्यवर्गीय भूख और कमजोर स्थिति भी है जिसकी ओर कवि ने संकेत किया है और इसकी शैली कुछ यों है : 'है चारों तरफ शोर/मुझे भी लगता है डर/आनजाए चोर/मेरे यार/कुछ रुपये तो दो उधार/अगर चोर आया तो/कुछ भी नहीं है मेरे घर/'या—

चोरी के लिए मजबूर/आया घर/हँसेगा चोर/
मेरी अमीरी पर/कहीं उसकी हँसी/मुझको लग न जाये/
और मैं मजबूर अपमानित डाकू की तरह
उसके उतार लूँ न कपड़े/उसे नंगा कर न दूँ.......

वर्तमान परिवेश की मजबूरियों और भुखमरी की स्थितियों की व्यंजक ये पंक्तियाँ सरल और सपाट होकर भी कितनी चुभती हुई हैं, यह देखने की चीज है। केदार की कविताओं में दर्द की गहराई है, साक्षात्कृत संदर्भों की सही पकड़ है और जिन्दगी की दीमक-चाटी उस किताब के कई खोखले पृष्ठ हैं जिन पर आज के इन्सान की मजबूरियाँ काली के बजाय लाल स्याही से लिखी गई हैं। 'मन और ओठों के बीच', आदमीयत की पहचान और आदमी कमजोर क्यों व जिन्दगी का स्वयंवर व जिन्दगी का अर्थ जैसी कविताओं में यह लिखावट साफ है। कवि जिन्दगी की व्यर्थताओं पर दृष्टि-पात करता हुआ भी उसे व्यर्थ नहीं मानता क्योंकि उसे एक विश्वास है और वह अकेला विश्वास इतना भारी है कि सारी व्यर्थता एक सार्थकता में बदल जाती है :

घुलती बर्फ/जैसे टाट में लिपटी,
ऐसी जिन्दगी का अर्थ क्या है ?
किन्तु ऐसी जिन्दगी से भी
अगर कोई गीत, कविता, कला जन्मे
तो ऐसी जिन्दगी भी व्यर्थ क्या है ?

जिन्दगी की व्यर्थता में ही सार्थकता खोजने का विश्वासी कवि यदि यह भी कहे तो उसकी सच्चाई पर विश्वास करना पड़ता है :

दर्द को भोगने का सुख अकेले में
और सुख को
भोगने का दुख अकेले में
तुमने किया अनुभव अगर हो
तो मन की तराजू पर इन्हें तोलो........

सैनिक की पाती कवि के नाम और 'अच्छा तो' शीर्षक कविताओं में सत्य का उद्घाटन है, वे यथार्थ के दंशक संदर्भो से रची गई हैं। पहली में समाचार, भाषण व कतिपय सुन-सुन कर जाने तथ्यों के आधार पर प्रतिक्रियात्मक कविता लिखने वालों पर तीखा व्यंग्य है और दूसरी में समाज के घाघ और गद्दीनसीन सत्ताधारियों के नैतिक मूल्यों की थोथी स्थिति का हिम्मतवर शैली में अंकन हुआ है। व्यग्य यहाँ भी चुटीला है। केदार का शिल्प सादगीपूर्ण है, उसमें बनावट नहीं बुनावट है। 'शीर्षक की खोज' में मानव की खोज है और उस धरातल की खोज है जिसमें जिन्दगी का अर्थ जिन्दगी है। आज कविता जिस भीड़ भड़क्का में खोती जा रही है, उसकी एक समावनाकुल पहचान इन कविताओं में है। यही वजह है कि कवि का निजी परिवेश भी एकदम निजी नहीं है, उसमें आस-पास का काफी हिस्सा है। यों वह रचनाक्षण का सकट भी झेल रहा है और यह सकट बोध भावी कवि का ही नहीं सशक्त भावी शिल्पी का भी संकेतक है :

मैंने कब कहा है, जो अभी कहूँगा
अरे मैंने तो सहा है, अब भी सहूँगा
किन्तु मेरी सहन को, अभिव्यक्ति दे पाती नहीं तेरी कहन,

एकदम नयी पीढी में कुछ और भी ऐसे कवि हैं जिनका सर्जक सजग है और परिवेश के प्रति पूरी प्रतिबद्धता महसूस करता है। मुझे गर्व है अनेक युवा विद्यार्थी नयी कविता को आगे बढ़ाने में संलग्न है : हेमन्त शेष, मजुल उपाध्याय और नदलाल शर्मा ऐसे ही नाम हैं। इसमें हेमन्त शेष काफी सजग शिल्पी और यथार्थ परिदृश्य का वाहक कवि है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छपी हैं। कुछेक ऐसी हैं जो अभी भी उनकी डायरी में बंद हैं। मुझे खुशी है कि उनकी डायरी में बंद सभी कविताएँ मेरे टेबुल पर आकर खुल गयी है। मैं सारी कविताओं को पूरी गम्भीरता से पढ़ गया हूँ और विस्मय और अह्लाद का मिला-जुला भाव मेरे भीतर की रिक्तता को भर गया है। उल्लेखनीय कविताओं में 'एक निहायत व्यक्तिगत स्मृति, बुझते हुए ठण्डे सपनों के नगे अन्त, अपनी शवयात्रा से लौटते हुए, बसंत से पहले

और एक विरोध प्रसंग के समाप्त होने पर कविताएँ मुझे बहुत भायी है। इनमें जो संदर्भ हैं, वे आधुनिक बोध को तो छूते ही हैं, उसकी अभिव्यक्ति भी बड़ी सशक्त और कलात्मक है। बिखराव और वक्तव्यों से दूर हेमन्त शेष की कविताएँ पूरे परिवेश को अपने में समेटती हैं। यही वजह है कि उनमें साजिश नहीं, कोई लयबद्ध खुराफात नहीं वरन् साक्षात्कार के बाद की वेपर्द अभिव्यक्ति है :

शब्दों ने अपने अर्थ बदल लिए हैं
उखड़े हुए संदर्भो का सिलसिला
'अ' से 'ज्ञ' तक बदल गया है/फर्क यही है अब,
कि मुखौटों में अपना चेहरा छिपाये हुए थोड़े से लोग
बहुत सारे लोगों पर हँसने लगे है।
....

तुम्हारी यह असफल वापिसी सिर्फ तुम्हारे अकेले की ही नही
मेरी अपनी भी वापिसी है
और जब रोटी की तलाश में नंगे फुटपाथ पर भूख से
बिलबिलाते हुए दम तोड़ देने का अर्थ प्रजातन्त्र है
तो इसमें क्या कर सकते हैं हम ?

नंदलाल शर्मा का परिवेश इतना चौड़ा नहीं जितना हेमन्तशेष का। असल में नन्दलाल शर्मा के भीतर अनुभूतियाँ कसमसा रहीं हैं, सारी प्रक्रिया एक जिद्दी लड़की की तरह भीतर ही भीतर रचती जा रही है—ज्यादातर चुपचाप। अभिव्यक्ति अभी उसे नहीं मिली है और यदि मिली भी है तो वह कुछ ही कदम चल सकी है। यों उनकी कविताओं में राजस्थानी परिवेश है, प्रकृति के उदयास्त हैं. निस्सीम रेगिस्तान है या धूल फाँकती जिन्दगी का एक वृत्त है, पर (यह 'पर' ही तो बड़ा पर लगा देता है) उसमें भोगा हुआ या साक्षात्कृत संदर्भ या तो है ही नहीं, यदि उसका संकेत कहीं है भी तो वह सही अभिव्यक्ति के अभाव में खुल नहीं पाया। उनकी 'धूल और वह, 'कहीं गहरे में' और 'प्रतीक्षित सवेरा' अच्छी बन पड़ी हैं और इन्हीं में कवि है। शेष में वह गायब है। 'मंजुल' में परिवेश को समेटने की धुन है। वह ज्यादातर संदर्भो को बटोरता है, पर मिला नहीं पाता—जोड़ नहीं पाता एक को दूसरे से। 'टेपा सुल्तान' में पैवन्द अधिक हैं, बंदिश कम है। 'प्लेडेक' अच्छी कविता है। उसमें रितियाती जिन्दगी में भी एक अहसास बोध है और वह काफी साफ है। 'हम' में ही प्रकाशित लम्बी कविता भी उसी स्थिति की सूचक

है जिसकी टेपा सुल्तान, फर्क सिर्फ संदर्भ का है। शैली वही है ज्यादातर ढीली, सायास लिखे गये गद्य की तरह, शब्दों की अर्थहीनता काफी है फिर भी दो बातें साफ हैं—एक यह कि वह अभी शुरू कर रहा है और दूसरी यह कि शुरुआत बुरी नहीं। मंजुल को चाहिए कि वह अर्थहीन आडम्बर, अनावश्यक विस्तार और शब्दों के बेमेल प्रयोगों से बचे। ऐसा करके ही वह आगे अच्छी कविताएँ दे सकेगा। 'वसन्त वसु' की कविताएँ काफी सतही हैं, वे प्रतिक्रियात्मक और आरोपित एवं आयातित स्थितियों से भरी हुई हैं। उनमें सपाट एवं अकाव्यात्मक कथन काफी हैं। हालाँकि मैंने उनकी कुछ ही कविताएँ—खासकर वे जो पिछले दिनों 'सबल-राष्ट्र' में छपती रही हैं, ही देखी है। कुछ दूसरी कविताएँ जो मुझे मिली नहीं उनके विषय में चुप रह कर ही अपनी विवशता को पोसने के अलावा और कर ही क्या सकता हूँ।

◆◆